आधुनिक भारत

कक्षा 12 के लिए इतिहास की पाठ्यपुस्तक

सतीश चंद्र मित्तल



राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण
मार्च 2003
फाल्गुन 1924

PD 150T MK

ISBN 81-7450-184-3

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस श्री अरविंद मार्ग नई दिल्ली 110 016	108, 100 फीट रोड, होस्डेकेरे हेली एक्सटेंशन बनाशंकरी III इस्टेज बैंगलूर 560 085	नवजीवन ट्रस्ट भवन डाकघर नवजीवन अहमदाबाद 380 014	सी.डब्लू.सी. कैंपस निकट : धनकल बस स्टॉप पनिहटी, कोलकाता 700 114

प्रकाशन सहयोग

संपादन : मीरा कांत
उत्पादन : अतुल सक्सेना

सज्जा एवं आवरण

कल्याण बैनर्जी

रु 45.00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटर मार्क 70 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित ।

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110016 द्वारा प्रकाशित तथा यूनिक प्रेस प्राइवेट लिमिटेड ए-37 सेक्टर 4, नोएडा - 201301 द्वारा मुद्रित।

प्राक्कथन

उच्चतर माध्यमिक स्तर तक आते-आते विद्यार्थियों के व्यक्तित्व में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो जाते हैं। वे किशोरावस्था से युवावस्था में पदार्पण करते हैं और सीधी-सादी बालसुलभ जिज्ञासाओं से आगे बढ़कर तर्कों एवं विवेक के आधार पर सत्य का अन्वेषण करने लगते हैं। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् द्वारा विकसित 'विद्यालयी शिक्षा की राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-2000' में इन परिवर्तनों तथा उनके अनुरूप विद्यार्थियों की शैक्षिक आवश्यकताओं की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। तदनुरूप, देशव्यापी विचार-विमर्श के पश्चात सभी विषयों के पाठ्यक्रम और प्रत्येक विषय के लिए उपयुक्त पाठ्यपुस्तकों का निर्माण परिषद् ने किया है।

पाठ्यपुस्तक निर्माण की इस प्रक्रिया में इतिहास पर समुचित ध्यान दिया गया है, क्योंकि अतीत, चाहे वह सुदूर अतीत हो या कुछ ही समय पहले का घटनाक्रम, राष्ट्र के वर्तमान और भविष्य से जुड़ा होता है। अध्ययन की नई तकनीकों, नई खोजों और दृष्टिकोणों से इतिहास का पूरा स्वरूप प्रभावित होता है।

'आधुनिक भारत' बारहवीं कक्षा में इतिहास की पहली पुस्तक है, जो सेमेस्टर प्रणाली के अंतर्गत उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में तीसरे सेमेस्टर में अध्ययन के लिए निर्धारित है। भारत में साम्राज्यवाद का स्वरूप तथा भारतीय समाज में उसकी प्रतिक्रिया, स्वतंत्रता के लिए संघर्ष तथा स्वातंत्र्योत्तर भारत के निर्माण से संबद्ध विवरण इस पुस्तक की विषय-वस्तु है।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् इस पुस्तक की रचना के लिए विद्वान लेखक एवं पुस्तक निर्माण तथा उसे अंतिम रूप देने की प्रक्रिया से जुड़े सभी विषय विशेषज्ञों और शिक्षकों के प्रति आभार व्यक्त करती है।

परिषद् शिक्षाविदों, शिक्षकों तथा विद्यार्थियों के सुझावों का स्वागत करेगी, जिससे पुस्तक की गुणवत्ता और उपादेयता को बढ़ाया जा सके।

जगमोहन सिंह राजपूत
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली
मार्च 2003

भूमिका

इतिहास एक अखंड काल प्रवाह है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें परिवर्तन के बावजूद निरंतरता बनी रहती है। इतिहास में नवीन तथ्यों तथा खोजों के आधार पर लगातार संशोधन तथा परिवर्तन की आवश्यकता होती है।

सामान्य रूप से 1761 के बाद के वर्तमान युग को भारत का आधुनिक काल कहा जाता है। भारत में मुगल शासन के ह्रास के बाद कोई भी राजनीतिक शक्ति स्थायी तथा विस्तृत राज्य की स्थापना न कर सकी। वास्को-डि-गामा के भारत में प्रवेश से यूरोपीय घुसपैठ का दौर प्रारंभ हुआ। यूरोपियों ने भारत का न केवल आर्थिक शोषण किया, बल्कि उसे राजनीतिक पराभव, सामाजिक विघटन तथा सांस्कृतिक ह्रास की ओर भी धकेला। विशेषकर अंग्रेजों ने यहां के साहित्य, जीवन-मूल्यों तथा इतिहास को विकृत किया। उन्होंने अपनी नवीन शिक्षण-व्यवस्था से भारतीय चिंतन तथा जीवन-शैली को भी प्रभावित किया।

भारतीयों ने इस पराभव को चुपचाप सहन नहीं किया। विभिन्न क्षेत्रों में इसका व्यापक प्रतिरोध तथा प्रतिक्रिया हुई। 1857 का विद्रोह इसी प्रतिरोध का एक समुच्चय स्वरूप था। राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानंद, महर्षि अरविंद, स्वामी दयानंद, लोकमान्य तिलक एवं महात्मा गांधी जैसे भारतीय युग-पुरुषों ने इस विरोध और प्रतिरोध को आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक धरातल प्रदान किया। क्रांतिकारियों की एक विस्तृत शृंखला ने भी इसी भाव को सतत जाग्रत रखा। विविध कारणों के परिणामस्वरूप भारत में आधुनिक राष्ट्रीयता तथा राजनीतिक ऐक्य का बोध हुआ। हमारे स्वतंत्रता संघर्ष में विभिन्न वर्गों, समुदायों तथा जातियों ने भाग लेकर और अपने प्राणों की आहुति देकर देश को स्वतंत्र कराया।

प्रस्तुत पाठ्यपुस्तक में ऐतिहासिक घटनाओं तथा कालक्रमों की जांच-पड़ताल विश्व तथा भारत के संदर्भ में तथ्यों के आधार पर की गई है। विषय का विश्लेषण करते समय समूचे भारत का संतुलित समावेश किया गया है। इतना ही नहीं, 1857 के विद्रोह का समग्र भारत के परिप्रेक्ष्य में अवलोकन का प्रयास भी यहां है। युवा पीढ़ी को देश की आज़ादी के लिए किए गए विभिन्न प्रयत्नों से अवगत कराने हेतु देश की स्वतंत्रता के लिए विभिन्न वर्गों, समुदायों, संप्रदायों के संघर्ष तथा योगदान का विवेचन इस पुस्तक में है। आशा है विद्यार्थियों को इस संक्षिप्त विवेचन से अतीत की घटनाओं, वर्तमान की नवीन समस्याओं तथा भविष्य की योजनाओं को ऐतिहासिक दृष्टि से समझने, उनका मूल्यांकन करने तथा भारत के सामाजिक, आर्थिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन-मूल्यों को जानने में सहायता मिलेगी।

प्रस्तुत पुस्तक के लिए लेखक अनेक विद्वानों, लेखकों तथा इतिहासकारों का ऋणी है, जिनके ग्रंथों के अधययन से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस कार्य में सहायता मिली।

आशा है विद्यार्थी और अध्यापक इस पुस्तक का स्वागत करेंगे।

सतीश चंद्र मित्तल

भारत का संविधान

भाग 4क

नागरिकों के मूल कर्तव्य

अनुच्छेद 51क

मूल कर्तव्य – भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह -

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करें,

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे,

(ग) भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे,

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे,

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो महिलाओं के सम्मान के विरुद्ध हों,

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे,

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे,

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे,

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे, और

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊंचाइयों को छू सके।

पांडुलिपि समीक्षा कार्यगोष्ठी के सदस्य

सतीश चंद्र मित्तल
अवकाशप्राप्त प्रोफ़ेसर, इतिहास विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र, हरियाणा

आर.एस. अग्रवाल
प्रोफ़ेसर, इतिहास विभाग
चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय
मेरठ, उत्तर प्रदेश

जी. खुराना
प्रोफ़ेसर, इतिहास विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र, हरियाणा

जे.पी. मिश्रा
अवकाशप्राप्त प्रोफ़ेसर एवं विभागाध्यक्ष
इतिहास विभाग
बनारस हिंदू विश्वविद्यालय
वाराणसी, उत्तर प्रदेश

यूथिका मिश्रा
वरिष्ठ प्रवक्ता, इतिहास विभाग
विवेकानंद महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

ब्रजनारायण झा
वरिष्ठ प्रवक्ता, इतिहास विभाग
राजकीय महाविद्यालय
बोमडिला, अरुणाचल प्रदेश

जगदीश भारतीय
अवकाशप्राप्त उप-प्राचार्य
कामर्शियल सीनियर सेकेंडरी विद्यालय
दरियागंज, नई दिल्ली

वीना व्यास
पी.जी.टी., इतिहास
डी.एम. स्कूल, क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान
श्यामला हिल्स
भोपाल, मध्य प्रदेश

सुमिता गर्ग
वरिष्ठ अध्यापिका, इतिहास
एमिटी अंतर्राष्ट्रीय विद्यालय
नोएडा, उत्तर प्रदेश

आर. विजया
डी.टी.एस.ए. वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय
सेक्टर-4, आर.के. पुरम, नई दिल्ली

महेंद्र सिंह
पी.जी.टी., इतिहास
जवाहर नवोदय विद्यालय, गौरीगंज
सुल्तानपुर, उत्तर प्रदेश

डी.एस. यादव
पी.जी.टी., इतिहास
जवाहर नवोदय विद्यालय
जाफ़रपुर कलां, नई दिल्ली

नीति व्यास
पी.जी.टी., इतिहास
राजकीय महाराणा प्रताप उच्चतर महाविद्यालय
जहांगीराबाद
भोपाल, मध्य प्रदेश

एन.सी.ई.आर.टी. के सदस्य
सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग

सीमा शुक्ला
प्रवक्ता

रीतू सिंह
प्रवक्ता

प्रत्यूष कुमार मंडल (**समन्वयक**)
प्रवाचक

गांधी जी का जंतर

तुम्हें एक जंतर देता हूँ। जब भी तुम्हें संदेह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आज़माओ :

जो सबसे गरीब और कमज़ोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शक्ल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुँचेगा? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा? यानी क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा, जिनके पेट भूखे हैं और आत्मा अतृप्त है?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा संदेह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।

मो॰ क॰ गांधी

विषय-सूची

1
अध्याय

अट्ठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत

राजनीतिक स्थिति

18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत की राजनीतिक दशा अत्यधिक कमज़ोर और पतनोन्मुख थी। 1707 में मुगल सम्राट औरंगज़ेब की मृत्यु के साथ ही मुगल साम्राज्य का पतन तेज़ी से होने लगा था। चारों ओर राजनीतिक अराजकता की स्थिति व्याप्त होने लगी थी। मुगल उत्तराधिकारी प्रायः कमज़ोर, सत्ता-लोलुप एवं विलासी थे। दिल्ली दरबार ईरानी, तूरानी, भारतीय – कई गुटों में बंटा था, जो परस्पर ईर्ष्या, द्वेष और राजनीतिक षड्यंत्रों में लगे रहते थे। यहां तक कि 18वीं शताब्दी के प्रारंभ में, 1719 में एक ही वर्ष में फर्रुखसियर, रफ़ी-उद्-दरजात, रफ़ी-उद्-दौला और मुहम्मद शाह – चार शासक बदले थे।

केंद्र की दुर्बलता का लाभ उठाकर विभिन्न प्रांतों के शासनाधिकारी, सूबेदार, निज़ाम–एक के बाद एक तेज़ी से स्वतंत्र होते जा रहे थे। उन्होंने केंद्र को कर देना बंद कर दिया। वे राजनीतिक जोड़-तोड़, षड्यंत्रों और ध्वंसात्मक कार्यवाहियों में लगे रहते थे। वे भी प्रायः विलासिता और व्यक्तिगत स्वार्थों में लिप्त रहते थे। उत्तर से दक्षिण तक अनेक नवाबों ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर, सत्ता और सीमा विस्तार के लिए संघर्ष प्रारंभ कर दिए। उत्तर भारत में अवध, रुहेलखंड और राजस्थान में कई स्वतंत्र राज्यों का निर्माण हो रहा था। दक्कन में हैदराबाद का निज़ाम, महाराष्ट्र में मराठे, मैसूर में हैदर अली और कर्नाटक व केरल में स्वतंत्र राज्यों का प्रादुर्भाव हो रहा था।

देश में व्याप्त इस राजनीतिक अराजकता, अशांति और अव्यवस्था से भारत के अड़ोस-पड़ोस के शासक भी बेखबर न थे। आंतरिक कठिनाइयों और विषमताओं का लाभ उठाकर भारत के उत्तर-पश्चिम का शासक भारत की ओर अपनी कुदृष्टि लगाए बैठा था। 1739 में नादिर शाह ने भारत पर आक्रमण करके यहां भयंकर लूट और नृशंस हत्याकांड किया। 1747 से अहमद शाह अब्दाली के भारत पर निरंतर हमले प्रारंभ हो गए। वह प्रायः अचानक हमला करता, लूटमार और हत्याकांड करके वापस चला जाता।

इस समय विभिन्न यूरोपीय शक्तियां – पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज़ अपना-अपना वर्चस्व और

प्रभुत्व स्थापित करने के लिए हाथ-पांव मार रही थीं। मुख्यत: अंग्रेज़ और फ्रांसीसी अपने-अपने आधिपत्य के लिए परस्पर प्रतिद्वंद्विता में लीन थे। यूरोप और भारत में उनका टकराव हो रहा था। ये विदेशी शक्तियां भारतीयों को परस्पर लड़ाकर अपने व्यापारिक विस्तार और राजनीतिक प्रभुत्व के लिए आतुर हो रही थीं।

वस्तुत: प्रशासन, कानून और व्यवस्था नाममात्र की रह गई थी। ब्रिटिश प्रशासक और लेखक सर अल्फ्रेड लायल ने 18वीं शताब्दी के मध्यकाल से ही मुगल साम्राज्य का पतन माना है। वे लिखते हैं-'बाहरी विदेशी आक्रमणों के होने से और आंतरिक विद्रोहों से पीड़ित होकर मुगल साम्राज्य समाप्त हो गया। यह एक ही धक्के में धराशायी हो गया और अपहरणकर्त्ताओं, सफल विद्रोहियों और सैनिक महत्त्वाकांक्षियों द्वारा छोटे-छोटे टुकड़ों में बांट दिया गया। इसका मुख्य दोष अत्यधिक केंद्रीकरण था जो निरंकुश सरकारों की विशिष्ट कमी है जो प्राय: नष्ट हो जाता है, जब भी व्यक्तिगत शक्ति दुर्बल हाथों में जाती है।'

अत: 18वीं शताब्दी के मध्यकाल का राजनीतिक दृश्य अत्यधिक निराशाजनक और अस्थिर था। राष्ट्रीयता का अभाव था। थोड़ा बहुत चिंतन था भी तो वह प्रांत तक अर्थात बंगालियों, सिक्खों, मराठों, राजूपतों तक ही सीमित था। राष्ट्रहित की दृष्टि न थी और राजनीतिक जागृति का पूर्ण अभाव था।

इस राजनीतिक स्थिति के बारे में प्रसिद्ध इतिहासकार एन.एस. बोस के शब्दों में कहा जा सकता है – 'वस्तुत: 18वीं शताब्दी, मुख्यत: इसका उत्तरार्ध, भारत के लंबे और घटनापूर्ण इतिहास का अंधकारतम युग था। यह काल पतन, विघटन के बादलों से घिरा हुआ युग था, जिसको कष्ट और निष्क्रियता की भावना ने ढंक दिया था।'

सामाजिक और धार्मिक स्थिति

18वीं शताब्दी में भारत की सामाजिक एवं धार्मिक अवस्था भी अत्यंत शोचनीय और अवनत थी। इस समय जहां यूरोप पुनर्जागरण और ज्ञानबोध के युग से गुज़र रहा था, वहां भारत में सामाजिक निष्क्रियता और जड़ता का दौर था। प्रेरणा, ज्ञान और साधनों के अभाव में भारतीय समाज का दृष्टिकोण और व्यवहार अत्यधिक संकुचित हो गया था।

अंधविश्वासों और अमानवीय रिवाजों ने सर्वत्र जड़ें जमा ली थीं। सामाजिक कठोरता और असंगत सामाजिक प्रथाएं 18वीं सदी के मध्य भारत की विशेषता बन गई थीं। ग्रामीण समाज छोटे दायरे में सिमटता हुआ नगरीय समाज से लगभग कट-सा गया था। धार्मिक जीवन के अत्यधिक रूढ़िग्रस्त हो जाने से स्थिति और भी विषम हो गई। अनेक सामाजिक कुप्रथाओं को शास्त्रोचित बताकर धार्मिक दृष्टि से मान्य बना दिया गया। उनके न मानने पर भावी असुरक्षा और अपशकुन का भाव दृढ़ कर दिया गया था। अनेक असहिष्णु और असंगत रीति-रिवाजों को धार्मिक मान्यता मिलने से उन्हें विधिसम्मत और गौरव की बात माना जाने लगा।

वस्तुत: भारतीय समाज अनेक कुरीतियों और कुप्रथाओं का जमावड़ा था और इनकी निरंतर वृद्धि हो रही थी। वर्ण-व्यवस्था धार्मिक आडंबरों एवं प्रतिबंधों के फलस्वरूप निरंतर कठोर होती हुई अपनी चरम सीमा पर पहुंच रही थी। जातियां अनेक उपजातियों में बंटी हुई थीं, जिनकी संख्या दो हज़ार से भी अधिक थी। इस काल में कोई प्रगतिशील आंदोलन न होने से इसने भारतीय समाज को अनेक वर्गों में विभक्त कर दिया, जिससे सामाजिक एकता नष्ट हो रही थी। जाति एक अलगाव और विभाजन का महत्त्वपूर्ण तत्त्व बन गई थी। व्यक्तिगत योग्यता एवं क्षमता होते हुए भी किसी एक जाति का व्यक्ति न तो अन्य जाति का व्यवसाय अपना सकता था और न ही ऊंचा स्थान प्राप्त कर सकता था। उल्लंघन करने पर जाति से बहिष्कार हो जाता था। एक तरह से जाति-प्रथा की कठोरता समाज पर हावी हो गई थी। अस्पृश्यता का

प्रचलन वर्ण और जाति-प्रथा की कठोरता के फलस्वरूप हुआ था। उच्च वर्ण या जाति के लोग स्वयं को पवित्र एवं अपने से निम्न वर्ण या जाति के लोगों को अपवित्र समझकर उन्हें अस्पृश्य मानने लगे थे। इससे निम्न वर्ग में हीन भावना उत्पन्न हुई और उच्च वर्ग या जातियों के प्रति आक्रोश पैदा हुआ। इसके कारण अंग्रेज़ों के भारत आगमन के बाद ईसाई मिशनरियों ने भारतीय समाज की इस कमज़ोरी का लाभ उठाया। हिंदू समाज की इस जड़ता के कारण निम्न वर्ग पिछड़ गया।

18वीं शताब्दी में भारतीय समाज में स्त्रियों की दशा दयनीय एवं हीन थी, जिसका मुख्य कारण धार्मिक एवं सामाजिक प्रतिबंध थे। इन प्रतिबंधों के चलते इस काल में अनेक अमानवीय एवं असंगत प्रथाएं पराकाष्ठा पर पहुंच गई थीं। धार्मिक अंधविश्वासों के कारण अल्पायु में ही बालिकाओं का विवाह करना धर्म-सम्मत माना जाने लगा। इसके परिणामस्वरूप वे शिक्षा से वंचित, अस्वस्थ और असमय विधवा होने लगीं। विधवा-विवाह को मान्यता न मिलने के कारण विधवाओं का जीवन बड़ा कठोर और दूभर हो गया। सामाजिक एवं मांगलिक कार्यों में उनकी उपस्थिति अशुभ मानी जाने लगी। परिवार में उनकी अवहेलना और उपेक्षा की जाने लगी। इसी भांति सती जैसी क्रूर प्रथा स्वेच्छा के स्थान पर बलपूर्वक होने लगी और विधवा होते ही उन्हें सती होने के लिए विवश किया जाने लगा। बहुविवाह के द्वारा पुरुष को एक से अधिक विवाह की छूट थी। यद्यपि यह प्रथा सब जगह प्रचलित न थी। महिला पुरुष की व्यक्तिगत संपत्ति और विलास की सामग्री समझी जाने लगी। इस कुप्रथा के कारण अनेक बेमेल विवाह होने लगे, जिससे स्त्रियों का जीवन अत्यंत दयनीय हो गया। मध्य युग से प्रचलित पर्दा-प्रथा भी उत्तर भारत में बहुतायत में थी। यद्यपि ग्रामीण क्षेत्रों में कृषक परिवारों और नगरों में श्रमिकों की स्त्रियों में व दक्षिण भारत में यह प्रभावी नहीं थी, तथापि उच्च वर्गीय हिंदू या मुसलमानों में इसे प्रतिष्ठा का सूचक माना जाने लगा था। हिंदुओं की अनेक जातियों में कन्याओं के जन्म को दुर्भाग्यपूर्ण माना जाने लगा। अतः कन्या-वध जैसी अमानवीय एवं क्रूर प्रथाएं भी प्रचलित हुईं।

मद्रास और उड़ीसा में देवदासी-प्रथा प्रचलित थी। माता-पिता अपनी मनौतियों के आधार पर कन्या को मंदिर को सौंप देते थे, जो बड़ी होने पर मंदिर के समारोहों के अवसर पर नृत्य और गायन का प्रदर्शन करती थी। देवदासी किसी से विवाह नहीं कर सकती थी। अतः उसका बाद का जीवन कष्टमय हो जाता था।

18वीं शताब्दी में स्त्रियों की हीन दशा का कारण केवल धार्मिक एवं सामाजिक ही नहीं था, अपितु शिक्षा सुविधाओं का अभाव व आर्थिक निर्भरता भी था। पर्दा-प्रथा की कठोरता के कारण वे प्रायः शिक्षा से वंचित रहती थीं। हिंदुओं के मंदिर में व मुसलमानों के मस्जिद में प्रारंभिक शिक्षा के प्रबंध होते थे। पाठ्यक्रम भी रूढ़िवादी था, जिसमें धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन और गृहस्थ जीवन की व्यावहारिकता के अलावा अन्य कोई पाठ्यसामग्री न थी। इसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में स्त्रियां प्रायः पुरुषों पर निर्भर रहती थीं। उन्हें धन-संपत्ति पर स्वामित्व का अधिकार न था। अतः अज्ञान, अशिक्षा और आर्थिक दुर्दशा ने 18वीं शताब्दी की स्त्रियों को अंधकार और अस्थिरता के भंवर में फंसा दिया था।

परंतु इस प्रसंग में दो बातें ध्यान रखने योग्य हैं। प्रथम, अनेक यूरोपीय ईसाई मिशनरियों और लेखकों ने इस सामाजिक दशा हेतु भारतीयों को दोषी सिद्ध करने के लिए उनके सभी रीति-रिवाजों और व्यवहारों की अनुचित और असंतुलित आलोचना की है। इनमें मैकॉले, जेम्स मिल, किपलिंग एवं बाद में कैथेराइन मेयो आते हैं। वस्तुतः उनका चिंतन एकाकी एवं अधूरा था, जिसके अनुसार वे भारतीयों को 'सभ्य' बनाने आए थे। परंतु यदि तत्कालीन यूरोपीय समाज का अध्ययन करें तो पता चलता है कि यूरोप में भी महिलाओं की दशा अच्छी नहीं थी। मैकॉले ने भी

महिलाओं में व्याप्त अज्ञान और अशिक्षा को स्वीकार किया है। दूसरे, इतनी दुरावस्था होते हुए भी भारत परंपरागत सामाजिकता, नैतिकता से वंचित न था। भारतीयों का चरित्र एवं नैतिकता तत्कालीन यूरोपीय समाज से श्रेष्ठ थे। प्रसिद्ध इतिहासकारों पी. एन. चोपड़ा, बी. एन. पुरी और एम. एन. दास के इस निष्कर्ष में पर्याप्त सच्चाई है –'इसमें कोई संदेह नहीं कि धार्मिक अंधविश्वासों और अज्ञानतापूर्ण जीवन पद्धति ने 18वीं शताब्दी के भारत के इतिहास को एक अंधकारमय युग बना दिया था, फिर भी समाज उच्चकोटि की सामाजिक नैतिकता या सदाचार से विहीन नहीं था। लोगों की मानसिक चेतना या ज्ञानबोध का स्तर चाहे जो भी हो, किंतु सभी वर्गों के लोग परंपरागत नैतिकता के स्तरों में बराबरी बनाए हुए थे।'

आर्थिक स्थिति

देश की राजनीतिक दुरावस्था, समाज की पतनोन्मुख स्थिति के साथ आर्थिक व्यवस्था भी तहस-नहस हो रही थी। अलग-अलग प्रदेशों एवं राज्यों में कर-प्रणाली में एकरूपता न थी। कर प्राय: अत्यधिक थे व क्रूर तरीकों से वसूल किए जाते थे। कृषकों का जीवन प्राय: दूभर था। प्राकृतिक प्रकोप और अकाल के समय उन्हें यथोचित सहायता नहीं मिलती थी। ग्रामीण समुदायों की अवस्था निरंतर खराब होती जा रही थी। वे तब स्वावलंबी और स्वतंत्र न थे। बाहरी हस्तक्षेप बढ़ने लगे थे। परंपरागत हस्तकला उद्योग नष्ट हो रहे थे। अंग्रेज़ों ने तरह-तरह की व्यापारिक सुविधाएं प्राप्त कीं और आंतरिक असुरक्षा, स्वार्थ-भावना और परस्पर स्पर्धाओं ने देश की आर्थिक समृद्धि को नष्ट कर दिया। भारतीय जुलाहों, कारीगरों, कृषकों, मज़दूरों की हालत निराशाजनक और दयनीय हो गई थी। विदेशी कंपनियां अनेक वस्तुओं पर 100 गुणा से 200 गुणा तक लाभ कमा रही थीं। देश आर्थिक लूटेरों का स्वप्नलोक-सा बन गया था। ईस्ट इंडिया कंपनी अपने एकाधिकार को बनाए रखने के लिए ब्रिटेन के शासनाधिकारियों, यहां तक कि संसद सदस्यों तक को रिश्वत, घूस और बिना कर के धन के रूप में भारी रकम देती थी। प्रसिद्ध ब्रिटिश सांसद एडमंड बर्क ने ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन को विश्व के तब तक के अत्यधिक भ्रष्ट और निरंकुश शासनों में से एक माना है। अतः सामान्य व्यक्ति का जीवन दूभर हो गया था।

मुगल साम्राज्य का पतन

18वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में मुगल सम्राट औरंगज़ेब के बाद मुगल साम्राज्य का पतन एवं विघटन तीव्र गति से प्रारंभ हो गया था। शाह आलम द्वितीय (1759-1806) तक के काल में मुगल साम्राज्य की सीमा सिमट कर 'आलम से पालम' तक कही जाने लगी थी, अर्थात दिल्ली के लाल किले से दिल्ली के निकट पालम गांव तक। नाममात्र के लिए ही मुगल साम्राज्य 1857 तक चलता रहा। 1803 में अंग्रेज़ों ने दिल्ली पर भी अधिकार जमा लिया। भारत शीघ्र ही अनेक आंतरिक और बाहरी शक्तियों के प्रतिरोध का शिकार हो गया।

मुगल काल में वैसे तो गुटबाज़ी प्रारंभ से ही रही, परंतु औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद यह खुलकर सामने आई। इसका एक मुख्य कारण अयोग्य, विलासी और कमज़ोर मुगल उत्तराधिकारियों का होना था। अब राजदरबार में शक्तिशाली मनसबदार अपनी इच्छा के शासक बनाने के लिए लालायित रहने लगे और राजकुमारों को कठपुतलियों की भांति नचाने के प्रयास करने लगे। मुगल दरबार में बहुत से दल थे। मुगल दरबार में तूरानी, ईरानी, अफ़गानी और हिंदुस्तानी प्रमुख दल थे। इनमें पहले तीन मध्य एशिया, ईरान और अफ़गान सैनिकों से संबंधित थे, जिन्होंने कभी-न-कभी मुगल शासक को मज़बूत बनाने में सहायता की थी। तूरानी सुन्नी थे और मुगल शासकों के मूल स्थान से आए थे, अतः शासकों के प्रिय थे। ईरानी शिया थे। इनकी संख्या यद्यपि अधिक न थी, परंतु योग्यता और संस्कृति के कारण उच्च स्थानों पर

थे। इसके अतिरिक्त हिंदुस्तानी थे, जो भारत में बहुत पहले बस गए थे या हिंदुओं से मुसलमान बन गए थे। हिंदुस्तान में उत्पन्न मुसलमानों में सैयद बंधु भी थे, जिनके साथ अनेक राजपूत, जाट और ज़मींदार भी थे। तूरानी और ईरानी परस्पर लड़ते रहते थे, परंतु प्रायः वे दोनों ही हिंदुस्तानी गुट के विरुद्ध रहते थे। सभी दलों की मूल प्रेरणा स्वार्थ-भावना थी, उनका धर्म और जाति से संबंध न था। वे प्रायः मुगल सम्राटों और देशहित का ध्यान नहीं रखते थे।

जहांदार शाह वस्तुतः ईरानी दल के नेता जुल्फ़िकार खां के प्रभाव से सम्राट बना था। इसी भांति फर्रुखसियर सैयद बंधुओं की सहायता से शासक बना था और उनके ही षड्यंत्रों से हटा भी दिया गया था। इसी तरह सैयद बंधुओं के द्वारा 1719 में ही क्रमशः रफ़ी-उद्-दरजात, रफ़ी-उद्-दौला और मुहम्मद शाह शासक बने थे। सैयद बंधुओं के बढ़ते प्रभाव से तूरानी और ईरानी दलों के सरदार प्रायः कुपित रहते थे, जिसके परिणामस्वरूप षड्यंत्रों द्वारा उन्हें बाद में मार दिया गया।

मुगल शासकों में उत्तराधिकार के लिए युद्ध एक परंपरा बन गई थी। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद उसके तीनों पुत्रों मुहम्मद मुअज़्ज़म, मुहम्मद आज़िम और कामबख्श में गद्दी के लिए संघर्ष हुआ। इस समय औरंगज़ेब का प्रिय पुत्र कामबख्श बीजापुर में था, जिसने 'दीनपनाह' (मज़हब का रक्षक) की उपाधि धारण की और अपने समर्थकों को पद और उपाधियां दीं। मुअज़्ज़म काबुल में था, जो आगरा के शाही खज़ाने पर अधिकार करने के लिए बढ़ा और आज़िम दक्कन से चलकर ग्वालियर और वहां से धौलपुर पहुंचा था, ताकि मुअज़्ज़म से टक्कर ले सके। 18जून, 1707 को जाजौ (आमरा व धौलपुर के बीच) के संघर्ष में आज़िम पराजित हुआ। मुअज़्ज़म ने बहादुर शाह प्रथम के नाम से अपने को बादशाह घोषित किया। उसने हैदराबाद के निकट कामबख्श को 13जनवरी, 1709 में पराजित किया।

अपने शासनकाल (1707-1712) में बहादुर शाह प्रथम का संघर्ष सिक्खों, जाटों, मराठों और राजपूतों से हुआ। गुरु गोविंदसिंह की मृत्यु के पश्चात पंजाब में बंदा बहादुर के नेतृत्व में संघर्ष हुआ। उसने सरहिंद के गवर्नर वज़ीर खां को मार दिया व सतलुज और यमुना के बीच के क्षेत्रों पर सिक्ख आधिपत्य स्थापित किया। दिसंबर 1710 में लौहगढ़ पर बहादुर शाह प्रथम ने कब्ज़ा कर लिया, परंतु सिक्खों का संघर्ष चलता रहा और उन्होंने पुनः 1712 में लौहगढ़ वापस ले लिया। बहादुर शाह प्रथम का आगरा के निकट जाटों से संघर्ष हुआ। जाटों के विरुद्ध मेवाड़, मारवाड़ और अजमेर के शासकों ने एक गुट बनाया, पर सफलता न मिली। बाद में राजपूतों से बहादुर शाह प्रथम का तालमेल हो गया। इस समय मराठों में पुनः शक्ति के संचय के प्रयास चल रहे थे। बहादुर शाह प्रथम ने संभाजी के पुत्र साहू को, जो मुगलों की कैद में था, जेल से मुक्त कर दिया, परंतु उसने साहू को विधिवत उत्तराधिकारी न माना। राजाराम की पत्नी ताराबाई ने मराठों में उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर विवाद कर दिया। अतः इससे महाराष्ट्र में भी अशांति हो गई। बहादुर शाह प्रथम की शासकीय दक्षता में कमी और राजकोष की रिक्तता के कारण साम्राज्य की दशा दयनीय हो गई थी। अतः उसके ही शासनकाल में उसे 'शाहे बेखबर' के नाम से भी पुकारा जाने लगा था। 27फ़रवरी, 1712 को उसकी मृत्यु हुई।

जहांदार शाह ने अपने अल्प शासनकाल (मार्च 1712 से फ़रवरी 1713) में शासन को सुचारु रूप से चलाने के प्रयास किए। उसने जज़िया कर हटा दिया। उसने आमेर के जयसिंह को मिर्ज़ा राजा सवाई जयसिंह की पदवी दी और उसे मालवा का सूबेदार बनाया। मारवाड़ के राजा अजीतसिंह को 'महाराजा' की पदवी दी गई और गुजरात का सूबेदार बनाया गया। इतना ही नहीं जाट नेता चूरामन व छत्रसाल बुंदेला से भी उसने मैत्री की। साहू से भी संबंध ठीक करने चाहे और कुछ शर्तों पर दक्कन के चौथ व सरदेशमुखी के अधिकार दिए। परंतु सिक्खों के प्रति दमनकारी नीति चलती रही। उसने जागीरदारों की बढ़ती हुई शक्तियों को भी नियंत्रित करना चाहा। इससे मनसबदार वज़ीर के विरुद्ध हो गए और वे सम्राट के कान भरने लगे। परिणामस्वरूप सम्राट भी चापलूसों के साथ मिल गया और वज़ीर को हटा दिया। शीघ्र ही जहांदार शाह के भतीजे फर्रुखसियर ने सैयद बंधुओं की मदद से जहांदार शाह की हत्या करवा दी और स्वयं शासक बन गया।

फर्रुखसियर के शासनकाल (1713-1719) में सैयद बंधुओं—अब्दुल्ला खां और हुसैन अली खां का राजनीतिक दबदबा रहा। वे साम्राज्य निर्माता के रूप में जाने गए। वस्तुतः फर्रुखसियर के पिता अज़ीम-उस-शान के प्रभाव से ही वे दोनों क्रमशः इलाहाबाद और बिहार के नायब सूबेदार बने थे। फर्रुखसियर की माता के कहने पर ही उन्होंने फर्रुखसियर के लिए कार्य किए। अतः उन्हें पुरस्कृत किया गया और अब्दुल्ला खां को वज़ीर और हुसैन अली खां को मीरबख्शी जैसे महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया गया।

सैयद बंधुओं ने शासन को मज़बूत बनाने की कोशिश की। उनका संघर्ष राजपूतों, सिक्खों और जाटों से हुआ, किंतु राजपूतों की शक्ति का दमन न हुआ। हुसैन अली खां ने मारवाड़ के अजीतसिंह के खिलाफ युद्ध किया और उसे संधि के लिए मजबूर किया। बंदा बहादुर के नेतृत्व में सिक्खों का प्रभाव बढ़ रहा था। उन्होंने गुरुदासपुर के किले में अपनी सुरक्षा कर ली। दिसंबर 1715 में एक भारी संघर्ष के बाद मुगलों ने किले पर विजय प्राप्त की। इस विजय का चहुंमुखी प्रभाव कायम करने के लिए बंदा बहादुर और उसके सैकड़ों समर्थकों को लोहे के पिंजरों में कैद कर दिल्ली में घुमाया गया और बाद में मार दिया गया। चूरामन अब मुगलों के विरुद्ध हो गया था। उसके विद्रोह को दबाने के लिए सवाई राजा जयसिंह को भी भेजा गया, परंतु 1718 में दोनों में संधि हो गई।

फर्रुखसियर अयोग्य, कायर और विश्वासघाती शासक था। उसने सैयद बंधुओं के बढ़ते हुए प्रभाव को देखते हुए उन्हें ही रास्ते से हटाना चाहा, पर सैयद बंधु और धूर्तता में कम न थे। अतः उन्होंने फर्रुखसियर को ही अपमानजनक ढंग से मार दिया।

फर्रुखसियर के पश्चात सैयद बंधुओं ने दो राजकुमारों को गद्दी पर बिठाया। ये दो राजकुमार थे—रफ़ी-उद्-दरजात और रफ़ी-उद्-दौला। इनका शासनकाल बड़ा अल्पकालीन रहा और दोनों की तपेदिक से मृत्यु हो गई। सैयद बंधुओं ने अब मुहम्मद शाह को शासक बनाया, जिसने 1719 से 1748 तक शासन किया।

मुहम्मद शाह को सैयद बंधुओं ने शासक बनाया, परंतु सैयद बंधु विरोधी गुट के तूरानी अमीरों के गुट ने उनको ही मारने का षड्यंत्र किया। अक्तूबर 1720 में हुसैन अली खां का वध कर दिया गया और बड़े भाई अब्दुल्ला खां को भी नवंबर 1720 में बंदी बना लिया। 1722 में कारागार में ही उसको ज़हर देकर मार दिया गया।

मुहम्मद शाह भी एक अयोग्य, कायर और विलासी शासक था। उसे इतिहास में मुहम्मद शाह रंगीले के नाम से भी जाना जाता है। उसके शासनकाल में मुगल साम्राज्य का पतन तेज़ी से हुआ। एक-एक कर के भारत के विभिन्न प्रदेशों में अर्धस्वतंत्र राज्यों का उदय हुआ। दक्कन में निज़ाम-उल-मुल्क, अवध

में सआदत खां और बंगाल, बिहार और उड़ीसा प्रांतों में मुर्शिद कुली खां ने ऐसे ही राज्यों की स्थापना की। पेशवाओं के नेतृत्व में मराठों का विस्तार हुआ। इतना ही नहीं ईरान के सम्राट नादिर शाह ने 1739 में मुगलों की राजधानी दिल्ली पर आक्रमण कर भयंकर लूटमार और हत्याकांड किया।

मुहम्मद शाह की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र अहमद शाह शासक बना। वह लगभग 6 वर्ष (1748-1754) तक शासक रहा। उसके शासनकाल में मुगल साम्राज्य आंतरिक और बाहरी दोनों दृष्टियों से कमज़ोर हो गया। वह शासन के सर्वथा अयोग्य था और सर्वदा विलासिता में लिप्त और चापलूसों से घिरा रहता था। अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त होने से शाही कोष रिक्त हो गया था और सेना में शिथिलता आ गई थी। ज़मींदारों ने विद्रोह, दंगे और लूटमार प्रारंभ कर दिए थे। मुगल दरबार में तूरानी व ईरानी गुटों में संघर्ष बढ़ गया। ईरानी गुट का नेतृत्व सफ़दर जंग कर रहा था, जबकि तूरानी गुट का नेता इंतज़ियामुद्दीन था।

अहमद शाह के काल में अहमद शाह अब्दाली के अनेक आक्रमण हुए, जिसने दिल्ली साम्राज्य को अत्यंत कमज़ोर कर दिया था। 1754 में उसे उसके ही वज़ीर इमाद-उल-मुल्क ने गद्दी से हटाकर अंधा करवाकर मार दिया था।

अब जहांदार शाह के एक प्रपौत्र अज़ीज़ुद्दीन को आलमगीर द्वितीय (1754-1759) के नाम से शासक बनाया गया। इसके शासनकाल में मुगल साम्राज्य की हालत पहले से भी बद्तर हो गई। अब्दाली का आक्रमण-क्रम बढ़ गया। उसने पंजाब में अपना प्रभुत्व कायम कर लिया।

शाह आलम द्वितीय (1759-1806) और उसके उत्तराधिकारी केवल नाममात्र के मुगल सम्राट रह गए थे। उसके बाद अकबर शाह (1806-1837) और बहादुर शाह द्वितीय (1837-1857) शासक हुए। शाह आलम द्वितीय के काल में ही पानीपत की निर्णायक लड़ाई लड़ी गई। 1803 में दिल्ली अंग्रेज़ों के अधिकार में चली गई।

संक्षेप में, उपरोक्त राजनीतिक अस्थिरता और आंतरिक विरोध व बाहरी आक्रमणों की आशंका के साए में चारों ओर सत्ता हथियाने के प्रयत्न हो रहे थे। प्रायः सभी प्रांतीय शासनाधिकारी मुगल साम्राज्य के केंद्रीय शासन की दुर्बलता का लाभ उठाकर जहां राजदरबार में अपने-अपने हितैषियों की खोज कर रहे थे, वहीं वे अपनी-अपनी सत्ता के लिए आतुर थे। दिल्ली दरबार राजनीति का अखाड़ा बन गया और 1707-1759 तक एक-एक करके आठ शासक बदल चुके थे। यह राजनीतिक उथल-पुथल, युद्ध-प्रतियुद्ध और क्षणिक संधियों व समझौतों का काल रहा। निश्चित रूप से कौन शत्रु और कौन मित्र है, इसकी पहचान कठिन थी। ईस्ट इंडिया कंपनी भी अब चुपचाप नहीं बैठी थी। वह अपनी शक्ति का विस्तार कर रही थी और प्रांतीय तथा स्थानीय शासक उसकी बढ़ती शक्ति से अवगत थे। साथ ही भारत में इस समय मराठा शक्ति का तेज़ी से विकास हो रहा था और वे एक स्थाई शक्ति के रूप में स्थापित होने के लिए प्रयासरत थे तथा मुगलों का स्थान लेने का स्वप्न देख रहे थे।

पेशवाओं के अधीन मराठों का विस्तार

सत्ता संघर्ष में मराठे प्रमुख दावेदारों में थे। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मराठा शक्ति की स्थिति से पूर्व, उनका पहले का स्वरूप जानना आवश्यक है। औरंगज़ेब के देहांत के पश्चात शिवाजी के प्रपौत्र साहू को मुगल सम्राट बहादुर शाह प्रथम ने कारागार से मुक्त कर दिया था। उसने सतारा को अपने राज्य का केंद्र बनाया। राजाराम की पत्नी ताराबाई ने कोल्हापुर में अपने पुत्र शिवाजी द्वितीय को एक प्रतिद्वंद्वी शासक के रूप में बैठा दिया था। अतः साहू जी व ताराबाई के बीच गृहयुद्ध हुआ, जो 1714 तक चला तथा जिसने मराठा राज्य में दरार पैदा कर दी। साहू

18 वर्षों (1689-1707) तक मुगल जेल में रहा था। उसे शासन प्रबंध की व्यवस्था का समुचित ज्ञान न था, अतः शासन-प्रबंध की देखभाल पेशवा को सौंप दी गई थी।

मराठा राज्य एवं प्रभुत्व के विस्तार में पेशवाओं का अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान है— बालाजी विश्वनाथ (1713-1720), बाजीराव प्रथम (1720-1740), बालाजी बाजीराव (1740-1761), माधवराव प्रथम (1761-1772), नारायणराव (1772-1773), माधवराव द्वितीय (1773-1796) और बाजीराव द्वितीय (1796-1818) क्रमशः पेशवा हुए। पहले पेशवा के साथ ही यह पद वंशानुगत हो गया था।

इस कड़ी में बालाजी विश्वनाथ पहला पेशवा हुआ। उन्होंने पूना को केंद्र बनाकर मराठा शक्ति का विस्तार किया। बालाजी विश्वनाथ एक मामूली राजस्व अधिकारी के पद से उन्नति करते-करते पेशवा बने थे। उन्होंने न केवल अपने प्रतिद्वंद्वी को एक-एक करके अपनी ओर मिलाया, बल्कि मुगलों के परस्पर वैमनस्य और विवादों का भी लाभ उठाया। दक्कन के छह सूबों— खानदेश, बरार, बीदर, बीजापुर, गोलकुंडा और औरंगाबाद में चौथ व सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार प्राप्त किया। उसने सैयद बंधुओं को हटाने में सहयोग दिया था। इस प्रकार बालाजी विश्वनाथ ने अपनी योग्यता, दूरदर्शिता और कूटनीतिज्ञता से शिवाजी के बाद मराठा राज्य को पुनः दृढ़ बनाया और उसे नवचेतना प्रदान की।

1720 में बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु के पश्चात उनका पुत्र बाजीराव प्रथम पेशवा बना। इस समय उसकी आयु केवल 20 वर्ष की थी। मराठा राज्य का विस्तार हुआ। उसने उत्तर में 1728 में मालवा और 1731 में गुजरात प्रदेश को जीता। बुंदेलखंड के भू-भाग पर भी अधिकार किया और दक्कन में हैदराबाद से भी टक्कर ली। पालखेड़ के युद्ध में निज़ाम को हराकर दक्कन से चौथ व सरदेशमुखी के अधिकार प्राप्त किए। 1733 में जंजीरा के सिदियों के विरुद्ध अभियान किया और उन्हें खदेड़ दिया। पुर्तगालियों को भी पराजित कर सालसट और बसीन के प्रदेश प्राप्त किए।



बाजीराव प्रथम

बाजीराव प्रथम के मुख्य संघर्ष में उसका दिल्ली अभियान था। 1737 में उसने दिल्ली पर आक्रमण किया और दिल्ली सीमा के निकट महरौली में अपने खेमे गाड़ दिए, लेकिन वहां केवल लूटमार की। मुगल शासक ने निज़ाम को मदद के लिए बुलाया, लेकिन भोपाल के निकट निज़ाम की भी पराजय हुई और बाजीराव प्रथम को मालवा, नर्मदा तथा चंबल का प्रदेश मिला। साथ ही युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में मराठों ने भारी धनराशि प्राप्त की। बाजीराव प्रथम के काल से ही दिल्ली में मराठों का प्रभाव और शक्ति का दबदबा शुरू हुआ।

इन विजयों के अतिरिक्त बाजीराव प्रथम का एक प्रमुख कार्य मराठा संघ की स्थापना करना था। उसने अपने नेतृत्व में मराठा शक्ति को जोड़ने का अद्भुत प्रयास किया। उसने नागपुर के रघुजी भोंसले, इंदौर के मल्हारराव होल्कर, बड़ौदा के पिल्लाजी गायकवाड़ और ग्वालियर के राणोजी सिंधिया को मिलाकर मराठा संघ बनाया। 1740 में बाजीराव प्रथम की मृत्यु हो गई। निश्चय ही बाजीराव प्रथम एक महान विजेता था, जिसने मराठा शक्ति को भारत की अग्रिम पंक्ति में लाकर खड़ा कर दिया।

तीसरा पेशवा बालाजी बाजीराव (1740-1761) हुआ। इस समय उसकी आयु केवल 18 वर्ष की थी। 1748 में साहू की मृत्यु के बाद उसकी शक्ति बढ़ गई। वह अब वास्तविक रूप से पेशवा और शासक दोनों था। अपने पिता की भांति वह भी एक महान सेनानायक और विजेता था। उसने भी उत्तर और दक्षिण में कई सैनिक अभियान किए। मालवा, गुजरात और बुंदेलखंड पर उसका प्रभुत्व बना रहा। उसने कई राजपूत शासकों से कर वसूल किया। मराठा सरदार रघुजी भोंसले ने बंगाल के नवाब अलीवर्दी खां पर आक्रमण किए और उसे उड़ीसा का प्रदेश देने को मजबूर किया। उसने बंगाल, बिहार से कर और चौथ प्राप्त की। उसने 1757 में दिल्ली पर भी अपना आधिपत्य स्थापित किया। अगले वर्ष सरहिंद और लाहौर में भी अपना प्रभाव कायम किया। पंजाब के शासक अहमद शाह के पुत्र तैमूर शाह को भगा दिया। मराठों ने अटक पर विजय प्राप्त की।

दक्कन में 1760 में उसने हैदराबाद के निज़ाम को हराया और बीजापुर व औरंगाबाद के समस्त प्रदेश, बीदर का कुछ भाग, दौलताबाद का किला और अन्य कई किले प्राप्त किए। यहां से उसे भारी कर प्राप्त हुआ। परंतु उसका निर्णायक युद्ध 1761 में अफ़गानिस्तान के शासक अहमद शाह अब्दाली के साथ पानीपत के मैदान में हुआ। वास्तव में यह युद्ध न केवल मराठों के लिए अपितु संपूर्ण भारत के लिए महत्त्वपूर्ण था। इसमें पेशवा की पराजय हुई, इसका विस्तृत वर्णन हम आगे पढ़ेंगे। इस पराजय से मराठा शक्ति को बड़ा धक्का लगा।

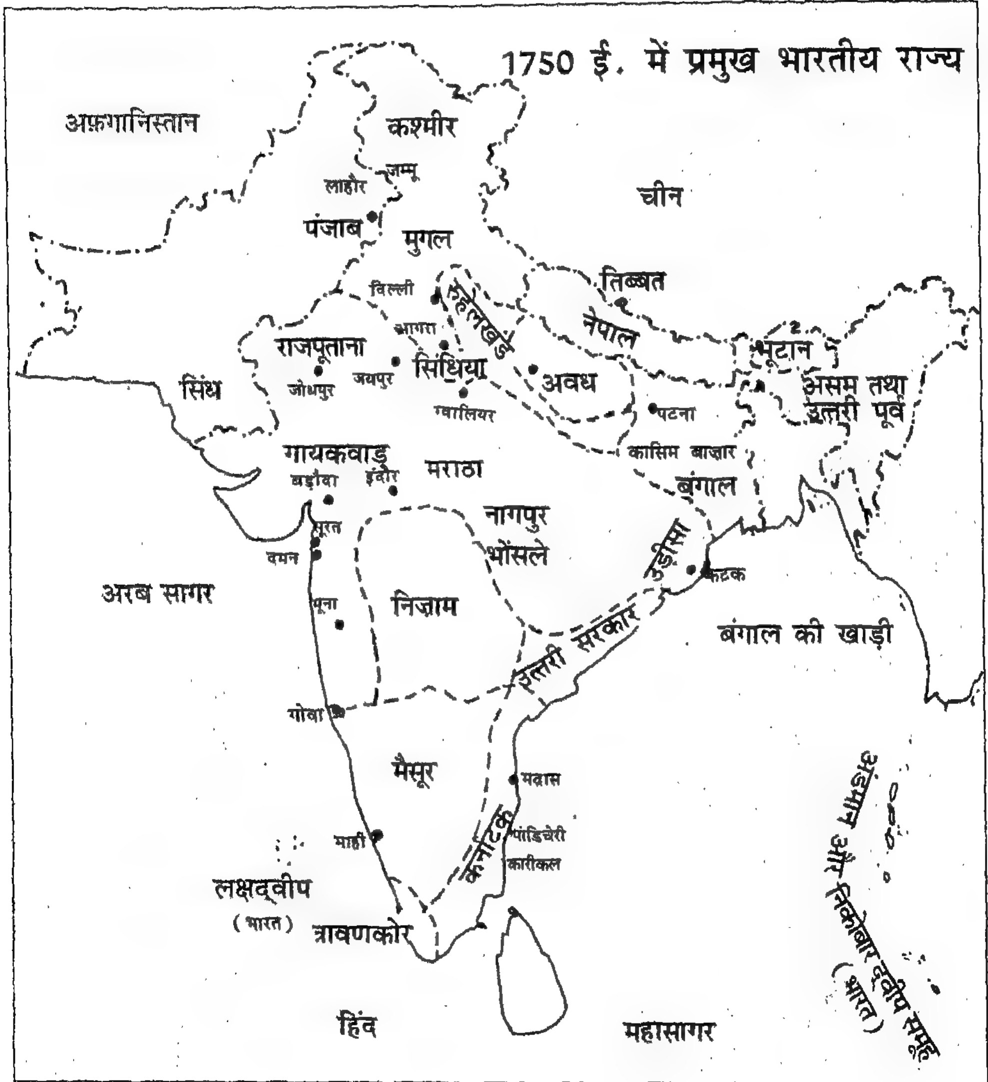
क्षेत्रीय अर्धस्वतंत्र सूबों का प्रादुर्भाव

❒ *अवध*

मुगल साम्राज्य के तेज़ी से विघटन से भारत के विभिन्न प्रदेशों में अर्धस्वतंत्र सूबों का प्रादुर्भाव हुआ। अवध में सआदत खां ने एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की। उसका असली नाम मीर मुहम्मद अमीन था। वह शिया था, प्रारंभ में वह बयाना का फ़ौजदार नियुक्त हुआ। वह दिल्ली दरबार में ईरानी गुट में शामिल हो गया। सैयद बंधुओं के प्रभाव को नष्ट करने में उसने सहायता की। अतः मुगल सम्राट मुहम्मद शाह (1719-1748) ने उसे प्रारंभ में पांच हज़ार जात और तीन हज़ार सवार का मनसबदार बनाया था। बाद में उसे सात हज़ार का मनसब और बुरहान-उल-मुल्क की उपाधि भी दी गई। साथ ही उसे आगरा (1722) का सूबेदार बना दिया गया, जहां से उसे 2 वर्ष बाद स्थानांतरित कर अवध भेज दिया गया।

सआदत खां ने अवध में शांति और कानून व्यवस्था कायम की। विद्रोही ज़मींदारों का अंत किया। किसानों की दशा सुधारी और योग्यता के आधार पर नियुक्तियां कीं। सैनिक सुधार किए। इसी बीच 1739 में मुहम्मद शाह ने उसे नादिर शाह के विरुद्ध लड़ने के लिए दिल्ली बुलाया, पर वह नादिर शाह द्वारा बंदी बना लिया गया। अब उसने नादिर शाह को दिल्ली पर आक्रमण के लिए भी उकसाया। उसे इसमें एक भारी धनराशि की आशा थी। 1739 में अपनी मृत्यु से पूर्व सआदत खां ने अवध को स्वतंत्र राज्य घोषित कर दिया।

सआदत खां की मृत्यु के पश्चात उसका भतीजा सफ़दर जंग अवध का शासक बना। मुगल सम्राट अहमद शाह (1748-1754) ने उसे अपना वज़ीर



क्षेत्रीय अर्धस्वतंत्र सूबों का प्रादुर्भाव

नियुक्त किया। उसे इलाहाबाद का इलाका भी दे दिया गया। अब वह नवाब-वज़ीर-ए-अवध बन गया। शीघ्र ही वह दिल्ली दरबार की गुटबंदी का शिकार हुआ। सफ़दर जंग ने अवध में शांति और कानून व्यवस्था की ओर ध्यान दिया। आंतरिक विद्रोहों को दबाया। उसने मराठों और जाटों से सहयोग प्राप्त किया और बंगश अफ़गानों और रुहेलों के खिलाफ़ सफल संघर्ष किए। 1754 में सफ़दर जंग की मृत्यु हो गई।

सफ़दर जंग ने अपने राज्य में ऊंचे पद योग्यता के अनुसार दिए। न्याय के क्षेत्र में उसने हिंदुओं और मुसलमानों के प्रति भेदभाव नहीं किया। उसने कला, संस्कृति, साहित्य में रुचि ली। उसके काल में ही अवध में लखनवी तहज़ीब विकसित हुई।

उसका पुत्र शुजाउद्दौला शासक बना। वह भी मुगल साम्राज्य का वज़ीर बना, परंतु उसने पानीपत की तीसरी लड़ाई में अहमद शाह अब्दाली का साथ दिया। उसने अंग्रेज़ों के विरुद्ध बक्सर की लड़ाई में भी भाग लिया था, परंतु पराजित हुआ। परिणामस्वरूप उसे इलाहाबाद और कड़ा के ज़िले भारी हर्जाने के रूप में देने पड़े थे। 1775 में उसकी मृत्यु हो गई।

बाद में 1801 में अवध के नवाब ने लॉर्ड वेलेजली के साथ सहायक संधि की और 1856 में अवध का अंग्रेज़ी राज्य में विलय कर लिया गया।

❐ *बंगाल*

बंगाल मुगल साम्राज्य का एक महत्त्वपूर्ण प्रांत था। इसके सूबेदार की नियुक्ति दिल्ली सम्राट द्वारा होती थी। 1701 में मुर्शिद कुली खां नाम के व्यक्ति ने बंगाल की दीवानी प्राप्त कर ली थी। केंद्रीय सत्ता की कमज़ोरी का लाभ उठाकर उसने अपनी शक्ति का विस्तार कर लिया। 1707 में औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात उसने मुर्शिदाबाद के स्थान पर ढाका को अपनी राजधानी बनाया। उसे 1717 में बंगाल का सूबेदार बनाया गया। कुछ साल बाद उसने केंद्र से उड़ीसा की दीवानी भी प्राप्त कर ली। मुर्शिद कुली खां ने न केवल केंद्रीय सत्ता से मुक्ति प्राप्त की, बल्कि उसने बंगाल में ज़मींदारों के विद्रोहों का दमन किया। उसके काल में तीन विद्रोह हुए। पहला विद्रोह सीताराम राय, उदय नारायण और गुलाम मुहम्मद का; दूसरा, शुजात खां और तीसरा नजात खां का था। तीनों विद्रोहों का दमन कर उसने बंगाल में शांति और व्यवस्था कायम की। उसकी मृत्यु 1727 में हुई। उसके पश्चात उसके दामाद शुजाउद्दीन को बंगाल और उड़ीसा का शासक बनाया गया। उसके काल में 1733 में बिहार को भी बंगाल के अधीन कर दिया गया। उसने 1739 तक शासन किया। उसके पश्चात उसके पुत्र सरफ़राज़ खां को शासक बनाया गया।

1740 में बिहार का डिप्टी गवर्नर अलीवर्दी खां उसे हटाकर स्वयं बंगाल का शासक बना। उसके काल में मराठों के निरंतर आक्रमण होते रहे। 1751 में उसने मराठों के मजबूर करने पर उनको कटक (उड़ीसा) का प्रदेश एवं 12 लाख वार्षिक चौथ के रूप में देकर संधि की। 1756 में उसकी मृत्यु हो गई और उसका नाती सिराजुद्दौला बंगाल का शासक बना। उसने लगभग 14 महीने तक राज्य किया। जून 1757 में उसका अंग्रेज़ों से संघर्ष हुआ। वह प्लासी के मैदान से भाग गया। बाद में उसे मार दिया गया और अंततोगत्वा अंग्रेज़ों को इस सत्ता-संघर्ष में सफलता मिली।

❐ *हैदराबाद*

हैदराबाद का संस्थापक निज़ाम-उल-मुल्क आसफ़ जाह था, जिसने 1724 में इसकी स्थापना की थी। मूलत: उसका नाम चिन किलिच खां था। वह औरंगज़ेब के काल में मुगल सेना में भर्ती हुआ था। उसे 1713 में सैयद बंधुओं के प्रयासों से दक्कन का सूबेदार बना दिया गया। 1715 में सैयद हुसैन अली को दक्कन का सूबेदार बनाया गया, उसका वध होने पर चिन किलिच खां को पुन: वहां का सूबेदार बनाया गया। उसे निज़ाम-उल-मुल्क की उपाधि भी दी गई। 1722 से 1724 तक वह दिल्ली

सम्राट का वज़ीर भी रहा, लेकिन दिल्ली दरबार में परस्पर मतभेद और विरोध पाकर तथा अपनी योजनाओं को साकार न होते देखकर पुनः दक्कन लौट गया। यहां उसने आसफ़ जाह वंश की स्थापना की और स्वतंत्र शासक की भांति वहां का राज्य संभाला।

आसफ़ जाह की मृत्यु के पश्चात हैदराबाद राज्य भी परस्पर पारिवारिक संघर्ष और कर्नाटक के प्रश्न पर अंग्रेज़ों की और फ्रांसीसी कूटनीति का शिकार हो गया। अब क्रमशः नासिर जंग, मुज़फ़्फ़र जंग और सालार जंग शासक बने। यह संघर्ष और टकराव तब तक चलता रहा, जब तक निज़ाम हैदराबाद ने 1798 में लॉर्ड वेलेजली से सहायक संधि न कर ली।

कर्नाटक भी मुगलों के दक्कन सूबे का एक भाग था और वह हैदराबाद के निज़ाम के अंतर्गत ही था। व्यावहारिक दृष्टि से कर्नाटक का नवाब भी निज़ाम के प्रभाव से मुक्त होना चाहता था। मुगल सम्राट बहादुर शाह प्रथम ने कर्नाटक का नवाब सआदत उल्ला खां को नियुक्त किया था। कुछ समय बाद उसने अपने भतीजे दोस्त अली को निज़ाम की अनुमति के बिना यहां का नवाब बना दिया था, परंतु वह 1740 में मराठों से युद्ध करते हुए मारा गया। उसके पुत्र सफ़दर अली ने मराठों से संधि कर ली, परंतु 1742 में उसका भी वध कर दिया गया। शीघ्र ही कर्नाटक की नवाबी का प्रश्न अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों में सत्ता-संघर्ष का मुख्य मुद्दा बन गया, जो कर्नाटक के युद्धों के रूप में प्रकट हुआ।

❐ मैसूर

मैसूर का राज्य दक्कन के सबसे प्रभावशाली राज्यों में से था। यह एक पठारी क्षेत्र था, जिसके दोनों ओर पूर्व और पश्चिम में घाट व दक्कन में कावेरी नदी सीमा रही थी। यह राज्य कृषि एवं कला के क्षेत्र में तो अद्वितीय रहा ही, वस्त्र और हस्तकलाओं में भी बहुत आगे रहा।

1565 में विजयनगर साम्राज्य के पतन के पश्चात मैसूर का राज्य वाडेयर वंश के अंतर्गत हो गया। यहां का शासक चिक्का कृष्णराज नाममात्र का शासक था। 18वीं शताब्दी के प्रारंभ में यहां का शासक प्रभावहीन-सा हो गया और शासन की वास्तविक बागडोर दो मंत्रियों नंजराज और देवराज के हाथों में आ गई। 1761 में हैदर अली नामक एक सेनापति ने नंजराज को हटाकर यहां की सत्ता हथिया ली।

हैदर अली का जन्म 1721 में मैसूर के पोलर ज़िले में बुदीकोट नामक स्थान पर हुआ था। उसके पूर्वज एक विदेशी मुस्लिम परिवार से थे जो पहले दिल्ली में और बाद में दक्कन में आकर बस गए थे। इसका पिता मैसूर राज्य की सेना में एक सैनिक अधिकारी था, जिसे मैसूर राज्य में बुदीकोट की जागीर मिल गई थी। निरक्षर होते हुए भी हैदर अली ने अपनी सैनिक प्रतिभा से मंत्री नंजराज को प्रभावित किया। हैदर अली को 1755 में डिंडीगुल का फ़ौजदार नियुक्त कर दिया गया। बाद में उसे बंगलौर की जागीर दी गई। शीघ्र ही उसे मैसूर राज्य का सेनापति बना दिया गया। 1761 में हैदर अली ने राज्य पर स्वयं अपना प्रभाव कायम किया। 1766 में राजा की मृत्यु पर वह मैसूर का सुल्तान बन गया।

हैदर अली का पहला महत्त्वपूर्ण कार्य मैसूर राज्य की सेना का पुनर्गठन था। उसने युद्ध के दिनों में व्यक्तिगत जागीरदारों की सैनिक सहायता के स्थान पर सरकारी कोष से सेना का निर्माण किया। जागीर बांटने की प्रथा रोकी। उसने अपनी सेना को यूरोपीय ढंग से प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की। अश्वसेना की तुलना में पैदल सेना को अधिक महत्त्व दिया। उसने तोपखाने का निर्माण किया। युद्ध के सैनिकों के लिए चिकित्सा की व्यवस्था की। अतः बहुत कम समय में उसने एक सुदृढ़ सेना का निर्माण किया।

दूसरे, उसने मैसूर राज्य की भूमि का विस्तार किया। 1761-64 के बीच सेनापति के रूप में अनेक प्रदेश, जैसे—सेदा, होजकोट, दोड़-वेल्लापुर, चिक-वल्लालपुर, नंदीदुर्ग, गुडीवंडा, कोडीकंडा जीते। उसने सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नगर बेदनूर पर अधिकार

किया और उसका नाम हैदर नगर रखा। साथ ही सुंदा (कन्नारा) भी जीता जिसमें ओनूर और मंगलूर तटीय नगर थे।

हैदर अली ने अपनी सेनाओं को बनाए रखने और सुव्यवस्थित करने के लिए स्थान-स्थान पर विभिन्न प्रदेशों की जनता को लूटा और प्रजा पर कर लगाए। परिणामस्वरूप विजित प्रदेश की जनता और स्थानीय शासकों में असंतोष और प्रतिरोध हुआ जो स्थान-स्थान पर विद्रोहों के रूप में प्रकट हुआ।

राज्य विस्तार करते समय हैदर अली का दक्कन की दो शक्तियों—मराठों और निज़ाम से टकराव हुआ। 1764 में पेशवा माधवराव के नेतृत्व में मराठों के साथ संघर्ष करते हुए उसे कई बार पराजय का मुख भी देखना पड़ा। हैदर अली ने बलाम और कुर्ग पर भी आक्रमण किया। जहां बलाम ने शीघ्रता से आत्मसमर्पण कर दिया, वहां कुर्ग से 1768 तक संघर्ष चलता रहा और अंत में हैदर अली को संधि करनी पड़ी। हैदर अली की सेनाएं बलाम दर्रे से मालाबार तट तक पहुंचीं। रास्ते में नायरों से संघर्ष हुआ। हैदर अली ने कालीकट जीता और समूचे मालाबार तटीय क्षेत्र में पहली बार भारी भूमिकर लगाया। यहां हैदर अली को तीन चार महीनों तक नायरों के साथ संघर्ष झेलना पड़ा। नायरों ने हैदर अली की सेनाओं पर आक्रमण किया और उसे कालीकट से वापस लौटना पड़ा।

हैदर अली ने त्रावणकोर में भी अभियान की योजना बनाई, पर शीघ्र ही ब्रिटिश सेनाओं के पदार्पण से युद्ध की-सी स्थिति हो गई। हैदर अली की बढ़ती हुई शक्ति से अंग्रेज़ सशंकित थे। अंग्रेज़ों और मैसूर के शासकों के बीच चार युद्ध हुए, जिनमें प्रथम दो युद्ध हैदर अली के साथ हुए। अंग्रेज़ों को डर था कि कहीं वह कर्नाटक पर अपना स्थाई अधिकार न कर लें। अतः अंग्रेज़ों ने निज़ाम और मराठों से मिलकर हैदराबाद के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। इतिहास में यह प्रथम आंग्ल-मैसूर युद्ध (1767-1769) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हैदर अली ने कूटनीति से काम लिया और स्वयं को मराठों और निज़ाम के टकराव से अलग रखा। अंग्रेज़ों ने मैसूर पर मद्रास और बंबई (वर्तमान मुंबई) दोनों ओर से आक्रमण किया। मालाबार तटीय प्रदेश के निवासियों ने अंग्रेज़ों की बंबई सेनाओं का समर्थन किया। दूसरी ओर मद्रास की ओर से अंग्रेज़ी सेनाओं ने मैसूर के दक्षिण-पूर्वी भाग पर कब्ज़ा कर लिया, परंतु रसद के अभाव में अंग्रेज़ी सेनाओं को कठिनाई आई। हैदर अली ने परिस्थिति का लाभ उठाकर अरकाट पर आक्रमण किया और रास्ते के गांवों को नष्ट करता, जलाता हुआ, वह मद्रास के निकट पहुंच गया। इससे अंग्रेज़ घबरा गए और उन्होंने 1769 में हैदर अली से संधि की। दोनों ने एक-दूसरे के जीते हुए प्रदेश लौटा दिए और दोनों ने किसी भी अन्य राज्य के आक्रमण होने पर सहायता देने का वायदा किया। 1772-73 में हैदर अली ने पुनः मालाबार जीता और 1774 में कुर्ग पर भी अधिकार किया।

हैदर अली और अंग्रेज़ों के संबंध पुनः शीघ्र ही कटु हो गए, जब 1771 में मराठों के हैदर अली के विरुद्ध आक्रमण के समय, अंग्रेज़ों ने पूर्व हुई संधि के अनुसार सहायता देने की बजाए किसी भी प्रकार की सहायता से मना कर दिया। अंग्रेज़ों ने हैदर अली को मराठों से उनकी संधि पहले होने की बात कही। यह सुनकर हैदर अली आग-बबूला हो गया। अतः उसने अंग्रेज़ों के विरुद्ध दूसरे युद्ध की घोषणा कर दी। यह युद्ध 1781-84 के बीच हुआ। हैदर अली ने कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया और अरकाट पर कब्ज़ा कर लिया। उसने पोर्टोनोवा पर भी आक्रमण किया। फ्रांसीसी सेनाओं की मदद से जनवरी 1782 में अंग्रेज़ सेनाओं को मद्रास से भगा दिया गया। इसी काल में हैदर अली ने कडनूर के बंदरगाह पर कब्ज़ा कर लिया, परंतु 6 दिसंबर, 1782 में हैदर अली की बीमारी से मृत्यु हो गई। उसके पुत्र ने संघर्ष जारी रखा।

उपरोक्त सफलताओं के आधार पर हैदर अली के कार्यों का विवेचन किया जा सकता है। हैदर अली एक योग्य सेनापति और प्रशासक था। वह एक साधारण सैनिक से उठकर मैसूर का सेनापति और शासक बना था। उसने मैसूर की निर्बल सेना को दक्कन की श्रेष्ठतम सेनाओं में स्थान दिलवाया था। उसने सेना में अनेक सुधार किए और यूरोपीय ढंग से उसे प्रशिक्षण दिया।

हैदर अली ने एक दुर्बल, विभाजित मैसूर राज्य को एक शक्तिशाली, संगठित और दक्कन में सर्वोपरि राज्य में परिणत कर दिया था। उसने दक्कन की प्रबल शक्तियों – मराठों, निज़ाम और अंग्रेज़ों से टक्कर ली थी और मैसूर राज्य का विस्तार मालाबार के तटीय क्षेत्रों तक किया था। उसकी मृत्यु के समय मैसूर राज्य का क्षेत्रफल 80000 वर्गमील था और उसकी आय दो करोड़ रुपए थी। हैदर अली अपने समय का एक सफल कूटनीतिज्ञ था। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि सावधानीपूर्वक उसने अपने विरोधियों को अपने विरुद्ध संगठित न होने दिया।

आंतरिक प्रशासन की दृष्टि से वह शेष शासकों से ऊपर न था। उसने मालाबार और कुर्ग के हिंदू विद्रोहों का दमन बड़े क्रूर तरीकों से किया। युद्ध करते समय रास्ते के गांवों को उजाड़ा और जलाया भी। उसका भूमिकर भी अत्यधिक था। भूमिकर ठीक ढंग से वसूल हो सके, इस संदर्भ में उसने हिंदुओं को नियुक्त कर सावधानी की नीति अपनाई। व्यापारिक दृष्टि से उसने व्यापार-वाणिज्य को प्रोत्साहन और हस्तकलाओं को संरक्षण प्रदान किया।

हैदर अली के पश्चात उसका पुत्र टीपू सुल्तान मैसूर का शासक (1782-1799) बना। वह अपने पिता की भांति अंग्रेज़ों का प्रबल शत्रु था। उसने युद्ध को जारी रखा। परंतु अपने पिता की भांति वह कूटनीतिज्ञ न था। उसने एक गुप्त संदेश द्वारा अपने बेदनूर के कमांडर शेख अयाज़ को अपने रास्ते से हटाना चाहा। उसका यह गुप्त संदेश शेख अयाज़ के हाथों पड़ गया। वह अपनी जान बचाने के लिए बंबई की अंग्रेज़ सेना में मिल गया और बिना विशेष संघर्ष के बेदनूर का किला जनवरी 1783 में अंग्रेज़ों के अधिकार में आ गया। परंतु बंबई की सेना अंग्रेज़ सेनापति मैथ्यू के नेतृत्व में एक कमज़ोर सेना थी, जो किले और वहां के नागरिकों की लूटमार में लग गई। परिस्थितियों का लाभ उठाकर टीपू ने बेदनूर किले के आसपास अपनी सेनाओं का जमाव किया और कुछ इलाके जीते।

जुलाई 1783 में अंग्रेज़ी और फ्रांसीसी सरकारों में एक संधि हो जाने से टीपू के नेतृत्व में लड़ रही फ्रांसीसी सैनिक टुकड़ी भी उसका साथ छोड़कर चली गई। मराठों के आक्रमण का भय बढ़ गया था। अतः 11मार्च, 1784 को टीपू को अंग्रेज़ों के साथ मंगलूर की संधि करनी पड़ी। टीपू ने कर्नाटक से और अंग्रेज़ों ने मालाबार तटीय क्षेत्र से अपनी-अपनी सेनाएं हटा लीं। दोनों ने एक-दूसरे के कैदी छोड़ने का वायदा किया।

टीपू के साथ संधि होने पर भी अंग्रेज़ मैसूर पर आक्रमण की योजना बनाने लगे। टीपू ने भी अपने कुछ नए संबंध मुस्लिम शासकों के साथ बनाने का विचार किया। 1786-1787 में टीपू ने मराठों और निज़ाम को पराजित कर कुछ मराठा क्षेत्र पर कब्ज़ा किया। उल्लेखनीय है कि 1787 में टीपू ने अपनी राजधानी श्रीरंगपत्तनम में 'पादशाह' की उपाधि धारण की। इस तरह उसने मैसूर के हिंदू राजा की नाममात्र की शक्ति समाप्त कर दी।

टीपू सुल्तान ने निरंकुश शासक होते हुए भी मैसूर राज्य की उन्नति के लिए कुछ सुधार-कार्य किए। उसने कृषि, व्यापार, उद्योग, मुद्रा-प्रणाली, नाप-तोल कई क्षेत्रों में सुधार किए और सिक्के ढालने में नवीन प्रयोग किए। उसने जागीर-प्रथा को समाप्त करने के प्रयास किए और संपत्ति के वंशानुगत अधिकार को कम किया। टीपू ने अपनी सहायता के लिए दो मिशन फ्रांस भेजे, परंतु वे किसी प्रकार की

सहायता प्राप्त न कर सके। 1784-1785 में दो मिशन कुस्तुनतुनिया भी भेजे, परंतु वहां से भी कोई सहायता न मिली।

इसी बीच 1786-1789 के दौरान नायरों, मालाबार के तटीय क्षेत्र और कुर्ग के निवासियों ने टीपू के विरुद्ध विद्रोह किए। त्रावणकोर के राजा ने भी मालाबार तटीय क्षेत्र का दक्षिण भाग जीत लिया। 1789 में टीपू ने त्रावणकोर की किलेबंदी को ध्वस्त कर दिया। अंग्रेज़ों ने त्रावणकोर की सहायता के बहाने मैसूर पर आक्रमण कर दिया। अंग्रेज़ों के साथ कुर्ग, कोचीन और मालाबार तटीय क्षेत्र के निवासी भी टीपू के विरुद्ध हो गए। अंग्रेज़ों ने मराठों और निज़ाम से भी सहायता ली। अत: अंग्रेज़ों व मैसूर के बीच तृतीय आंग्ल-मैसूर युद्ध (1790-1792) हुआ। इसमें टीपू की पराजय हुई। परिणामस्वरूप मार्च 1792 में श्रीरंगपत्तनम की संधि हुई। इसमें टीपू को तीन करोड़ रुपए युद्ध क्षति के रूप में देना और उसके दो बेटे अंग्रेज़ों के पास बंधक के रूप में रखना तय हुआ, जब तक कि पूरे हरजाने की अदायगी न हो। इसमें मराठों और निज़ाम को भी मैसूर के कुछ प्रदेश मिले और इस बीच अंग्रेज़ों ने बारामहल और डिंडीगुल व मालाबार के बड़े भाग और कुर्ग के हिस्से पर भी कब्ज़ा कर लिया। इस तरह टीपू का लगभग आधा राज्य समाप्त हो गया।

1794 में टीपू ने युद्ध का हरजाना दे दिया और उसके दोनों पुत्रों को छोड़ दिया गया। पर दोनों में कटुता कम न हुई। टीपू ने अपनी मदद के लिए अफ़गानिस्तान के शासक जमान शाह को भारत पर आक्रमण करने के लिए उत्साहित किया। जमान शाह ने पंजाब पर आक्रमण किया, परंतु सिक्खों के प्रबल विरोध और अफ़गानिस्तान के आंतरिक षड्यंत्रों के कारण शीघ्र ही वह वापस लौट गया।

टीपू ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध फ्रांस से पुन: सहायता के लिए प्रयास किया। 1793 में एक मिशन फ्रांस भेजा गया। 1795-1796 में एक गुप्त समझौते की योजना भी रखी गई। 1797 में श्रीरंगपत्तनम में फ्रांस की तर्ज़ पर एक जेकोबिन क्लब की स्थापना हुई, जिसमें फ्रांस की सेना की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए स्वतंत्रता का वृक्ष लगाया गया। भाषणों में निरंकुश शासकों का अंत करने और 'नागरिक टीपू सुल्तान' की दीर्घायु की कामना की गई। परंतु फ्रांस से कोई सहायता प्राप्त नहीं हुई।

अंग्रेज़ों ने टीपू की बढ़ती गतिविधियों और नेपोलियन के मिस्र अभियान में भारत आगमन की आशंका से मैसूर के विरुद्ध तेज़ी से तैयारियां शुरू कर दीं। परिणामस्वरूप भारत के अंग्रेज़ गवर्नर जनरल लॉर्ड वेलेजली (1798-1805) ने जब टीपू को सहायक संधि मानने के लिए कहा तो उसने उसे अस्वीकार कर दिया। वेलेजली ने निज़ाम को साथ लेकर मैसूर के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। मैसूर पर अंग्रेज़ों, निज़ाम और मराठों की सेनाओं के द्वारा तीनों ओर से आक्रमण हुआ। 28अप्रैल, 1799 को श्रीरंगपत्तनम पर कब्ज़ा कर लिया गया। टीपू युद्ध के मैदान में लड़ता हुआ मारा गया। अंग्रेज़ों की इस विजय से संपूर्ण मैसूर अंग्रेज़ों के अधिकार में आ गया। अंग्रेज़ों ने दिखावे के लिए वाडेयर वंश के एक बच्चे को मैसूर का राजा बना दिया।

टीपू सुल्तान द्वारा अंग्रेज़ों के विरुद्ध युद्धों से यह स्पष्ट रूप से व्यक्त हो जाता है कि वह अपने पिता की भांति एक योग्य, कर्मठ सैनिक और सेनापति था। उसमें सतत संघर्ष की क्षमता और दृढ़ता थी। वह अपने निश्चय का पक्का था।

परंतु टीपू सुल्तान अपने पिता की भांति उतना दूरदर्शी व कूटनीतिज्ञ न था। वह यूरोपीय जटिल राजनीति की समझ न रखता था और फ्रांस के बारे में उसके समस्त अनुमान गलत निकले। आंतरिक दृष्टि से हैदर अली के विश्वासपात्र बेदनूर के किलेदार शेख अयाज़ के विरुद्ध उसका गुप्त फ़रमान भी अनुचित था।

सेना के आधुनिकीकरण में टीपू ने अपने पिता की नीति अवश्य अपनाई। उसने अपनी सेना को यूरोपीय ढंग से अनुशासित और प्रशिक्षित करने का प्रयत्न किया। पैदल सेना को बंदूक दी। आधुनिक ढंग से नौसेना बनाने का यत्न किया। दो नौका घाट बनाए। उसने फ्रांसीसियों की मदद से बंदूक व संगीन बनाने की भी योजना बनाई थी।

टीपू ने अपने पिता की भांति प्रारंभ में महत्त्वपूर्ण पद, योग्यता के आधार पर दिए थे। बाद में उसने मुस्लिम दरबारियों पर अधिक विश्वास करना प्रारंभ कर दिया। प्रमुख ज़िलों में प्राय: मुस्लिम व्यक्तियों की ही नियुक्ति होने लगी। उसने व्यापार और उद्योग को महत्त्व दिया। कई उद्योगों को राजकीय सहायता दी। व्यापार के लिए चीन, तुर्की, ईरान और अरब देशों से संबंध स्थापित किए।

टीपू के काल में विभिन्न प्रकार के कर अत्यधिक थे। युद्ध के दिनों में सैनिक वृद्धि व युद्ध-हरजाने के लिए उसने 30 प्रतिशत कर बढ़ा दिया था और व्यापार में भी 7 प्रतिशत कर की बढ़ोतरी की गई। बादशाह के रूप में उसने पोलिगरों, जागीरदारों की भूमि छीन ली थी।

टीपू के व्यक्तित्व की एक विशेषता उसकी साहित्यिक अभिरुचि और इस क्षेत्र में उसके कार्य हैं। वह फ़ारसी, उर्दू और कन्नड़ में धाराप्रवाह बोल सकता था। उसने एक विशाल पुस्तकालय भी बनवाया था। बाद में उसके पुस्तकालय की तमाम पुस्तकें कलकत्ता (अब कोलकाता) की 'इंपीरियल लाइब्रेरी' में भेज दी गईं। वह शिक्षा और साहित्य का प्रेमी था।

टीपू एक कट्टर मुसलमान था और इस्लाम के नियमों का कठोरता से पालन करता था। तत्कालीन लेखों और इतिहासकारों हैमिल्टन, ग्रांट डफ़, लीविस राइस, विलियम लोगेन ने इसका विस्तृत वर्णन किया है। सरदार के. एम. पनिक्कर ने टीपू के लिखे पत्रों का उल्लेख किया है। धार्मिक विचारों में वह रूढ़िवादी था और उसने अपने नाम का खुतबा भी पढ़वाया था। कभी-कभी वह हिंदू मंदिरों को भी दान देता था। 'पादशाह' बनने के बाद उसकी नीति कठोर हो गई और उसके शासनकाल में अनेक हिंदू मंदिरों को नष्ट किया गया। कुर्ग, बेदनूर और मालाबार में हिंदुओं पर अनेक अत्याचार किए गए। कुल मिलाकर टीपू सुल्तान अपने पिता हैदर अली की भांति कुशल सैनिक और सेनापति था, परंतु दोनों में बड़ा अंतर था। हैदर अली चरित्र के मूल्यांकन में कभी भी भूल नहीं करता था, जबकि टीपू इतना सतर्क न था। हैदर अली ने मैसूर का एक दुर्बल और विभाजित राज्य पाया, परंतु टीपू ने एक शक्तिशाली राज्य पाया था। टीपू ने उसे दुर्बल ही नहीं पूर्णत: समाप्त ही कर दिया। एक ने राज्य का निर्माण किया, दूसरे ने ध्वंस किया। परंतु दोनों ही अंग्रेज़ों से घृणा करते थे और भारत में उनका राज्य समाप्त करना चाहते थे।

❐ केरल

18वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में, भारत के सुदूर दक्षिण में, स्थित केरल अनेक छोटे-छोटे क्षेत्रों में बंटा था। इनमें कालीकट, कोचीन, चिरक्कल और त्रावणकोर सबसे महत्त्वपूर्ण थे। त्रावणकोर राज्य राजा मार्तंड वर्मा के काल में एक प्रभावशाली राज्य बन गया था। मार्तंड वर्मा ने न केवल अपने आसपास के प्रदेशों को जीता, बल्कि डच कंपनी के शासन का केरल से अंत कर दिया। उसने पाश्चात्य ढंग से एक शक्तिशाली सेना का निर्माण किया था। अनेक जनहितकारी नहरें, सड़कें बनवाई थीं। उसने युद्धपोत निर्माण को भी बढ़ावा दिया। संस्कृत और मलयालम भाषा की उन्नति की ओर ध्यान दिया। 1763 तक अनेक सामंती प्रदेश उसके अधीन हो गए, परंतु शीघ्र ही मैसूर के हैदर अली ने केरल प्रदेश पर आक्रमण शुरू कर दिए और कालीकट से कोचीन तक के उत्तरी केरल पर अधिकार कर लिया। मार्तंड वर्मा का उत्तराधिकारी राम वर्मा हुआ जो साहित्य, भाषा और ललित कलाओं में बड़ा निणुण था।

अंग्रेज़ों के साथ त्रावणकोर के संबंध 1788 से प्रारंभ हुए, जबकि 12अगस्त को राजा का टीपू सुल्तान के विरुद्ध सुरक्षा के लिए एक समझौता हुआ। टीपू के पतन (1799) तक त्रावणकोर और अंग्रेज़ों के बीच समान हित बने रहे। मई 1800 में त्रावणकोर में रेज़ीडेंट का पद बनाया गया और पहला ब्रिटिश रेज़ीडेंट कर्नल कोलिन मैकॉले बना। 1805 में त्रावणकोर भी सहायक संधि के अंतर्गत अंग्रेज़ों के प्रभाव में आ गया।

❐ *राजपूताना*

मुगल काल में सामान्यतः राजपूतों का मुगलों से निरंतर टकराव रहा था। औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात दिल्ली के केंद्रीय शासन की दुर्बलता का लाभ उठाकर राजपूतों ने अपने को स्वतंत्र करने के प्रयास किए। राजपूताने में इस समय दो प्रमुख राज्य मारवाड़ (जोधपुर) और आमेर (जयपुर) थे। मारवाड़ के शासक राजा अजीतसिंह ने मुगलों में फैली राजनीतिक अराजकता का लाभ उठाकर अपने राज्य पर अधिकार कर लिया। बाद में मुगल सम्राट बहादुरशाह ने 1708 में संधि कर उससे अच्छे संबंध स्थापित कर लिए और उसे मारवाड़ के शासक के रूप में मान्यता दी। अजीतसिंह ने जयपुर के राजा व दुर्गादास राठौर से मिलकर एक संगठन बनाया। 1714 में मुगल सेनापति हुसैन अली ने जोधपुर पर आक्रमण किया और अजीतसिंह को संधि के लिए मजबूर किया, जिसके परिणामस्वरूप अजीतसिंह को अपनी पुत्री का विवाह फर्रुखसियर से करना पड़ा। जोधपुर के राजा को सैयद बंधुओं ने अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया और उसे अजमेर, गुजरात का सूबेदार नियुक्त कर दिया। परंतु अजीतसिंह शीघ्र ही आंतरिक षड्यंत्रों, उपद्रवों और विश्वासघात का शिकार हो गया। उसको उसके ही पुत्र बख्तसिंह ने मार दिया।

इस समय राजपूताने का दूसरा महत्त्वपूर्ण राज्य आमेर (जयपुर) था। यहां का शासक सवाई जयसिंह (1699–1743) था। उसने मुगल सम्राट फर्रुखसियर और सैयद बंधुओं के परस्पर झगड़ों से अपने को दूर रखने की कोशिश की। सैयद बंधुओं के विरोधियों ने जयपुर के राजा को 1721 में आमेर का सूबेदार नियुक्त कर दिया था। सम्राट मुहम्मद शाह के काल में उसे गुजरात की सरकार का भाग भी दे दिया था।

सवाई जयसिंह ने जयपुर नगर और किले का निर्माण किया और उसे अपनी राजधानी बनाया। भारतीय इतिहास में वह एक कुशल प्रशासक, प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ, विख्यात कानून निर्माता, समाज सुधारक और विज्ञान में विशेष रुचि रखने वालों में माना जाता है।

जयसिंह ने 5 वेधशालाओं के निर्माण के साथ खगोल विद्या के अध्ययन के लिए विशेष व्यवस्थाएं कीं। जयसिंह ने सारणियों के सेट तैयार करवाए। त्रिकोणमिति की कई प्रसिद्ध पुस्तकों के अनुवाद करवाए। युक्लिड के ग्रंथ 'रेखागणित के तत्त्व' का संस्कृत में अनुवाद करवाया। जयपुर नगर का निर्माण भी वैज्ञानिक आधार पर किया गया। साथ ही जनता की भलाई के लिए अनेक कुएं, धर्मशालाएं और सड़कें बनवाईं और इसी भांति कानून द्वारा कन्या के विवाह पर अत्यधिक धनराशि व्यय न हो, ऐसा प्रबंध किया।

यद्यपि 18वीं शताब्दी में दिल्ली से सटा समस्त राजपूताना प्रदेश राजपूतों के अधीन था, परंतु मुगल सम्राटों की भांति वे भी आंतरिक षड्यंत्रों, परस्पर कलहों और विश्वासघात के शिकार थे। साथ ही मराठों के हो रहे निरंतर आक्रमणों से उनकी शक्ति क्षीण हो रही थी।

❐ *रुहेलखंड*

यद्यपि रुहेलों का राज्य बहुत छोटा था और इनका अस्तित्व भी अल्पकाल तक रहा, परंतु 18वीं शताब्दी की सत्ता-संघर्ष की राजनीति में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। मुहम्मद खां बंगश पठान ने मुगल

सम्राट फर्रुखसियर (1713-1719) और मुहम्मद शाह (1719-1748) के काल में अलीगढ़ और कानपुर के बीच के इलाकों तथा फर्रुखाबाद के कुछ इलाकों में स्वतंत्र आधिपत्य स्थापित किया था। कुछ समय तक इस पठान का उक्त क्षेत्र में दबदबा रहा। बुंदेलखंड के शासक महाराणा छत्रसाल ने मराठों की मदद से 1728 में उसे बुरी तरह पराजित किया। इसी भांति नादिर शाह के आक्रमण के समय देश में अराजकता के वातावरण में अली मुहम्मद खां ने रुहेलखंड नामक राज्य की स्थापना की थी। यह इलाका हिमालय की तराई में गंगातट से कुमायूं की पहाड़ियां तक फैला हुआ था। यह बहुत ही उपजाऊ प्रदेश था। इसकी राजधानी आंवला (बरेली) थी।

रुहेलों का अवध, दिल्ली, जाटों और मराठों से निरंतर संघर्ष होता रहता था। रुहेलखंड की सीमाओं पर मराठों के आक्रमण होते रहते थे। रुहेलों का नेता हाफिज़ रहमत खां इनसे सावधान हो गया था। उसने 17 जून, 1772 को बनारस में अवध के नवाब वज़ीर से एक संधि की कि मराठों के पुनः आक्रमण होने पर नवाब उनकी रक्षा करेगा और इसके बदले उसे 40 लाख रुपए मिलेंगे। मराठों ने 1773 में आक्रमण किया और अवध के नवाब वज़ीर ने अंग्रेज़ सेना की मदद से उन्हें भगा दिया और रुहेलों से धनराशि मांगी। हाफिज़ रहमत खां किसी-न-किसी बहाने टालता रहा। अतः नवाब वज़ीर ने अंग्रेज़ों से मदद मांगी, ताकि विश्वासघात की सज़ा दी जा सके। परिणामस्वरूप 23 अप्रैल, 1774 को मीरन कटरा का युद्ध हुआ, जिसमें हाफिज़ रहमत खां युद्ध में लड़ता हुआ मारा गया। 20,000 रुहेलों को इलाके से निकाल दिया गया और अवध के नवाब शुजाउद्दौला को रामपुर का इलाका छोड़कर शेष इलाका दे दिया गया। वस्तुतः हाफिज़ रहमत खां एक उदार और सहिष्णु शासक था, जिसने गैर-मुस्लिमों के प्रति अच्छा व्यवहार किया। रुहेलों के प्रति अंग्रेज़ों की नीति की बड़ी आलोचना हुई।

❒ सिक्ख

18वीं शताब्दी में पंजाब में सिक्खों का एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उदय और विस्तार मुगलों तथा अंग्रेज़ों व बाहर के आक्रमणकारियों के लिए एक चुनौती और रुकावट बना रहा। मूलतः सिक्ख पंथ का उदय 15वीं शताब्दी में गुरु नानक देव के पवित्र व्यक्तिगत जीवन और वाणी से हुआ। उनके बाद सिक्ख पंथ में नौ और गुरु हुए, जिनके काल में सिक्ख पंथ एक धार्मिक संप्रदाय के साथ-साथ एक शक्तिशाली वीर योद्धाओं का संगठन बन गया। मुगलों के साथ निरंतर टकराव से यह शीघ्र ही एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरा। गुरु गोविंदसिंह के नेतृत्व में 1699 में खालसा पंथ की स्थापना से इस संप्रदाय में एक नवशक्ति का संचार हुआ। 1708 से 1715 में बंदा बहादुर ने मुगलों से टक्कर ली, परंतु उसको कई सौ साथियों सहित गिरफ्तार कर लिया गया था। दिल्ली की सड़कों पर घुमाया गया और बाद में मार दिया गया था।

18वीं शताब्दी के प्रारंभ से समूचे पंजाब पर मुगलों के अधिकारियों के अत्याचारों का दौर चलता रहा और कुछ समय में सिक्खों का विरोध भी कम हो गया। शीघ्र ही नादिर शाह और अहमद शाह अब्दाली के निरंतर आक्रमणों से जहां मुगल सत्ता कमज़ोर हो गई, वहां पंजाब में सिक्ख संप्रदाय को संगठित होने का अवसर मिला। खालसा दल का निर्माण हुआ और पंजाब में 12 मिस्लों का गठन हुआ। प्रत्येक मिसलदार के पास एक निश्चित भू-भाग या क्षेत्र होता था।

इन्हीं मिस्लों में से एक मिस्ल शूक्रचकिया थी जिसका प्रमुख महाराजा रणजीतसिंह था। इसका जन्म 2 नवंबर, 1780 में गुजरांवाला के प्रमुख मिसलदार महासिंह के यहां हुआ था। 12 वर्ष की आयु में पिता का देहांत होने पर इसे मिसलदार बनाया गया था। 1799 में इसने लाहौर नगर पर कब्ज़ा कर लिया था।

1805 में अमृतसर भंगी मिस्ल से छीन ली थी। इसने किसी-न-किसी बहाने से सतलुज के पार के क्षेत्रों पर भी आक्रमण किया था। 1809 की अंग्रेज़ों से अमृतसर की संधि द्वारा उसने सिस-सतलुज प्रदेश पर अंग्रेज़ों के अधिकार को स्वीकार कर लिया। कुछ ही वर्षों में इसने मुल्तान, कश्मीर और पेशावर पर भी अधिकार कर लिया। इन कार्यों में इसने हरिसिंह नलवा जैसे वीर सेनापतियों का सहयोग लिया था। 1839 में इसकी मृत्यु हो गई।

महाराजा रणजीतसिंह अपने युग के योग्यतम भारतीय शासकों में से था। वह एक महान सेनानायक, सफल प्रशासक और उदार शासक था। उसने अपनी सेना को यूरोपीय ढंग से सजाया। उसने फ्रांसीसी सैनिक अधिकारियों वेंचूरा और एलार्ड की सहायता ली थी। कोर्ट और गार्डनर की देखरेख में तोपखाने का निर्माण किया था और सैनिकों को मासिक वेतन देने की प्रथा प्रचलित की थी।

उसका दरबार देशी और विदेशी व्यक्तियों से भरा था। उसके दरबार में हिंदू, मुसलमान, फ्रांसीसी आदि महत्त्वपूर्ण पदों पर थे। फ़कीर अज़ीज़ुद्दीन उसका विदेशी मंत्री था, अनेक फ्रांसीसी सैनिक अन्य महत्त्वपूर्ण पदों पर थे, डोगरा बंधुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था। हिंदू ऊंचे पदों पर थे, दीनानाथ उसका वित्तमंत्री था। इस दृष्टि से उसका दरबार समस्त भारत में अद्वितीय था। कानून परंपरागत थे और सज़ाएं कठोर थीं। लाहौर में एक विशेष अदालत होती थी, जहां पर वह स्वयं फैसले करता था। किसी भी सरकारी अधिकारी के विरुद्ध शिकायत की जा सकती थी।

धर्म के मामलों में महाराजा रणजीतसिंह अत्यधिक सहिष्णु और उदार था। उसने सिक्ख और विभिन्न समुदायों के प्रति उदार नीति अपनाई थी। समय-समय पर मंदिरों और गुरुद्वारों को अनुदान दिए। गरीबों की सहायता की और विद्वानों को संरक्षण दिया था।

कुल मिलाकर महाराजा रणजीतसिंह ने एक सुसंगठित राज्य की स्थापना की। राजनीतिक अस्थिरता और अराजकता के युग को समाप्त कर दिया। परंतु उसका सुव्यवस्थित राज्य उसके राज्यकाल तक ही सीमित रहा और उसके मरते ही अगले दस वर्षों में बिल्कुल समाप्त हो गया। वस्तुतः वह अंग्रेज़ों की कुटिल चालों को समझते हुए भी उन्हें अपने ढंग से सुलझा न सका। महाराजा रणजीतसिंह की विशेषता एक विशाल पंजाब राज्य की स्थापना थी, जिसकी सीमाएं उत्तर-पश्चिम में दूर तक फैली हुई थीं। दूसरे अपनी धार्मिक सहिष्णुता और उदारता के कारण वह सभी प्रकार के लोगों में सम्मान का पात्र था।

❒ *असम और उत्तर-पूर्व*

18वीं शताब्दी के प्रारंभ में भारत के उत्तर-पूर्व क्षेत्र में कई महत्त्वपूर्ण राज्य– अहोम, कछार, जयंतिया तथा मणिपुर थे। असम प्राचीन काल से पूर्वी हिमालय क्षेत्र के लोगों का मिलन बिंदु रहा है। उपरोक्त सभी राज्यों के विभिन्न कालों में परस्पर सहयोग तथा टकराव होते रहे, सामाजिक तथा आर्थिक विकास हुआ। परंतु 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ब्रह्मपुत्र घाटी में ब्रिटिश शासन के प्रवेश से यह संतुलन बिखर गया। असम और उत्तर-पूर्व क्षेत्र अंग्रेज़ों के काल में असम प्रांत के नाम से जाना जाता रहा। आज यह प्रदेश 'सात बहिनें' अर्थात अरुणाचल, नागालैंड, मणिपुर, मिज़ोरम, त्रिपुरा, मेघालय और असम के नाम से अलग-अलग प्रांतों में विभाजित है। इस क्षेत्र में लगभग 250 उपजातियां रहती हैं। असम और उत्तर-पूर्व क्षेत्र के लोग स्वभाव से वीर, साहसी और स्वतंत्र प्रकृति के रहे हैं।

यह प्रदेश चिरकाल से स्वतंत्र रहा। पहले से ही यह प्राग्ज्योतिषपुर और कामरूप के नाम से जाना जाता रहा। पहले असुरवंश, पालवंश, वर्मनवंश के साथ-साथ सूनिया, कोच, अहोम, कछार, जयंतिया और मराण ने विभिन्न कालों में इस प्रदेश पर आधिपत्य स्थापित

किया। कौटिल्य, कालिदास, बाणभट्ट, कल्हण और अलबरूनी जैसे विद्वानों ने इस क्षेत्र के विभिन्न स्थानों से संपर्क का वर्णन किया है।

असम और अन्य उत्तर-पूर्वी क्षेत्र जहां भारत की सुरक्षा की दृष्टि से सदैव महत्त्वपूर्ण रहा, वहां उसका भारत की आर्थिक संपन्नता, सामाजिक व सांस्कृतिक विकास में योगदान रहा। ब्रह्मपुत्र नदी और अतुल वन-संपदा आर्थिक संपदा की द्योतक रही। अंग्रेज़ों ने यहां की विशाल भूमि को बेकार भूमि का नाम देकर अंग्रेज़ों को 'वेस्टेड लैंड नियमों' (Wasted Land Rules) के अंतर्गत यह भूमि प्राय: मुफ्त दी। यहां पर नील की खेती को बढ़ावा दिया गया। चाय की दृष्टि से यह भारत का सर्वश्रेष्ठ उत्पादक स्थान बन गया। इसके अलावा तेल, लकड़ी और अन्य खनिज पदार्थों के लिए यह समृद्धिशाली प्रदेश है।

सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से भी यह वैष्णव और शैव संप्रदायों का बड़ा केंद्र रहा है। ब्रह्म समाज ने भी यहां अपना प्रभाव कायम किया। अनेक उपजातियों के होते हुए भी यहां समरसता है। बाद में ईसाइयों ने भी यहां अपना प्रभाव बढ़ाया।

आधुनिक काल के भारतीय दर्शन के एक प्रवक्ता राधाराव फूकन ने एक कविता में लिखा है -

'असमिया बंधुओ क्यों भूल गए कि चिरकाल से तुम स्वाधीन रहे हो! तुम्हारी जननी भारत मां, कभी वीर प्रसविनी रही है। प्रकृति ने स्वयं ही असम को गढ़ा है। काम्यभूमि का निर्माण किया है। असम जैसी प्रकृति और वन भूमि और है कहां? भगवद्दत्त, बाण, कुमार भास्कर, चक्रध्वज आदि कितने वीरों ने अपने अखंड प्रताप से सारी मेदिनी को रुपाया था और असमिया समाज को प्रधानता दिलाई थी।'

18वीं शताब्दी तक इस क्षेत्र में अनेक आक्रमण होते रहे। परंतु सफलता नहीं मिली। ऐबक के सरदार बख्तियार खिलजी (1206) से औरंगज़ेब के काल तक लगभग 18 बार उन्हें परास्त किया गया। बड़फूकन जैसे विजेताओं ने 1670 में मुगलों को पराजित किया।

असमी एक बहुत वीर कौम थी जिसने एक लंबे समय तक विदेशी आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना किया।

यहां पर लंबे समय तक अहोम शासकों का प्रभुत्व रहा। रुद्रासिंघा (1694-1714) को पूर्वी भारत का 'शिवाजी' माना जाता है। महाराजा शिवसिंह (1714-1744) शांत स्वभाव का था, अत: वह पूर्व भारत को पूर्णत: मुक्त न कर सका। सर्वप्रथम असम में अंग्रेज़ों का प्रवेश 1792 में हुआ। असम तथा उत्तर-पूर्वी क्षेत्र की ओर लार्ड कार्नवालिस ने विशेष ध्यान दिया। उसने 1792 में कैप्टन वेल्श (Velsh) को इस क्षेत्र की भौगोलिक रचना, आर्थिक संसाधन तथा व्यापारिक संभावनाओं की जानकारी के लिए भेजा। अपने ही सरदारों के झगड़ों से मुक्ति पाने के लिए अहोम राजा ने अपनी सहायता के लिए बर्मा (ब्रह्म देश) से सेना बुलाई। बर्मा ने सहायता की, बाद में असम पर अत्याचार किए और 1824 में अंग्रेज़ों से मदद ली।

19वीं शताब्दी के प्रारंभ तक यहां पर अहोम शासकों का प्रभुत्व रहा। अंग्रेज़ों ने इस ओर विशेष ध्यान 1824 से दिया। 1826 में बर्मा के साथ प्रथम युद्ध के बाद यांदाबू की संधि से मणिपुर में एक स्वतंत्र राज्य को स्वीकार किया गया, वहां के समुद्र तटों पर अंग्रेज़ों का प्रभाव स्थापित हो गया और असम, कछार और जयंतिया अंग्रेज़ों के अधिकार में आ गए। मणिपुर में 1885 में सीधे अंग्रेजी प्रभुत्व स्थापित हो गया। वस्तुत: महाभारत' काल से स्वतंत्र असम, आपस की फूट के कारण अंग्रेज़ों के हाथों में चला गया। इससे ईस्ट इंडिया कंपनी की उत्तर-पूर्व सीमा सुरक्षित हो गई। बाद में 1824 से 1874 तक यह क्षेत्र बंगाल का भाग रहा। 1874-1905 तक यह एक चीफ़ कमिश्नर के अधीन रहा और 1905 में

बंग-भंग होने पर पूर्वी बंगाल से 1912 तक जुड़ा रहा। 1912-1921 तक पुनः चीफ़ कमिश्नर के अधीन रहा और 1921-1947 तक एक गवर्नर के अधीन रहा।

❐ *दिल्ली के इर्द-गिर्द के इलाके*

दिल्ली के चारों ओर के क्षेत्रों में आगरा व मथुरा में जाटों का प्रभाव था। राजधानी के निकट होने के कारण मुगल अत्याचारों का सर्वाधिक प्रहार इन पर होता था। अतः समय-समय पर जाट किसानों ने मुगल साम्राज्य का विरोध किया। इससे पूर्व 1669 और 1688 में मुगलों द्वारा इनके विद्रोहों का दमन किया गया था, परंतु जाट सतत संघर्ष करते रहे।

औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात जाट किसानों में अशांति और भी अधिक तीव्र हो गई। दिल्ली के निकट 1715 में भरतपुर में एक जाट राज्य की स्थापना भी हुई। इसकी स्थापना चूरामन और उसके भतीजे बदनसिंह ने की थी। थीम नामक स्थान पर एक मज़बूत किले का निर्माण किया गया था। बदनसिंह के दत्तक पुत्र सूरजमल (1756-1763) के शासनकाल में यह राज्य बहुत शक्तिशाली हो गया था। वह एक योग्य शासक, विजेता और राजनीतिज्ञ था। उसने अपने राज्य का विस्तार पूर्व में गंगा से लेकर दक्षिण में चंबल तक और पश्चिम में आगरा सूबे से उत्तर में दिल्ली के सूबे तक फैलाया था। पानीपत के तीसरे युद्ध के समय राजा सूरजमल ने मराठा सेनापति सदाशिव राव को खुले मैदान में न लड़कर गोरिल्ला युद्ध की सलाह दी थी। न मानने पर वह रण के मैदान से हट गया। 1763 में राजा सूरजमल की मृत्यु हो गई। उसके मरते ही जाट राज्य का पतन होने लगा और शीघ्र ही वह छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट गया।

नादिर शाह के आक्रमण

मुहम्मद शाह के शासनकाल में नादिर शाह का आक्रमण मुगल साम्राज्य के लिए एक बहुत बड़ा झटका था, जिसने मुगल साम्राज्य की नींव को जर्जरित कर दिया। नादिर कुली का जन्म 1688 में तुर्कमान वंश के एक गरीब परिवार में हुआ था। उसका पिता एक गड़रिया था, जो कि भेड़ों की ऊन से टोपियां बनाता था। नादिर कुली एक साहसी और महत्त्वाकांक्षी तुर्क था। प्रारंभ में उसने कुछ मामूली सरदारों के यहां नौकरी की, बाद में वह डाके भी डालने लगा। परंतु उसने फ़ारस से अफ़गानों को निकालने में भी मदद की थी। फ़ारस का राजा उससे इतना अधिक प्रसन्न हुआ कि अपने राज्य का कुछ भाग उसे दे दिया। 1736 में सफ़वी वंश के अंतिम सम्राट के मर जाने पर वह नादिर शाह की उपाधि धारण कर फ़ारस का शासक बन गया।

शासक बनते ही उसने अपने राज्य का विस्तार किया। मार्च 1738 में उसने कंधार पर अधिकार कर लिया। उसने भारत पर भी दृष्टि डाली। भगोड़े अफ़गानों को पनाह देने के विरोध में उसने एक दूत दिल्ली भेजा जिसकी जलालाबाद में मुगल सैनिकों ने हत्या कर दी। नादिर शाह इससे बड़ा कुपित हुआ। वस्तुतः वह भारत की राजनीतिक स्थिति से परिचित था। वह भारत की अपार संपत्ति के लिए भी लालायित था। वह दिल्ली के शासक की अयोग्यता, दरबार की परस्पर फूट एवं साम्राज्य में व्याप्त भ्रष्टाचार और सैनिक कमज़ोरियों से अवगत था। नादिर शाह ने मुहम्मद शाह से अपने राज्य में विद्रोही अफ़गानों को शरण न देने के लिए कहा, पर मुहम्मद शाह ने इसकी कोई परवाह नहीं की।

अतः नादिर शाह ने द्रुतगति से अफ़गानिस्तान पर आक्रमण करके उसे जीत लिया और सेनाएं शीघ्र ही पंजाब तक पहुंच गईं। पेशावर और लाहौर पर अधिकार कर वह दिल्ली की ओर बढ़ा। नादिर शाह के इस आक्रमण से मुगल सम्राट मुहम्मद शाह घबरा गया। एक विशाल सेना, निज़ाम-उल-मुल्क, खान दौरान और कमरुद्दीन को साथ लेकर वह करनाल पहुंचा। 24फ़रवरी, 1739 में दोनों सेनाओं के बीच करनाल

में युद्ध हुआ। सआदत खां की सेनाएं भी मुगलों से आ मिलीं। करनाल का युद्ध केवल तीन घंटे चला। इस युद्ध में खान दौरान मारा गया और सआदत खां कैद कर लिया गया। निज़ाम-उल-मुल्क ने शांतिदूत का कार्य किया। उसने शांति वार्ता में यह तय किया कि वह मुगल सम्राट नादिर शाह को 50 लाख रुपए देगा, जिसमें 20 लाख रुपए की राशि का तुरंत भुगतान करेगा। लेकिन परस्पर की गुटबंदी और द्वेष के कारण सआदत खां ने नादिर शाह से भेंट की और उसे उकसाया कि यदि नादिर शाह दिल्ली पर आक्रमण करे तो उसे 20 लाख की बजाए 20 करोड़ रुपए मिल सकते हैं। सुझाव को उचित मानकर नादिर शाह दिल्ली की ओर चला और 20मार्च, 1739 को वह दिल्ली पहुंच गया, जहां उसके नाम का खुतबा पढ़ा गया और सिक्के भी जारी किए गए।

एक प्रकार से अब मुगल साम्राज्य नष्ट हो गया। लेकिन दो दिन बाद ही दिल्ली में यह अफवाह फैली कि नादिर शाह की मृत्यु हो गई, जिससे विद्रोह हो गया और नादिर शाह के बहुत से सैनिक मार दिए गए। नादिर शाह को जब यह पता चला तो वह क्रोध से आगबबूला हो गया, उसने सामूहिक नरसंहार की आज्ञा दे दी। लगभग पांच घंटे तक भयंकर नरसंहार और लूटमार होती रही। ऐसा कहा जा सकता है कि लगभग 30,000 व्यक्ति हताहत हुए। इसके बाद नादिर शाह दिल्ली में दो महीने ठहरा और फिर फ़ारस वापस लौट गया। इसी बीच उसने अमीरों और सामान्य जनता को कष्ट दिए। सआदत खां को 20 करोड़ रुपए एकत्रित करके नहीं देने पर कठोर यातनाएं दी गईं और अंततः उसे ज़हर देकर मार दिया गया। नादिर शाह लगभग 70 करोड़ रुपए की धनराशि और शाहजहां का बनवाया हुआ तख्ते ताऊस (Peacock throne) तथा कोहिनूर हीरा लेकर वापस लौटा। मुहम्मद शाह को पुनः दिल्ली का सम्राट बना दिया गया।

नादिर शाह के इस आक्रमण से मुगल साम्राज्य की प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगा। सिंध के पार का प्रदेश मुगलों के हाथ से जाता रहा। धन-जन की अपार हानि हुई। मुगल सेना की कमज़ोरी शीघ्र ही मराठों और विदेशी कंपनियों की निगाह में आ गई।

अहमद शाह अब्दाली के आक्रमण

भारत पर आक्रमण के बाद नादिर शाह की क्रूरता और खूनखराबे से ईरान की जनता का विश्वास उससे हट गया और ईरान के सैनिकों ने उसको मारने का षड्यंत्र किया। 1747 में नादिर शाह का वध कर दिया गया। अब्दाली पहले कंधार का स्वतंत्र शासक बना और तत्पश्चात उसने काबुल जीत लिया। अफ़गानों ने उसे नेता के रूप में स्वीकार किया और उसकी सेना में भाग लिया। अफ़गानिस्तान पर कब्ज़ा कर उसने भी भारत की ओर दृष्टि डाली। भारत पर बार-बार आक्रमण करना, लूटमार करना और वापस लौटना उसका काम बन गया। उसने पश्चिम पंजाब पर नादिर शाह के उत्तराधिकारी के रूप में अपना अधिकार बताया। 1748 में उसने पंजाब पर पहला आक्रमण किया। 1749 में पुनः आक्रमण कर पंजाब के गवर्नर मुईनुलमुल्क को परास्त किया और 14,000 रुपए वार्षिक कर लेकर लौटा। 1752 में पंजाब पर तीसरा आक्रमण किया तथा पंजाब और सिंध प्रदेश पर कब्ज़ा कर लिया। 1756 में वह चौथी बार आक्रमण करते हुए दिल्ली तक बढ़ गया और मथुरा व आगरा में लूटमार की। वापस लौटते समय वह भारत के आलमगीर द्वितीय के सरदार इमादुलमुल्क को वज़ीर बना गया। इसके साथ ही रुहेल सरदार नजीबुद्दौला को मीरबख्शी और अपना प्रतिनिधि बनाया। पानीपत की तीसरी लड़ाई के अतिरिक्त 1767 तक अब्दाली ने भारत की कमज़ोरी का लाभ उठाकर बार-बार आक्रमण किए।

नादिर शाह और अहमद शाह अब्दाली के निरंतर आक्रमण से भारत की पहले से ही जर्जरित अवस्था

और खराब हो गई। सैनिक दुर्बलता और आर्थिक रिक्तता भी काफ़ी बढ़ी। अत: स्वाभाविक रूप से इस स्थिति ने अन्य शक्तियों को आक्रमण के लिए प्रेरित किया।

पानीपत की तीसरी लड़ाई (1761) एवं उसका महत्त्व

मराठों ने इससे पूर्व रुहेल प्रदेश के नजीबुद्दौला और अवध के शुजाउद्दौला को पराजित किया था। वे अपनी हार को शीघ्र नहीं भूले। अहमद शाह अब्दाली ने इन दोनों से समझौता कर लिया था। साथ ही अब्दाली लाहौर से अपने पुत्र के भगाए जाने से नाराज़ था। अत: उसने भारत पर एक विशाल सेना लेकर आक्रमण किया। 1759 में उसने पंजाब पर आक्रमण कर, वहां से मराठों को भगा दिया और शीघ्र दिल्ली के निकट तक पहुंच गया। पेशवा बाजीराव ने अपने चचेरे भाई सदाशिव भाउ और अपने नाबालिग पुत्र विश्वासराव के नेतृत्व में एक सेना भेजी। इस मराठा सेना ने 22अगस्त, 1760 को दिल्ली पर अधिकार कर लिया। भरतपुर के प्रसिद्ध जाट शासक सूरजमल ने गोरिल्ला युद्ध करने का सुझाव दिया, पर सदाशिव भाउ ने स्वीकार नहीं किया। 14जनवरी, 1761 को अहमद शाह अब्दाली के साथ भयंकर युद्ध हुआ। प्रारंभ में मराठों को सफलता मिली, परंतु अंत में उनकी पराजय हुई। मराठों को भयंकर विनाशलीला देखनी पड़ी। मराठा सेमापति सदाशिव भाउ व विश्वासराव इस युद्ध में मारे गए। होल्कर मैदान छोड़कर भरतपुर चला गया। सिंधिया ने पांव घायल होने के कारण मैदान छोड़ दिया। मराठों के लगभग 28,000 सैनिक मरे। अनेक सैनिक वापस महाराष्ट्र नहीं लौटे, वहीं आसपास बस गए। स्वयं पेशवा एक विशाल सेना लेकर चला, परंतु वह नर्मदा तक पहुंचा था कि रास्ते में उसे महाविनाश का समाचार मिला। एक पत्र में लिखा था –

'दो मोती (विश्वासराव और सदाशिवराव) टूट गए हैं। सोने की मोहरें (मराठा सरदार) खो गई हैं। और चांदी-तांबे (छोटे सरकार और सैनिक) की हानि का अनुमान ही नहीं हो सकता।'

इस भयंकर दुख को पेशवा झेल न सका और कुछ समय बाद उसकी मृत्यु हो गई। आज उन हज़ारों सैनिकों की स्मृति में पानीपत के निकट पानीपत के तीनों युद्धों का एक स्मारक बना हुआ है।

इस युद्ध में पेशवा की पराजय का मुख्य कारण सैन्य दोष और भारतीय राजाओं एवं सरदारों में एकता की कमी रहा। अहमद शाह अब्दाली की जहां कुछ देशद्रोही शासकों ने मदद की, मराठे इस युद्ध में अकेले पड़ गए। मराठा सरदार परस्पर सहयोग से नहीं लड़े और भारतीय शासकों ने भी उनकी कोई मदद नहीं की। मराठों ने अनेक लोगों को पहले ही नाराज़ किया हुआ था। राजपूताना, पंजाब अथवा दिल्ली के आसपास के जाटों का सहयोग वे प्राप्त नहीं कर सके। इसके साथ ही मराठा सेना अनुशासन, संख्या, प्रशिक्षण में भी पीछे थी।

कुछ भी हो, पानीपत की तीसरी लड़ाई एक निर्णायक लड़ाई थी। औरंगज़ेब के पश्चात मुगल शक्ति के पतन पर मराठा एक नवशक्ति के रूप में उभर रहे थे, परंतु इस पराजय से मराठा संघ बिखर गया। सबसे बड़ी बात यह हुई कि भारत में ब्रिटिश सत्ता का मार्ग सुलभ हो गया।

पानीपत के तीसरे युद्ध को तत्कालीन भारत का दर्पण कहा जा सकता है, जिसमें जहां एक ओर भारतीय सैनिकों की दुर्बलता और राष्ट्रीय भावना की कमी स्पष्ट झलकती है, वहीं ऐसी शक्तियों का भी पर्दाफाश होता है, जो विदेशी आक्रमणकारियों से समझौता कर रही थीं और उनके आगमन के लिए उत्सुक थीं। मुगल साम्राज्य तो अब एक बड़े नाम की छायामात्र रह गया था। पानीपत का युद्ध एक घमासान युद्ध था।

अभ्यास प्रश्न

1. 18वीं शताब्दी में भारत की राजनीतिक स्थिति की चर्चा कीजिए। देश की राजनीतिक स्थितियों का तत्कालीन आर्थिक स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा ?
2. 18वीं शताब्दी में भारत की सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति का वर्णन कीजिए।
3. भारत में 18वीं शताब्दी में अर्धस्वतंत्र सूबों के अभ्युदय के कारणों की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
4. प्रथम तीन पेशवाओं के अधीन मराठा शक्ति के विकास का वर्णन कीजिए।
5. मुगल दरबार में दरबारी वर्ग के संघटन का वर्णन कीजिए। क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि मुगल दरबार का विभाजित दरबारी वर्ग मुगल साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी था ?
6. टीपू सुल्तान के नेतृत्व के गुणों का मूल्यांकन कीजिए।
7. 18वीं शताब्दी में सिक्खों का एक प्रमुख राजनीतिक शक्ति के रूप में किस प्रकार उदय हुआ ?
8. 18वीं शताब्दी में उत्तर-पूर्व भारत की राजनीतिक परिस्थितियों पर विचार प्रकट कीजिए।
9. 18वीं शताब्दी में दिल्ली एवं उसके आस-पास की राजनीतिक दशा का वर्णन कीजिए। मुगल शक्ति के सीमित होने के क्या कारण थे ?
10. आमेर के राजपूत शासक सवाई जयसिंह की उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए।
11. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—
    (क) हैदराबाद के निज़ाम
    (ख) अवध नवाब शुजाउद्दौला
    (ग) राजा सूरजमल
    (घ) बाजीराव प्रथम
    (ङ.) प्रथम आंग्ल-मैसूर युद्ध (1767-1769)
    (च) पानीपत का तृतीय युद्ध (1761)
    (छ) हैदर अली

परियोजना कार्य

- 1750 के भारत के प्रमुख राज्यों को मानचित्र में दिखाइए।

2
अध्याय

यूरोपीय कंपनियों का आगमन और ब्रिटिश सत्ता का उदय

यूरोपीय कंपनियां और भारत में उनकी स्थापना

भारतवर्ष अपनी सांस्कृतिक धरोहर और आर्थिक समृद्धि के लिए अतीत काल से विश्वविख्यात रहा है। भारत की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उन्नति ने यूरोप और एशिया के अनेक विद्वानों और यात्रियों को प्रभावित किया था। कतिपय ब्रिटिश इतिहासकारों ने यूरोप निवासियों के आगमन का उद्देश्य भारतीयों को 'सभ्य बनाना' और 'यहां एक श्रेष्ठ सभ्यता का विकास करना' कहा, परंतु अधिकतर यूरोपीय यात्रियों और व्यापारियों के आगमन का उद्देश्य धन की प्राप्ति, व्यापारिक समृद्धि और ईसाइयत का प्रचार करना था, जो कालांतर में राजनीतिक प्रभुत्व, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के रूप में बदल गया।

तत्कालीन विद्वानों और यात्रियों द्वारा किए गए वर्णनों यहां तक कि साहित्यिक ग्रंथों के अध्ययन से भी यूरोप निवासियों में अतुल धन प्राप्ति के लिए भारत आगमन के प्रति ललक का पता चलता है। महान लेखक शेक्सपियर ने भारत भूमि को विश्व के लिए 'महान अवसरों की चरम सीमा' कहा है तो महान कवि मिल्टन ने विभिन्न देशों की विशेषता बताते हुए भारत के धन की चर्चा की है। जर्मन दार्शनिक हेगेल ने जहां भारत को 'मनोकामना की भूमि' बतलाया, वहां स्विस लेखक लैंडस्टोंन ने लिखा, 'जाने के अनेक रास्ते व माध्यम हैं, पर उद्देश्य एक ही था चमत्कारिक देश भारत पहुंचना, जो देश धन से लबालब भरा है।' इस चिंतन में सत्यांश है कि अमेरिका की खोज, आस्ट्रेलिया के बहु भाग की जानकारी और इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति की सफलता के रहस्य में भारत का सोना-चांदी एक महत्वपूर्ण और निर्णायक तत्व रहा है।

पुर्तगालियों का भारत आगमन

प्राचीन काल से ही भारत के यूरोप से संबंध रहे हैं। उसी समय से भारत का माल यूनान और रोम तक जाता था। पंद्रहवीं शताब्दी के पहले तक यह व्यापार तीन मार्गों द्वारा पूरा होता था। पहला मार्ग मध्य एशिया की आक्सस नदी के किनारे होता हुआ कैस्पियन सागर और काले सागर तक जाता था। दूसरा मार्ग सीरिया होता हुआ भूमध्य सागर तक जाता था

और तीसरा मार्ग लाल सागर से होता हुआ मिस्र तक और वहां से भूमध्य सागर पार कर यूरोपीय देशों को जाता था। लेकिन 1453 में तुर्कों की कुस्तुनतुनिया पर विजय होने से पाश्चात्य देशों के लिए ये तीनों मार्ग बंद हो गए। अब पाश्चात्य देश भारतीय सोने-चांदी की भूख और पूर्व के गर्म मसाले प्राप्त करने के लिए नए-नए मार्ग ढूंढ़ने को मजबूर हुए। ये गर्म मसाले यूरोपियों के भोजन की मुख्य आवश्यकताओं में से थे, क्योंकि जाड़ों में बासी मांस सड़ जाता था। उसे खाने योग्य रखने में गर्म मसाले बड़े उपयोगी थे, इसी कारण गर्म मसालों का यूरोप में पर्याप्त प्रयोग होता रहा।

1492 में स्पेनवासी कोलंबस भारत की खोज के लिए चला, लेकिन वह अमेरिका की धरती पर पहुंच गया। 20मई, 1498 का दिवस भारत और यूरोप के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना कहा जा सकता है। उक्त दिवस भारत की धरती पर यूरोपीय, एक पुर्तगाली नाविक वास्को-डि-गामा अपने चार जहाज़ों और एक सौ अट्ठारह नाविकों के साथ उतरा। उसके भारत पहुंचने से समस्त यूरोप में एक हलचल-सी मच गई। ऐडम स्मिथ ने अमेरिका की खोज और आशा अंतरीप की ओर से भारत के मार्ग की खोज को 'मानवीय इतिहास की दो महानतम व अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटनाएं' बतलाया है। वास्तव में इससे पहले पुर्तगाल की राजधानी लिस्बन में वहां के सम्राट हेनरी और जॉन द्वितीय ने अनेक बार भारत की खोज के लिए कई सर्वश्रेष्ठ नाविकों को शानदार विदाइयां दी थीं। परंतु इससे पहले उन्हें सफलता न मिली थी। जहाज़ अंधमहासागर को पार कर अफ्रीका के पश्चिमी समुद्र का चक्कर लगाते और जब अफ्रीका के दक्षिण में पहुंचते तो प्रायः जल समाधि ले लेते थे। दुःखी होकर इस स्थान का नाम 'केप ऑफ स्टॉर्म' रख दिया गया था। 1486 में बार्थोलोमियोडियाज़ पहली बार अफ्रीका के दक्षिण समुद्र तक पहुंच सका। अब 'केप ऑफ



वास्को-डि-गामा

स्टॉर्म' का नाम बदलकर 'केप ऑफ गुड होप' अर्थात आशा अंतरीप रख दिया गया था।

नवीनतम खोजों से ज्ञात होता है कि वास्को-डि-गामा स्वयं अपने बलबूते पर भारत न पहुंचा था, बल्कि वह मोज़ांबिक पहुंचने पर एक भारतीय व्यापारी के जहाज़ के पीछे-पीछे चलकर कालीकट तक पहुंच पाया था। अतः भारत तक उसकी यात्रा 'वास्को-डि-गामा की नवीन खोज' न थी। एक प्रकार से उसने इस मार्ग का अनुकरण किया था। कुछ भी हो, कालीकट पहुंचने पर वहां के हिंदू राजा 'जमोरिन' ने उसका स्वागत और आतिथ्य-सत्कार किया। लेकिन पुर्तगालियों ने इस स्वागत और सम्मान का अनुचित लाभ उठाया। 1500 में पेड्रोअल्वरेज काबराल ने लिस्बन में तेरह जहाज़ों का एक बेड़ा और सेना लेकर जमोरिन को नष्ट करने की कोशिश की। इस तरह एक और जहाज़ी बेड़ा भारत भेजा गया। परंतु ये दोनों प्रयास असफल रहे। 1502 में पुनः वास्को-डि-गामा भारत आया और मालाबार तटों पर कुछ प्रयास किए। 1509

में अल्बुकर्क (Albouquerque) नामक पुर्तगाली गवर्नर (1509-1515) बनकर भारत आया। विश्वासघात और पारस्परिक फूट का लाभ उठाकर नवंबर 1510 में पुर्तगालियों ने गोवा पर अपना अधिकार कर लिया। यह अभी तक बीजापुर सल्तनत के अधीन था। इन्होंने ईसाइयत का मनमाने ढंग से प्रचार किया और व्यापार को बढ़ाया। शीघ्र ही पुर्तगाल की राजधानी लिस्बन भारत की वस्तुओं से भर गई।

पुर्तगालियों ने कालीकट को खूब लूटा। अब उन्होंने सुदूर पूर्व तक बढ़ने के प्रयास किए। पुर्तगाली गवर्नर अल्फ्रेंज़ी डीसूज़ा ने लिखा कि 'पुर्तगालियों ने एक हाथ में तलवार और दूसरे में धर्मदंड लेकर भारत में प्रवेश किया, किंतु ज़ब उन्हें बहुत अधिक सोना नज़र आया तो क्रॉस को अलग रखकर, एक हाथ से अपनी जेबें भरनी शुरू कर दीं और जब उनकी जेबें इतनी भारी हो गईं कि उन्हें एक हाथ से नहीं संभाल सके तो उन्होंने अपनी तलवारे भी फेंक दीं।'

डचों का आगमन

व्यापार में भारी लाभ ने यूरोप के अन्य देशों को भी भारत और पूर्व के अन्य देशों की ओर आकर्षित किया। नीदरलैंड पर स्पेन का प्रभुत्व और 1580 में स्पेन के अधीन पुर्तगाल के होने से डच व्यापारी बड़े दु:खी थे। 1595 में कुछ डच व्यापारियों ने एक कंपनी स्थापित की और आठ जहाज़ भेजे, चार जहाज़ आशा अंतरीप के मार्ग से और चार उत्तरी पूर्वी मार्ग से। वस्तुत: डच व्यापारी गर्म मसालों के व्यापार में सर्वाधिक रुचि ले रहे थे, कार्निलियस ह्यूटमैन नामक एक डच व्यापारी ने बांटम के राजा से संधि की और कुछ सामान लेकर अपने देश पहुंचा।

1602 में हॉलैंड की सभी छोटी-मोटी कंपनियों ने मिलकर एक डच ईस्ट इंडिया कंपनी बनाई और उसी साल एक शक्तिशाली जहाजी बेड़ा पूरब भेजा। बांटम के निकट पुर्तगाली बेड़े से इसका टकराव हुआ। इसमें डच जीते। इन्होंने सुमात्रा प्रदेश में अपना प्रभाव बढ़ाया। 1609 में डचों ने मसालों के द्वीप में स्थित अंबोनिना को पुर्तगालियों से छीन लिया। अंग्रेज़ों से भी टकराव हुआ। 1623 में डचों ने अंग्रेज़ों को अंबोनिया से भगा दिया। अनेक अंग्रेज़ों को कैद कर लिया गया। अंग्रेज़ एजेंट और उसके कई साथियों की हत्या कर दी गई। दोनों के बीच संघर्ष चलता रहा। 1639 से 1658 के बीच डचों ने पुर्तगालियों को मलक्का (1641) और श्रीलंका (1658) के तटीय भागों से भगा दिया। अत: डचों ने भारत के पूर्वी तट पर और गंगा घाटी के निचले प्रदेशों पर भी अपनी कुछ व्यापारी कंपनियां स्थापित कीं। उन्होंने सूरत, भड़ौच, कैम्बे, अहमदाबाद, कोचीन, मछलीपट्टम, चिनसुरा और पटना में अनेक व्यापारिक केंद्र बनाए। वे भारत से सूती वस्त्र और कच्चा रेशम, शोरा, अफीम और नील निर्यात करते थे, परंतु शीघ्र ही वे भी अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों के बीच की स्पर्धा के शिकार हुए। डचों की कंपनियां शीघ्र ही प्रभावहीन हो गईं जिसका प्रमुख कारण डच सरकार का कंपनी के कार्यों में अत्यधिक हस्तक्षेप था। सरकारी प्रभुत्व को ज़्यादा महत्त्व दिया गया, व्यापार को कम। इसके साथ ही डचों का व्यवहार भी संतोषजनक न था।

अंग्रेज़ों का भारत में आगमन

1579 में सर फ्रांसिस ड्रेक नामक एक अंग्रेज़ नाविक (समुद्री डाकू) ने लिस्बन जाने वाले एक पुर्तगाली जहाज को लूटा। इस लूट के माल से उसे भारत की आर्थिक समृद्धि के बारे में पता चला और कुछ नक्शे भी प्राप्त हुए। इससे उसे आशा अंतरीप की ओर से जाने के मार्ग का पता चला। इंग्लैंड की महारानी एलिज़ाबेथ प्रथम ने अनेक नाविकों को प्रोत्साहन दिया। फिंच, कैप्टन रैमंड और जान मिलडेनहाल ने प्रयास किए। इसी बीच 1588 में स्पैनिश आर्मेडा (जहाज़ी बेड़े) पर अंग्रेज़ों की विजय ने उन्हें और प्रोत्साहित किया।

24 सितंबर, 1599 को लंदन में लॉर्ड मेयर की अध्यक्षता में भारत के साथ सीधा व्यापार करने के लिए एक संस्था बनाने पर विचार हुआ। शीघ्र ही

इसके लिए 30,133 पौंड, 3 शि., 8 पैंस राशि इकट्ठी हुई। अगले साल 23 सितंबर, 1600 को पुनः फाउंडर हॉल में एक बैठक हुई और धनराशि बढ़कर 68,373 पौंड हो गई। शीघ्र ही 'दी गवर्नर एंड कंपनी ऑफ मर्चेंट्स ऑफ लंदन ट्रेडिंग इन टु दी ईस्ट इंडीज़' के नाम से ईस्ट इंडिया कंपनी शुरू हुई। 31दिसंबर, 1600 को महारानी एलिज़ाबेथ प्रथम (1558-1603) ने इस कंपनी को एक अधिकार-पत्र प्रदान किया। कंपनी के हिस्सेदारों की शुरू में संख्या 217 थी और इसका पहला गवर्नर टॉमस स्मिथ था। रानी एलिजाबेथ प्रथम भी उसके हिस्सेदारों में से एक थीं। प्रारंभ में इस कंपनी को 'साहसी लोगों की मंडली' कहा गया, क्योंकि इसके सदस्य लूटने में दक्ष थे। इतना ही नहीं, प्रारंभ में कंपनी के मालिकों ने यह भी तय किया कि कंपनी की नौकरी में किसी शरीफ व्यक्ति को नहीं रखेंगे।

1608 में कप्तान हाकिंस के नेतृत्व में 'हैक्टर' नामक पहला अंग्रेज़ जहाज़ भारत पहुंचा। हाकिंस ने मुगल सम्राट जहांगीर से सूरत के दरबार में एक व्यापारिक कोठी खोलने का फ़रमान मांगा, परंतु पुर्तगालियों की अड़चन से यह संभव नहीं हुआ। वस्तुतः यह एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग था। एक लेखक के अनुसार 'जहांगीर के दरबार में किसी को इस बात की कल्पना भी नहीं हो सकती थी कि दूर पश्चिम की एक छोटी-सी, निर्बल, अर्ध सभ्य जाति का जो दूत उस समय दरबार में घुटने टेक कर ज़मीन चूम रहा था, उसी के वंशज एक दिन मुगल साम्राज्य के अंग-भंग होने पर शासन करने लगेंगे।' 1613 में अंग्रेज़ों को व्यापार के लिए एक कोठी खोलने और एक दूत दरबार में रखने की अनुमति मिली। 1614 में भारतीय सूत, नील और अन्य सामग्री लेकर पहला जहाज इंग्लैंड पहुंचा, जिस पर भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर सौ गुणा से दो सौ गुणा तक लाभ हुआ। 1615 में इंग्लैंड के सम्राट जेम्स प्रथम की ओर से राजदूत के रूप में सर टॉमस रो जहांगीर के दरबार में पहुंचा और व्यापारिक फैक्ट्रियां खोलने की अनुमति मांगी।

शीघ्र ही सूरत अंग्रेज़ों की कंपनी का केंद्र बन गया। 1633 में एक कोठी मछलीपट्टम में खोली गई। 1640 में मद्रास (अब चेन्नई) और वहां फोर्ट सेंट जॉर्ज का निर्माण हुआ। 1642 में बालासोर में अंग्रेज़ों ने एक व्यापारिक कोठी बनाई। 1668 में कंपनी को बंबई (अब मुंबई) प्राप्त हुआ जो ब्रिटिश सम्राट चार्ल्स द्वितीय को 1661 में पुर्तगाली राजकुमारी ब्रेगांज़ा की केथरीन से विवाह करने पर दहेज के रूप में मिला था। बंबई का द्वीप केवल 10 पौंड वार्षिक किराए पर दे दिया गया। इसी भांति 1651 में एक फैक्ट्री हुगली में और इसके बाद बंगाल में कलकत्ता (अब कोलकाता) और कासिम बाज़ार में कई कोठियां स्थापित हुईं।

17 वीं शताब्दी के अंतिम दशक में ईस्ट इंडिया कंपनी के विरोधी सौदागरों ने एक नई कंपनी स्थापित की, जिसका नाम 'न्यू कंपनी' रखा गया। इस नई कंपनी ने भी घूस व रिश्वत की नीति अपनाई। इसने इंग्लैंड की सरकार को 20,00,000 पौंड का कर्ज़ दिया। शीघ्र ही दोनों कंपनियों में परस्पर टकराव हो गया। आखिर में 1702 में दोनों कंपनियों ने मिलकर एक संयुक्त कंपनी बनाने का विचार किया। अतः 1709 में कंपनी का नाम 'यूनाइटेड कंपनी ऑफ मर्चेंट्स ऑफ इंग्लैंड ट्रेडिंग टु दी ईस्ट इंडीज़' रख दिया गया, जो सामान्यतः ईस्ट इंडिया कंपनी के नाम से प्रसिद्ध हुई। कंपनी ने अपना व्यापार तेज़ी से बढ़ाया और स्थानीय राजाओं, नवाबों से भी संबंध स्थापित किए। 1717 में फर्रुखसियर ने एक फ़रमान द्वारा कई अन्य सुविधाएं कंपनी को दे दीं।

कंपनी की बढ़ती हुई शक्ति से शीघ्र ही बंगाल का नवाब अलीवर्दी खां (1740-1756) चौकन्ना हो गया। कंपनी के व्यापारी अपने व्यापारिक केंद्रों द्वारा हज़ारों भारतीय जुलाहों पर विपरीत प्रभाव डाल रहे थे

और उनकी सहायता भारतीय सौदागर, बैंकर, व्यापारी भी कर रहे थे, अतः अलीवर्दी खां भारतीय समुद्री व्यापार को चौपट होते देख सशंकित हो उठा।

फ्रांसीसी कंपनी की स्थापना

फ्रांसीसियों का आगमन भारत में सबसे बाद में हुआ। उन्हें भी भारत का सोना-चांदी और व्यापारिक लोभ दूर न रख सका। 1642 में रिचेल्यू (Richelieu) ने तीन कंपनियां स्थापित कीं, परंतु कुछ साल बाद सरकारी और धार्मिक हस्तक्षेपों के कारण वे समाप्त हो गईं। चौदहवें लुई के शासनकाल में इसके मंत्री कालबर्ट (Collbert) ने 1664 में एक कंपनी स्थापित की जिसका उद्देश्य राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना, फ्रैंच सरकार को मज़बूत बनाना और ईसाइयत का प्रचार करना था। 1674 में फ्रांसिस मार्टिन ने पांडिचेरी की स्थापना की और चंद्रनगर (बंगाल) में एक फैक्ट्री स्थापित की, जहां से सूती और सिल्क वस्त्र खरीद कर निर्यात के लिए भेजे जाने लगे। परंतु यह कंपनी भी यूरोपीय स्पर्धा के कारण लाभकारी न रही। 1720 में पुनः इसे बनाया गया। 1721 में मॉरीशस और 1724 में मालाबार तट पर माही में प्रभाव स्थापित किया। 1742 में डूप्ले के पांडिचेरी का गवर्नर बनने पर यह अंग्रेज़ों से विभिन्न मुद्दों पर विवादों में उलझ गई।

यूरोपीय कंपनियों का भारत में आगमन एक परिवर्तनकारी काल था। विभिन्न कंपनियों के आने से न केवल आर्थिक हानि और आर्थिक शोषण का काल प्रारंभ हुआ, बल्कि इसने मुगलकालीन प्रचलित व्यवसायों, शासन प्रणाली, कानून, राजस्व प्रणाली, सैनिक स्वरूप को भी बदल दिया। इन कंपनियों के आगमन ने भारतीय रहन-सहन, खान-पान और सामाजिक जीवन, चिंतन, कला और सोच को भी प्रभावित किया। इससे भारतीयों की परस्पर फूट, द्वेष, राष्ट्रीय भावना का अभाव और सैन्य दोष भी उभर कर आए। साथ ही भारत में एक लंबे दुःख-दैन्य, गरीबी और शोषण का दौर प्रारंभ हुआ।

दक्षिण भारत में आंग्ल-फ्रांसीसी संघर्ष

अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य में भारत की राजनीतिक स्थिति के कारण अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों के बीच प्रतिद्वंद्विता केवल व्यापारिक न रहकर राजनीतिक रूप धारण करती गई। वास्तव में भारत में मज़बूत केंद्रीय शासन का अभाव, राजनीतिक अस्थिरता, प्रशासनिक भ्रष्टाचार, आपस की फूट और स्वार्थ-भावना ने विदेशियों को इस प्रतियोगिता के लिए प्रोत्साहित किया। परिणामस्वरूप अंग्रेज़ों ने सभी प्रकार के धूर्ततापूर्ण और अनैतिक मार्गों को अपनाकर भारत पर विजय प्राप्त कर ली। आपस की फूट का लाभ उठाकर अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों ने भारत में अपना भाग्य आज़माना शुरू किया और इस संघर्ष की शुरुआत हुई दक्षिण भारत में कर्नाटक के तीन युद्धों के रूप में। ये युद्ध 1746 से 1763 तक होते रहे।

☐ *कर्नाटक का प्रथम युद्ध (1746-1748)*

फ्रैंच ईस्ट इंडिया कंपनी का उद्देश्य भारत में फ्रांसीसी उपनिवेश की स्थापना करना था। फ्रांसीसी गवर्नर डूप्ले ने भारत आते ही इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पहली बार फ्रांसीसी अधिकारी के नेतृत्व में भारतीयों की एक सेना का निर्माण किया। अंग्रेज़ों ने पहली बार 1746 में भारतीय सेना बनाई। प्रथम कर्नाटक संघर्ष के तीन कारण थे। पहला, यूरोप में आस्ट्रिया के उत्तराधिकारी का प्रश्न था। अंग्रेज़ और फ्रांसीसी अपने-अपने प्रभाव के व्यक्ति को गद्दी पर बैठाना चाहते थे। दूसरा, अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों में अमेरिका में औपनिवेशिक विस्तार के लिए चल रहा संघर्ष था। तीसरा, दोनों ही भारत में व्यापारिक स्वामित्व चाहते थे, क्योंकि भारत में मुगल साम्राज्य का तेज़ी से ह्रास हो रहा था।

दोनों ने ही अपनी-अपनी गृह सरकारों की अनुमति से भारत में युद्ध छेड़ दिया। अंग्रेज़ सेनापति बारनैट ने कुछ फ्रांसीसी जहाज़ों को पकड़ लिया।

फ्रांसीसी गवर्नर जनरल डूप्ले ने मॉरीशस में फ्रांसीसी गवर्नर ला बूर्डोने (La Bourdonnias) से सहायता मांगी। वह 3000 सेना लेकर कारोमंडल तट की ओर बढ़ा और अंग्रेजी सेना को हराकर 21 सितंबर को उसने मद्रास पर कब्ज़ा कर लिया। क्लाइव भी पकड़ा गया। ला बूर्डोने और डूप्ले में मद्रास पर अधिकार रखने के बारे में मतभेद था। अत: ला बूर्डोने अंग्रेजों से भारी धनराशि लेकर लौट गया। डूप्ले ने मद्रास पर पुनः आक्रमण कर उसे जीता। दूसरी ओर अंग्रेज़ों ने पांडिचेरी को जीतने का असफल प्रयास किया।

मद्रास की नवीन स्थिति में कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन ने अंग्रेज़ों से अपनी बस्तियों की सुरक्षा के लिए मदद मांगी। कर्नाटक के नवाब ने फ्रांस के खिलाफ एक सेना भेजी जिसमें लगभग 10,000 सैनिक थे। इस लड़ाई में फ्रांस की ओर से कैप्टन पेराडाइज़ (Captain Paradise) के नेतृत्व वाली सेना में केवल 230 फ्रांसीसी सैनिक और यूरोपीय ढंग से प्रशिक्षित केवल 700 भारतीय सैनिक थे। यह लड़ाई सेंट टोमे (St. Thome) के नाम से जानी जाती है, जो अदयार नदी के किनारे स्थित है। इस युद्ध में नवाब की सेनाएं पराजित हुईं।

यूरोप में युद्ध समाप्त होते ही भारत में भी संघर्ष समाप्त हो गया। ए-ला-शापल की संधि (Treaty of Aix-La-chapple) से 1748 में आस्ट्रिया युद्ध समाप्त हो गया। दोनों ने एक-दूसरे के जीते हुए प्रदेश और कैदी लौटा दिए। अंग्रेज़ों को मद्रास पुनः मिल गया।

इस युद्ध के पश्चात दक्षिण में फ्रांसीसी कंपनी एक दूसरी यूरोपीय शक्ति के रूप में उभर कर आई। इससे भारतीय सैनिकों की दुर्बलता और राजनीतिक कमज़ोरी प्रकट हुई, परिणामस्वरूप अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों के बीच संघर्ष को बढ़ावा मिला।

❐ *कर्नाटक का दूसरा युद्ध (1749-1754)*

इस युद्ध का मुख्य कारण हैदराबाद और कर्नाटक की गद्दी के उत्तराधिकार का प्रश्न और अंग्रेजों व फ्रांसीसियों की बढ़ती राजनीतिक लिप्सा थी। 21मई, 1748 को हैदराबाद के निज़ाम आसफजाह की मृत्यु हो गई और उसका पुत्र नासिर जंग (1748-1750) उसका उत्तराधिकारी बना। परंतु नासिर जंग के भतीजे, मुज़फ़्फ़र जंग (आसफजाह के पौत्र) ने उसे स्वीकार नहीं किया।

इसी तरह कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन और उसके बहनोई चंदा साहिब में भी झगड़ा हो गया। शीघ्र ही ये राजनीतिक प्रतिस्पर्धा का विषय बन गए। फ्रांसीसियों ने मुज़फ़्फ़र जंग और चंदा साहिब का साथ दिया और अंग्रेज़ों ने नासिर जंग और अनवरुद्दीन का पक्ष लिया।

डूप्ले ने राजनीतिक आकांक्षा की शीघ्र पूर्ति के लिए मुज़फ़्फ़र जंग को दक्षिण का सूबेदार और चंदा साहिब को कर्नाटक का नवाब बनाने का गुप्त आश्वासन दिया। मुज़फ़्फ़र जंग, चंदा साहिब और फ्रांसीसी सेनाओं ने मिलकर अगस्त 1749 में वैल्लूर के निकट अंबूर नामक स्थान पर अनवरुद्दीन की सेना को परास्त किया और उसे मार दिया। अनवरुद्दीन का लड़का मुहम्मद अली त्रिचनापली भाग गया। 1750 में नासिर जंग भी एक संघर्ष में मारा गया। अत: मुज़फ़्फ़र जंग को दक्कन का सूबेदार बना दिया गया। डूप्ले को कृष्णा नदी के दक्षिण भाग के मुगल प्रदेश का अवैतनिक गवर्नर बना दिया गया। हैदराबाद में फ्रांसीसी सेनापति बुस्सी के नेतृत्व में एक सेना रखी गई। 1751 में चंदा साहिब कर्नाटक का नवाब बन गया।

मुज़फ़्फ़र जंग जब अपनी राजधानी जा रहा था, तभी अचानक मारा गया। हैदराबाद में स्थित बुस्सी ने निज़ाम-उल-मुल्क के तीसरे बेटे सलामत जंग को गद्दी पर बैठाया। इसके बदले निज़ाम ने फ्रांसीसियों को वह प्रसिद्ध प्रदेश दे दिया जो उत्तरी सरकार (Northern circars) कहलाता था, जिसमें चार प्रसिद्ध ज़िले मुस्तफ़ानगर, एलोर, राजमहेंद्री और चिकाकोल आते थे।

अंग्रेज़ भी चुप न बैठे। उन्होंने नासिर जंग व स्वर्गीय अनवरुद्दीन के पुत्र मोहम्मद अली के साथ

मिलकर योजना बनाई। कर्नाटक की नवाबी के लिए मोहम्मद अली का समर्थन किया। इस समय वह त्रिचनापली के दुर्ग में फ्रांसीसी सेना से घिरा हुआ था। क्लाइव त्रिचनापली के घेरे में सफल न हुआ। अतः अंग्रेज़ों ने कर्नाटक की राजधानी अरकाट का घेरा डालने का विचार किया। क्लाइव ने 200 अंग्रेज़ों और 300 भारतीयों की सेना की सहायता से घेरा डाला और इस पर कब्ज़ा कर लिया। चंदा साहिब को त्रिचनापली का घेरा उठाना पड़ा। उसने 4000 सैनिक अरकाट जीतने के लिए भेजे पर असफल रहा।

डूप्ले ने परिस्थितियों पर नियंत्रण करने की कोशिश की, परंतु फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रमुख अधिकारियों की सहायता न मिली। युद्ध में भारी खर्च से और अमेरिका में फ्रांसीसी उपनिवेशों के निकल जाने के भय से उसने युद्ध के स्थान पर संधि-वार्ताएं प्रारंभ कीं। जनवरी 1755 में पांडिचेरी की संधि से युद्ध समाप्त हो गया। भारत में फ्रांसीसी गवर्नर जनरल गोडेहू (Godeheu) को भेजा गया, जो कंपनी का डायरेक्टर भी था। कर्नाटक का नवाब मुहम्मद अली को मान लिया गया और उत्तरी सरकार के इलाके वापस कर दिए गए। हैदराबाद में अब भी फ्रांसीसी प्रभाव बना रहा। दोनों ने भारतीय राजाओं एवं नवाबों के आंतरिक मामलों में दखल न देने का वायदा किया।

इस युद्ध में फ्रांसीसी प्रभुत्व को ठेस लगी और अंग्रेज़ों का प्रभाव बढ़ा। फ्रांसीसी सरकार ने अपनी पराजयों का दोष डूप्ले और ला बूर्डोने पर मढ़ा। ला बूर्डोने को कुछ वर्षों के लिए जेल में डाल दिया गया और डूप्ले को बड़ी आर्थिक हानि हुई।

❐ *कर्नाटक का तीसरा युद्ध (1756-1763)*

यूरोप में 1756 म पुनः युद्ध छिड़ जाने से भारत में अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों के बीच संघर्ष प्रारंभ हो गया। इस युद्ध का मुख्य कारण यूरोप में इंग्लैंड व फ्रांस के बीच लड़ा जा रहा सप्तवर्षीय युद्ध था। फ्रांस सरकार ने काउंट लाली (Count de Lally) को भारत भेजा। अप्रैल 1758 में वह भारत पहुंचा। इसी बीच अंग्रेज़ों ने बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला को हराकर बंगाल पर अधिकार कर लिया। काउंट लाली ने 1758 में फोर्ट सेंट डेविड को जीत लिया और तंजौर पर आक्रमण कर दिया। इसमें काउंट लाली को सफलता न मिली। लाली ने मद्रास जीतने का भी असफल प्रयास किया। उसने हैदराबाद से बुस्सी को बुलाया। विद्वानों ने इसे लाली की बड़ी भूल कहा है, क्योंकि इससे फ्रांसीसियों का दबदबा कम हो गया।

अंग्रेज़ों ने प्रारंभ में ही बंगाल पर अधिकार कर लिया था। पोकॉक (Pocock) के नेतृत्व में अंग्रेज़ों ने फ्रांसीसी सैनिक बेड़े को कई बार जीता। कर्नाटक में भी फ्रांसीसियों की हार हुई। हैदराबाद के निज़ाम से मछलीपट्टम और उत्तरी सरकार के क्षेत्र ले लिए गए। इसके अलावा जनवरी 1760 में अंग्रेज़ सेनापति आयरकूट ने वेंडिवाश (Wandiwash) नामक स्थान पर फ्रांसीसी सेना को परास्त किया। बुस्सी को गिरफ्तार कर लिया गया। जनवरी 1761 में फ्रांसीसी सेनाएं पांडिचेरी लौट गईं। अंग्रेज़ों ने पांडिचेरी का भी घेरा डाला और 8 मास बाद उस पर कब्ज़ा कर लिया। फ्रांसीसियों के माही क्षेत्र पर भी अंग्रेज़ों का प्रभुत्व हो गया। इस प्रकार से फ्रांसीसियों की बुरी तरह पराजय हुई। दक्षिण भारत में उनका प्रभाव प्रायः समाप्त हो गया।

अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों का यह तीसरा युद्ध निर्णायक सिद्ध हुआ। यूरोप में पेरिस की संधि होने पर 1763 में भारत में भी लड़ाई समाप्त हो गई। फ्रांसीसियों को भारत में पांडिचेरी व जीते हुए अन्य प्रदेश वापस कर दिए गए, परंतु किसी प्रकार की किलेबंदी या सैनिक जमाव पर प्रतिबंध लगा दिया गया। फ्रांसीसी भारत में अब केवल व्यापारिक संबंध

रख सकते थे। अतः इस युद्ध से अंग्रेज़ों का भारत विजय का मार्ग खुल गया।

अंग्रेज़ों की फ्रांसीसियों के विरुद्ध सफलता के कारण

अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों के लगभग 20 वर्षों के संघर्षों में अंग्रेज़ों को सफलता मिली। इससे अंग्रेज़ों का राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित हो गया। युद्धों में अंग्रेज़ों की सफलता का रहस्य कई तत्त्वों से जाना जा सकता है। प्रथम, अंग्रेज़ों की श्रेष्ठ नौसेना का होना है। अंग्रेज़ों का भारत के समुद्री मार्गों पर अधिकार था और अंग्रेज़ी सेना बहुत शीघ्र अपने लक्ष्य तक पहुंच जाती थी। इसके विपरीत फ्रांसीसियों का जल बेड़ा बहुत कमज़ोर था। साथ ही फ्रांस से कोई भी जल बेड़ा लाना कठिन था।

दूसरे, यूरोपीय राजनीति का प्रभाव भी इसका महत्त्वपूर्ण कारण था। समस्त यूरोप में अंग्रेज़ों की स्थिति फ्रांस से बेहतर थी, उन्हें सर्वत्र सफलता मिल रही थी। चारों ओर समुद्र होने से इंग्लैंड की भौगोलिक स्थिति भी इसके लिए ज़्यादा सुरक्षित और लाभदायक थी, जबकि फ्रांस को युद्धों में व्यस्त रहते हुए सुरक्षा पर अधिक ध्यान देना होता था।

तीसरे, अंग्रेज़ों को अपनी गृह सरकार का पूर्ण समर्थन और विश्वास प्राप्त था, जबकि फ्रांस की गृह सरकार की भारत के संदर्भ में एक राय न थी। अतः भारत में फ्रांसीसी कंपनी को बार-बार गृह सरकार के समर्थन, आर्थिक सहयोग और सैनिक सहायता के लिए ताकना पड़ता था।

चौथे, अंग्रेज़ों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ थी। अंग्रेज़ कंपनी आर्थिक व्यापार के साथ राजनीतिक प्रभाव के भी विस्तार की ओर ध्यान देती थी। उन्होंने अपने आर्थिक ढांचे का सदैव ध्यान रखा। इसके विपरीत भारत में फ्रांस सरकार की आर्थिक स्थिति बहुत कमज़ोर थी। धन की कमी के कारण वे अपनी कई योजनाओं को पूरा न कर पाते थे।

पांचवें, 1757 में अंग्रेज़ों की बंगाल विजय ने उनकी स्थिति बहुत सुदृढ़ कर दी थी। बंगाल उस समय के सबसे धनी और समृद्ध प्रदेशों में से एक था।

छठे, अंग्रेज़ों के पास बंगाल के अलावा, बंबई और मद्रास के महत्त्वपूर्ण क्षेत्र थे जो देशी-विदेशी व्यापार और सामरिक दोनों दृष्टियों से अत्यंत उपयोगी थे, जबकि फ्रांसीसियों के पास केवल पांडिचेरी, माही और चंद्रनगर केंद्र थे।

सातवें, डूप्ले की नीति और फ्रांस की सरकार का परस्पर तालमेल न था। डूप्ले भारत में फ्रांसीसी राज्य की स्थापना चाहता था, जबकि फ्रांस की सरकार उससे अवगत न थी। इसके साथ फ्रांस सरकार द्वारा डूप्ले को अचानक वापस बुलाना भी उचित न था।

आठवें, लाली ने बुस्सी को हैदराबाद से बुलाकर एक बड़ी गलती की। इससे फ्रांसीसी सरकार का दक्षिण में प्रभाव कम होता गया। उपरोक्त मुख्य तत्त्वों के अलावा अंग्रेज़ों के अपेक्षाकृत योग्य सेनापति, अंग्रेज़ अधिकारियों का परस्पर तालमेल और इंग्लैंड सरकार का कम-से-कम हस्तक्षेप भी कारण माने जा सकते हैं।

अंग्रेज़-फ्रांसीसियों के तीन युद्ध देश में व्याप्त तीनों शक्तियों — भारतीय रजवाड़ों, अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों के लिए दिशाबोधक कहे जा सकते हैं। इन युद्धों में दक्षिण भारत के राजाओं, नवाबों की परस्पर की फूट और सैनिक अयोग्यता खुलकर सामने आई। अंग्रेज़ों के लिए ये युद्ध वरदान साबित हुए। उन्हें लगा कि भारतीय सैनिक मूल रूप से योग्य हैं, परंतु उनमें प्रशिक्षण और यूरोपीय ढंग से सुसज्जित होने की कमी है। भारत के युद्धों में तोपखाने और नौसेना का महत्त्व भी समझ में आया। अंग्रेज़ों ने जहां भारतीय राजाओं की स्वार्थ-भावना को बढ़ावा दिया, वहां भारतीय सैनिकों को यूरोपीय ढंग से सुसज्जित कर अंग्रेज़ी राज्य के विस्तार में उनका उपयोग करना प्रारंभ किया। यह ध्यान अवश्य रखा गया कि किसी

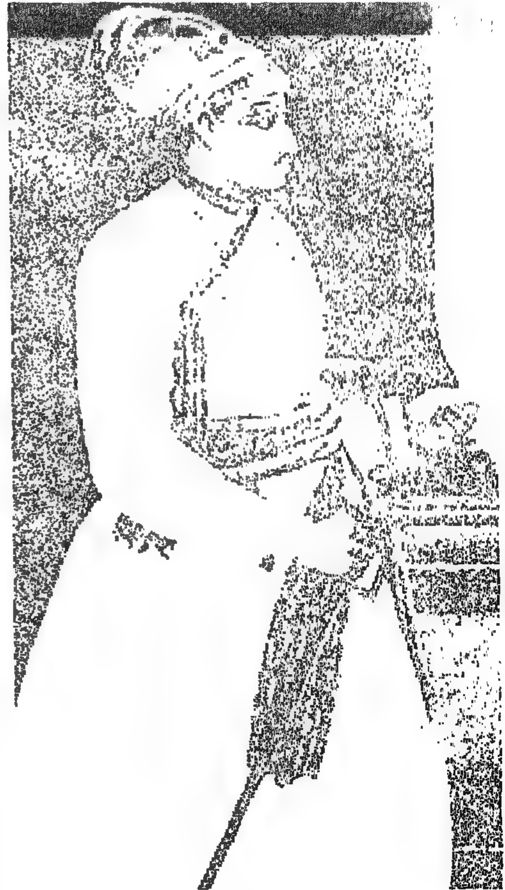
भी भारतीय को सेना में महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्त न किया जाए। फ्रांसीसियों के लिए यह युद्ध अभिशाप साबित हुआ। अब फ्रांसीसी राज्य केवल पांडिचेरी और कुछ आसपास के क्षेत्र तक सीमित रह गया। अब उन्होंने भारत में अपने राज्य का स्वप्न त्याग दिया।

बंगाल पर अंग्रेज़ों का कब्ज़ा

बंगाल मुगलों के अधीन एक अत्यंत उर्वर और समृद्धिशाली प्रांत था। व्यापार-वाणिज्य, उद्योगों के विकास में यह काफी आगे था। अंग्रेज़ों ने अपनी व्यापारिक कोठी 1651 में हुगली में स्थापित की और इसके लिए तत्कालीन बंगाल के सूबेदार शाहशुजा से, जो मुगल सम्राट शाहजहां का पुत्र था, स्वीकृति प्राप्त की थी। इसके साथ ही उन्होंने कासिम बाज़ार, पटना में भी अपनी कोठियां बनाईं थीं। उन्होंने 1698 में कलकत्ता के आसपास की भूमि जैसे सूतानुती (Sutanuti), कालीघाट और गोविंदपुर की जागीरदारी भी प्राप्त कर ली। 1717 में मुगल सम्राट फर्रुखसियर ने एक शाही फ़रमान द्वारा अंग्रेज़ों को अनेक व्यापारिक सुविधाएं दीं। अंग्रेज़ों को कोई भी सामान बिना कोई चुंगी दिए बंगाल में लाने-ले जाने की सुविधा दे दी गई। उन्हें माल लाने-ले जाने के लिए दस्तक (पास) जारी करने के अधिकार भी दे दिए गए, जिसका कंपनी के कर्मचारियों ने दुरुपयोग करना प्रारंभ कर दिया। वे कंपनी के साथ अपना निजी व्यापार भी बिना टैक्स दिए करने लगे।

बंगाल के सूबेदार अलीवर्दी खां ने इस ओर ध्यान देना प्रारंभ किया। उसका बंगाल के साथ बिहार और उड़ीसा में भी वर्चस्व स्थापित हो गया। वह जहां अंग्रेज़ों के प्रति सावधान था, वहां मराठों के निरंतर आक्रमणों से भी क्षुब्ध था। उसने अंग्रेज़ों को फोर्ट विलियम के इर्द-गिर्द एक गहरी खाई बनवाने की भी अनुमति दे दी।

अलीवर्दी खां की मृत्यु पर उसका दौहित्र सिराजुद्दौला 9 अप्रैल, 1756 को बंगाल का नवाब बना। वह स्वभाव से क्रोधी और अंग्रेज़ों का परम शत्रु था। उसके गद्दी पर बैठते समय समूचे बंगाल में राजनीतिक अस्थिरता का वातावरण था। बंगाल आंतरिक षड्यंत्रों का केंद्र बना हुआ था। उसकी नवाबी को पूर्णिया के नवाब शौकत जंग और उसकी मौसी ढाका की घसीटी बेगम ने स्वीकार नहीं किया था। अंग्रेज़ों ने फ्रांसीसी आक्रमण की आशंका से अंग्रेज़ों द्वारा निर्मित फोर्ट विलियम के चारों ओर तोपें लगा दीं। साथ ही अंग्रेज़ों ने घसीटी बेगम और नवाब के विद्रोहियों को अपने यहां जगह दे दी।



सिराजुद्दौला

नवाब सिराजुद्दौला तीव्र गति से बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों से अवगत था। उसने अंग्रेज़ों की गतिविधियों को नियंत्रित करना चाहा। उसने अंग्रेज़ों को फोर्ट विलियम की मरम्मत और किलेबंदी करने से रोकने के आदेश दिए। आज्ञा न मानने पर 15जून, 1756 को फोर्ट विलियम का घेरा डाल दिया गया और 20 जून को ही अंग्रेज़ों को आत्मसमर्पण के लिए मजबूर किया गया, परंतु उसने अंग्रेज़ों को वहां से भागने का मौका देकर भूल की।

अंग्रेज़ अधिकारियों ने भागकर समुद्र के किनारे फुल्टा नामक स्थान पर शरण ली। उन्होंने मद्रास से सैनिक सहायता प्राप्त करने की कोशिश की। इसी के साथ अंग्रेज़ों ने नवाब सिराजुद्दौला के प्रमुख दरबारियों और प्रभावी व्यक्तियों से मिलकर षड्यंत्र रचा। इनमें प्रमुख थे–प्रधान सेनापति मीर जाफ़र, कलकत्ता का नवाब की ओर से नियुक्त अधिकारी मानिकचंद, एक अमीर व्यापारी अमीचंद, बंगाल का प्रमुख साहूकार जगत सेठ और एक प्रमुख सेना अधिकारी खादिम खां।

मद्रास से एक सुदृढ़ नौसेना और पैदल सेना एडमिरल वाटसन और कर्नल रॉबर्ट क्लाइव के नेतृत्व में 14 दिसंबर, 1756 को कलकत्ता पहुंची। कर्नल क्लाइव प्रारंभ में मद्रास में केवल 5 पौंड सालाना की नौकरी में लगा था, परंतु अरकाट के घेरे में सफलता प्राप्त कर उसने बंगाल में अपना भाग्य आज़माना चाहा। उसने सिराजुद्दौला को कलकत्ता छोड़ने के लिए बाध्य किया। मानिकचंद को घूस देकर कलकत्ता पर अपना अधिकार किया और फ़रवरी 1757 में नवाब को संधि के लिए मजबूर किया जिससे अंग्रेज़ों को कलकत्ता में किलेबंदी का पुनः अधिकार मिल गया। मार्च 1757 में अंग्रेज़ों ने फ्रांसीसी चंद्रनगर पर कब्ज़ा कर लिया। कासिम बाज़ार पर पुनः कब्ज़ा कर लिया गया। क्लाइव ने सिराजुद्दौला के विद्रोहियों को अपनी ओर मिलाया। मीर जाफ़र को बंगाल का नवाब बनाने का आश्वासन और अमीचंद को प्रचुर धन का लालच दिया। परिस्थितियां ऐसी हो गईं कि युद्ध के बिना कोई अन्य समाधान न था। अतः मुर्शिदाबाद के दक्षिण में लगभग 22 मील दूर प्लासी के गांव में 23 जून, 1757 को दोनों सेनाएं आपने-सामने आ खड़ी हुईं। इस युद्ध में अंग्रेज़ों के पास 950 यूरोपीय पैदल, 100 यूरोपीय तोपची, 50 नाविक और 2100 भारतीय सैनिक थे, जबकि नवाब के पास लगभग 50,000 की विशाल सेना मीर जाफ़र के नेतृत्व में थी।

युद्ध नाममात्र का था जो केवल कुछ घंटे चला। युद्ध का निर्णय उसी दिन हो गया। इस युद्ध में अंग्रेज़ों के कुल 29 सैनिक और नवाब के करीब 500 आदमी काम आए। मीर जाफ़र व राय दुर्लभ जो नवाब की बड़ी सेना का नेतृत्व कर रहे थे, केवल खड़े रहे। नवाब की एक छोटी-सी टुकड़ी जिसका नेतृत्व मीर मदान व मोहन लाल कर रहे थे, लड़े और अंग्रेज़ों को पीछे भी खदेड़ा। परंतु गोली लगने से मीर मदान की मृत्यु हुई। हताश नवाब सिराजुद्दौला को लड़ाई के मैदान से भागना पड़ा। उसे शीघ्र ही पकड़कर मीर जाफ़र के लड़के ने जान से मार दिया।

युद्ध के परिणामस्वरूप मीर जाफ़र को बंगाल का नवाब बना दिया गया। अंग्रेज़ों को 24 परगनों की जागीर दे दी गई। क्लाइव को अपार राशि व्यक्तिगत भेंट में दी गई। सेना को 50 लाख रुपए पुरस्कार के रूप में दिए गए। कंपनी के कर्मचारियों को बिना टैक्स दिए निजी व्यापार की सुविधा दी गई।

अंग्रेज़ों की यह सफलता वीरता नहीं, बल्कि उनके विश्वासघात और षड्यंत्र का परिणाम थी। शीघ्र ही प्लासी का युद्ध अंग्रेज़ कूटनीति का भाग और आदर्श बन गए। एडमिरल वाटसन ने लिखा, 'प्लासी की लड़ाई में अंग्रेज़ों की विजय कंपनी के लिए नहीं वरन सामान्यतः ब्रिटिश राज्य के लिए महत्त्व की थी।' इस युद्ध ने अंग्रेज़ों में समस्त भारत पर प्रभुत्व करने की भावना जाग्रत की। बंगाल की प्राप्ति से अथाह धन-प्राप्ति और लूटमार का मोह भी व्याप्त हुआ।

मीर जाफ़र अपने शासक से विश्वासघात करके नवाब बन गया था, अतः भारतीय इतिहास में वह

'देशद्रोही' के रूप में जाना जाने लगा। अंग्रेज़ों को 24 परगनों की जागीर मिलने से बड़ा लाभ हुआ। वास्तव में अतुल धनराशि देने से बंगाल का खज़ाना खाली हो गया। साथ ही स्थान-स्थान पर उसके विरुद्ध विद्रोह होने लगे और अराजकता फैल गई। अत: अब अंग्रेज़ों ने धन के लालच में मीर जाफ़र के स्थान पर मीर कासिम को 27सितंबर, 1760 को नवाब बना दिया।

नवाब मीर कासिम, मीर जाफ़र का दामाद था। उसने भी अंग्रेज़ों को अनेक उपहार दिए। उसने कंपनी को बर्दवान, मेदिनीपुर और चटगांव ज़िले की ज़मींदारी भी दे दी। अंग्रेज़ अधिकारियों को लगभग 29 लाख रुपए उपहार के रूप में दिए। यह भी माना कि वह कंपनी को 5 लाख रुपए दक्षिण की लड़ाइयों के लिए देगा। कंपनी ने नवाब को सैनिक सहायता और आंतरिक मामलों में दखल न देने का वायदा किया। इसके अलावा मीर जाफ़र को 15,000 रुपए मासिक पेंशन देने और कलकत्ता में रहने का अधिकार दिया गया।

मीर कासिम ने नवाब बनते ही अपनी राजधानी को मुर्शिदाबाद से बदल कर मुंघेर कर दिया। उसने अपनी सेना को यूरोपीय ढंग से सुसज्जित करने का सोचा और पुराने करों को बढ़ाया। जिन्होंने अभी तक सरकारी धन जमा नहीं किया था, उन पर भारी जुर्माना लगाया गया। विद्रोहियों का दमन किया गया।

शीघ्र ही मीर कासिम का कंपनी से टकराव हो गया। झगड़े का कारण आंतरिक व्यापार पर लगे कर थे। इसके दुरुपयोग से नवाब की आमदनी कम हो गई थी। आंतरिक करों से छूट का लाभ केवल अंग्रेज़ कर्मचारी ही उठा रहे थे। मीर कासिम ने एक आदेश द्वारा सभी आंतरिक कर हटा दिए। अब भारतीयों को भी अंग्रेज़ों की भांति सुविधा मिल गई। अंग्रेज़ ऐसा नहीं चाहते थे। अत: उन्होंने पटना नगर पर आक्रमण कर दिया। कंपनी व नवाब में 1763 में संघर्ष प्रारंभ हो गया। कई संघर्षों में मीर कासिम की पराजय हुई। अंग्रेज़ों ने मीर जाफ़र को पुन: नवाब बना दिया। मीर कासिम भागकर अवध पहुंचा, जहां अवध के नवाब शुजाउद्दौला व मुगल सम्राट शाह आलम ने मिलकर अंग्रेज़ों के विरुद्ध युद्ध की योजना बनाई। उनकी संयुक्त सेना में 40-50 हज़ार सैनिक थे। कंपनी की सेना में 7027 सैनिक थे और उसका नेतृत्व मेजर मुनरो कर रहा था। इतिहास प्रसिद्ध यह लड़ाई बक्सर नामक स्थान पर 22अक्टूबर, 1764 को हुई। इस युद्ध में अंग्रेज़ों के 847 सैनिक मरे या हताहत हुए, जबकि तीनों की संयुक्त सेना के लगभग 2000 सैनिक मरे या हताहत हुए।

जी. बी. मालेसन (G. B. Malleson) ने इस युद्ध के बारे में लिखा है कि 'चाहे आप इसे देशी और विदेशियों के बीच द्वंद्व युद्ध समझें या ऐसी एक सारगर्भित घटना जिसका परिणाम स्थाई और विशाल हुआ, बक्सर को सबसे अधिक निर्णायक युद्धों में से माना जाता है।'

1764 की यह लड़ाई निश्चय ही निर्णायक सिद्ध हुई, इसके परिणामस्वरूप बंगाल पर अंग्रेज़ों का प्रभुत्व हो गया। इन युद्धों से भारत की राजनीतिक दुर्बलताएं, सैनिक कमज़ोरियां और मुगल साम्राज्य का खोखलापन सामने आया। साथ ही बंगाल में आर्थिक लूटखसोट, रिश्वत व भ्रष्टाचार का ऐसा क्रम प्रारंभ हुआ कि लॉर्ड क्लाइव जैसे लोग भी रातोंरात अमीर बन गए। क्लाइव ने स्वयं लगभग तीन करोड़ रुपए से अधिक धनराशि घूस और रिश्वत के रूप में प्राप्त की। मई 1765 में क्लाइव भारत में दूसरी बार बंगाल का गवर्नर बनकर आया। उसने अवध के नवाब शुजाउद्दौला और मुगल सम्राट शाह आलम से एक संधि की, जो इलाहाबाद की संधि के नाम से प्रसिद्ध है। इस संधि के द्वारा अवध में अंग्रेज़ों को कर मुक्त व्यापार की सुविधा मिली और अवध में एक ब्रिटिश सेना रखना तय हुआ, जिसके खर्च का वहन अवध के नवाब को करना था। कड़ा और इलाहाबाद के ज़िले शाह आलम को मिले और साथ ही मुगल साम्राज्य को 26 लाख रुपए वार्षिक पेंशन

भी देना तय हुआ। शाह आलम ने इसके बदले बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अंग्रेज़ों को दे दी।

बंगाल में द्वैध शासन (1765-1772)

मई 1765 में क्लाइव दूसरी बार बंगाल का गवर्नर बना। सर्वप्रथम, उसने बंगाल में फैली राजनीतिक अस्थिरता और अराजकता को दूर करना चाहा। बंगाल पर कब्ज़ा करते ही प्रारंभ में अंग्रेज़ों ने स्वयं शासन व्यवस्था न चलाकर अपने 'जी हजूरों' द्वारा शासन चलाया। कभी मीर जाफ़र को नवाब, तो कभी मीर कासिम को और फिर कभी दोबारा मीर जाफ़र को नवाब बनाया। अंग्रेज़ों ने हिंदू-मुस्लिम अलगाव को जान-बूझकर बढ़ावा दिया। अंग्रेज़ों ने 'बांटो और राज करो' की नीति का प्रारंभ मुख्यतः मीर जाफ़र के काल से ही किया। कुछ हिंदुओं को ऊंचे पदों से हटा दिया गया। एक-एक करके उनके खिलाफ षड्यंत्र रचे गए। बिहार के शासक रामनारायणसिंह, उड़ीसा के राजा रामसिंह और पूर्णिया के राजा युगलसिंह के खिलाफ कार्यवाही की गई। इन सभी राजाओं ने अंग्रेज़ों के खिलाफ महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

1765 में क्लाइव के सम्मुख शासन व्यवस्था संबंधी कठिनाइयां आईं। सामान्यतः मुगल काल में प्रांतों की देखरेख के लिए दो प्रमुख अधिकारी होते थे, इन्हें सूबेदार और दीवान कहा जाता था। सूबेदार का कार्य प्रायः कानून और व्यवस्था की देखभाल करना होता था और वह सैनिक, पुलिस और फ़ौजदारी कानून की ओर ध्यान देता था, जबकि दीवान का मुख्य कार्य राजस्व की वसूली करना और दीवानी कानूनों को लागू करना होता था। ये दोनों अधिकारी एक प्रकार से एक-दूसरे पर नियंत्रण रखते थे और दोनों सीधे केंद्रीय प्रशासन के सम्मुख उत्तरदायी थे, परंतु औरंगज़ेब के बाद यह व्यवस्था लड़खड़ा गई। दोनों का नियंत्रण स्थान-स्थान पर एक ही व्यक्ति करने लगा था। बंगाल में भी मुर्शिद कुली खां के काल में यह बदली हुई व्यवस्था चल रही थी।

इलाहाबाद की संधि द्वारा मुगल सम्राट शाह आलम ने 26 लाख रुपए वार्षिक प्राप्त करने के बदले दीवानी के सभी अधिकार कंपनी को सौंप दिए। कंपनी ने बंगाल में निज़ामत के अधिकार के बदले अल्पवयस्क नवाब को एक संधि द्वारा 53 लाख रुपए वार्षिक देना तय किया। इसी प्रकार से कंपनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा के दीवानी और निज़ामत के सभी अधिकार मिल गए, परंतु अभी भी नाममात्र के लिए बंगाल के नवाब का पद चल रहा था।

क्लाइव ने बंगाल के शासन का भार सीधे कंपनी द्वारा संचालित न करके उसे दोहरे या द्वैध शासन का रूप दिया। क्लाइव भली-भांति परिचित था कि विशाल बंगाल, बिहार और उड़ीसा से दीवानी अथवा राजस्व प्राप्त करना सरल नहीं है, क्योंकि उसके पास न तो इतनी संख्या में राजस्व वसूल करने वाले अधिकारी थे और न ही वे राजस्व अधिकारी वहां की स्थानीय भाषा, रीति-रिवाजों और व्यवहार से परिचित थे। इस कठिनाई को देखते हुए उसने दीवानी का कार्य भारतीयों के ज़िम्मे देने का विचार किया और बंगाल के समस्त क्षेत्र के लिए दो उप-दीवान, बंगाल के लिए मुहम्मद रज़ा खां और बिहार के लिए राजा शिताब राय नियुक्त किए। अल्पवयस्क नवाब होने के कारण मुहम्मद रज़ा खां को नायब निज़ाम भी बनाया गया। इस द्वैध व्यवस्था में दीवानी का कार्य प्रमुखतः भारतीय करते थे, परंतु उत्तरदायित्व कंपनी का था। वास्तविक रूप से कंपनी समस्त बंगाल क्षेत्र की स्वामी थी और बंगाल का नवाब केवल नाममात्र का था। इस व्यवस्था में सिद्धांततः शासन कंपनी और नवाब में बंटा था, परंतु समस्त ताकत व्यावहारिक रूप से कंपनी के पास थी, अतः यह जटिल और विचित्र व्यवस्था 1765-1772 तक चली और बाद में वारेन हेस्टिंग्ज़ ने इसे समाप्त किया।

यह केवल एक भ्रमजाल था। क्लाइव को लगता था कि इस व्यवस्था के बने रहने से भारतीयों में

कंपनी के प्रति विद्रोह या असंतोष की भावना पैदा नहीं होगी। उन्हें महसूस ही नहीं होगा कि कंपनी ने राजनीतिक सत्ता हथिया ली है। दूसरे, क्लाइव को डर था कि स्पष्ट रूप से राजनीतिक सत्ता कंपनी के हाथ में लेने से संभवतः भारत में स्थित फ्रांसीसी तथा डच जैसी विदेशी कंपनियां सुगमता से कंपनी की सूबेदारी को स्वीकार नहीं करेंगी तथा कंपनी को वे कर इत्यादि नहीं देंगी जो नवाब के फ़रमान के अनुसार उन्हें देने होते थे। तीसरे, इस व्यवस्था के अभाव में यूरोप में भी इंग्लैंड के प्रति अन्य शक्तियों के बीच वैमनस्य और कटुता बढ़ने की संभावना हो सकती थी। चौथे, क्लाइव को यह भी जानकारी थी कि कंपनी का कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स अभी तक संपूर्ण क्षेत्र को अपने अधिकार में लेने के पक्ष में नहीं है। पांचवें, प्रत्यक्ष शासन चलाने में क्लाइव को व्यावहारिक कठिनाई महसूस हो रही थी। जैसे पहले बताया गया है कि अंग्रेज़ अधिकारी इस समूचे क्षेत्र की जनता, उनके व्यवहार, भाषा, रीति-रिवाजों से परिचित न थे। छठे, क्लाइव भारतीय नवाबों को बदनाम कर, असफल, अयोग्य कहकर निकालना चाहता था, ताकि जनता उसका विरोध न करे। सातवें, क्लाइव यह स्वप्न देख रहा था कि यदि वह बंगाल की राजनीतिक सत्ता अपने हाथ में ले लेता है तो संभव है कि अंग्रेज़ी संसद कंपनी के कार्य में सीधे हस्तक्षेप करना प्रारंभ कर दे।

परंतु द्वैध शासन के कुछ दुष्परिणाम भी हुए। क्लाइव का द्वैध शासन किसी के लिए भी लाभकारी, सुखदायी और समृद्धि लाने वाला नहीं हुआ, बल्कि इससे अराजकता, लूटमार और भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिला। सर्वप्रथम, इस व्यवस्था से कानून और अन्य किसी भी प्रकार की व्यवस्था का लोप हो गया। कंपनी के अधिकारियों में उत्तरदायित्वहीनता के प्रति ऐसी उपेक्षा की भावना पैदा हुई जो आगे भी बनी रही।

दूसरे, द्वैध शासन से न्याय व्यवस्था प्रायः ठप्प हो गई। नवाब शक्तिहीन था और कंपनी के अधिकारी गैर-ज़िम्मेदाराना। राज्य में चोर, डाकू और लूटेरों का प्रभाव बढ़ गया।

तीसरे, इससे कृषकों के कष्ट बहुत बढ़ गए। बंगाल का उपजाऊ प्रदेश उजाड़ और बंजर होता गया। मनमाना राजस्व वसूल होने लगा। भूमिकर संग्रह का कार्य प्रति वर्ष अधिक-से-अधिक बोली लगाने वाले को दिया जाने लगा। लाचार हो, अनेक किसानों को अपने खेतों को छोड़कर भागना पड़ा।

चौथे, व्यापार-वाणिज्य की अवनति हुई। कंपनी का व्यापार पर लगभग एकाधिकार हो गया। व्यक्तिगत व्यापार द्वारा अंग्रेज़ अधिकारियों और कर्मचारियों ने अधिक-से-अधिक धन कमाया और भारतीय व्यापार को हानि पहुंचाई। इससे कर्मचारी धनवान हो गए और कंपनी की आमदनी कम होती गई। स्वयं क्लाइव ने माना कि कंपनी के व्यापारी व्यापार न करके एक संप्रभु के समान व्यवहार करते थे। उन्होंने हज़ारों भारतीय व्यापारियों के मुंह से रोटी छीन ली थी और जो भारतीय पहले व्यापार करते थे, वे अब भीख मांगने लगे थे। अतः भारतीय व्यापारी बेकार हो गए।

पांचवें, इससे बंगाल के उद्योग-धंधे भी प्रभावित हुए। बंगाल के रेशम उद्योग को हतोत्साहित किया गया। अब रेशम के कपड़ों के स्थान पर अंग्रेज़ केवल कच्चा रेशम चाहने लगे। अनेक भारतीय जुलाहों को नुकसान पहुंचा और उन्हें शारीरिक पीड़ाएं भी दी गईं। अपने कार्य कराने के लिए इन भारतीय जुलाहों को तरह-तरह के कष्ट दिए गए।

छठे, 1770 में जब बंगाल में दुर्भिक्ष (अकाल) पड़ा तो सरकार ने ज़रा भी सहायता न की। परिणामस्वरूप बंगाल की 1/3 जनसंख्या भूख और बीमारी से नष्ट हो गई। प्रतिदिन हज़ारों लाशें हुगली नदी में बहाई जाने लगीं। यह अकाल बंगाल के लिए विनाशकारी था, परंतु द्वैध शासन के अंतर्गत कोई भी मदद को तैयार न था।

सातवें, अब इंग्लैंड की ओर भारतीय धन का बहाव तीव्र गति से प्रारंभ हुआ। यह क्रम ऐसा प्रारंभ हुआ, जो अंग्रेज़ों के भारत छोड़ने तक चलता रहा। एक अनुमान के अनुसार 1766, 1767 व 1768 में ही 59 लाख पौंड की रकम बंगाल से ले जाई गई।

क्लाइव की द्वैध शासन व्यवस्था को 'एक दूषित शासकीय यंत्र' कहा जा सकता है, जिसमें बंगाल की जनता को अनगिनत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और सभी क्षेत्रों में भारी धन-जन की हानि हुई। इस व्यवस्था से कंपनी की बड़ी बदनामी हुई, अत: वारेन हेस्टिंग्ज़ ने आते ही इस व्यवस्था को समाप्त करने के आदेश दिए।

आंग्ल-मराठा युद्ध

बालाजी बाजीराव की मृत्यु के पश्चात चौथा पेशवा माधवराव (1761-1772) बना। उसकी आयु केवल 17 वर्ष की थी। उसका संरक्षक उसका चाचा रघुनाथराव बनाया गया। माधवराव ने मराठा शक्ति को पुन: सुदृढ़ और संगठित करने का प्रयास किया। उसने हैदराबाद के निज़ाम और मैसूर के शासक को हराया। साथ ही रुहेलों, जाटों और राजपूतों को भी हराया। उसने 1771 में दिल्ली के मुगल सम्राट शाह आलम को भी अपना पेंशनभोगी-सा बना दिया, लेकिन 27 वर्ष की आयु में उसका क्षय रोग से देहांत हो गया।

अगला पेशवा नारायणराव (1772-1773) बहुत अल्पकाल तक रहा। 1773 में उसकी हत्या कर दी गई। उसकी पत्नी गर्भवती थी, जिससे माधवराव द्वितीय का जन्म हुआ। रघुनाथराव या रघोबा जो नारायणराव का चाचा था, माधवराव द्वितीय को पेशवा मानने को तैयार न था। रघुनाथराव ने माधवराव द्वितीय के संरक्षक नाना फड़नवीस के सामने अपने को असमर्थ पाया। अत: उसने पहले हैदर अली से मदद मांगी, परंतु स्वयं हैदर अली कुर्ग की ओर गया हुआ था, अत: मदद न कर सका। अब रघोबा ने अंग्रेज़ों से मदद मांगी। अंग्रेज़ों ने वहां पर भी बंगाल की भांति द्वैध शासन स्थापित करने के उद्देश्य से मदद की। परिणामस्वरूप पहला आंग्ल- मराठा युद्ध (1775-1782) में हुआ। रघोबा ने अंग्रेज़ों की बंबई कौंसिल से मदद मांगी और मार्च 1775 में उसने अंग्रेज़ों से सूरत की संधि की तथा अंग्रेज़ों को बेसिन और साल्सेट व बंबई के निकट कुछ टापू देने का वायदा किया। साथ ही अंग्रेज़ सेना रखने के लिए डेढ़ लाख रुपया मासिक देना तय किया। अंग्रेज़ों ने साल्सेट पर कब्ज़ा कर लिया, परंतु अंग्रेज़ों की कलकत्ता कौंसिल ने यह समझौता स्वीकार न किया। वारेन हेस्टिंग्ज़ ने रघोबा के विरोधी माधवराव द्वितीय के संरक्षक नाना फड़नवीस से संधि करने के लिए एक ब्रिटिश कर्नल को भेजा। मार्च 1776 में पुरंदर की संधि की गई और नवशिशु माधवराव द्वितीय को पेशवा मान लिया गया। इसके लिए मराठों को भारी धनराशि देनी पड़ी और साल्सेट का टापू भी अंग्रेज़ों के पास रहा।

वस्तुत: कंपनी के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स ने पुरंदर की संधि स्वीकार न की और न ही मराठों ने इसे मान्यता दी। वारेन हेस्टिंग्ज़ ने पुरंदर की संधि को एक कागज़ का टुकड़ा कहा। बंबई सरकार ने एक सेना की टुकड़ी पश्चिमी घाट की तरफ भेजी जो सफल नहीं हुई। अंतत: अंग्रेज़ों को 1779 में बड़गांव की अपमानजनक संधि माननी पड़ी, जिसके अनुसार उन्हें पुरंदर की संधि से प्राप्त समस्त सुविधाएं वापस करनी पड़ीं। बाद में वारेन हेस्टिंग्ज़ और महादजी सिंधिया में मई 1782 में सालाबाई की संधि हुई, जिसमें साल्सेट व बेसिन अंग्रेज़ों को दे दिए गए। रघोबा को पेंशन दी गई और माधवराव द्वितीय को पेशवा मान लिया गया। सालाबाई की संधि से भारतीय राजनीति में अंग्रेज़ी शासन का प्रभाव स्थापित हुआ और मराठों में परस्पर टकराव बढ़ा। इस बीच मराठा सरदारों में शक्तिशाली महादजी सिंधिया, जिसने 1784 में बादशाह शाह आलम को अपने प्रभाव में कर लिया था, अगले 12 वर्षों तक अर्थात 1794 तक

दिल्ली का वास्तविक शासक रहा। 1794 में उसकी मृत्यु हो गई। 1795 में माधवराव द्वितीय की मृत्यु हो गई।

अब बाजीराव द्वितीय पेशवा बना, जो रघुनाथ राव का अयोग्य पुत्र था। अंग्रेज़ों ने उसकी अयोग्यता का पूरा लाभ उठाया। आपस की फूट का लाभ उठाकर दूसरा आंग्ल-मराठा युद्ध (1803-1805) और तीसरा आंग्ल-मराठा युद्ध (1816-1818) हुआ। अंतिम युद्ध में मराठा शक्ति और पेशवा के वंशानुगत पद को ही समाप्त कर दिया गया।

1798 में लॉर्ड वेलेजली ने सहायक संधि का जाल फैलाया। मराठों ने इस संधि से अलग रहने का प्रयास किया। 1800 में मराठों के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ नाना फड़नवीस की मृत्यु हो गई थी। उसके मरते ही बाजीराव की अयोग्यता सबके सम्मुख आने लगी। मराठों में परस्पर झगड़े बढ़े। दौलतराव सिंधिया और जसवंतराव होल्कर दोनों ही अपना-अपना प्रभाव स्थापित करना चाहते थे। इसमें सिंधिया को सफलता मिली, पर अंग्रेज़ इससे संतुष्ट न थे। वेलेजली के सिंधिया व होल्कर से संघर्ष हुए और उनसे अलग-अलग संधियां हुईं। इस द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध में मराठों को बड़ी हानि हुई। अंग्रेज़ों की मराठों के साथ अंतिम टक्कर 1817-1818 में लॉर्ड हेस्टिंग्ज़ के काल में हुई। इस युद्ध का अन्यत्र वर्णन किया जाएगा। इस युद्ध के परिणाम दूसरे आंग्ल-मराठा युद्ध से भी भयंकर हुए।

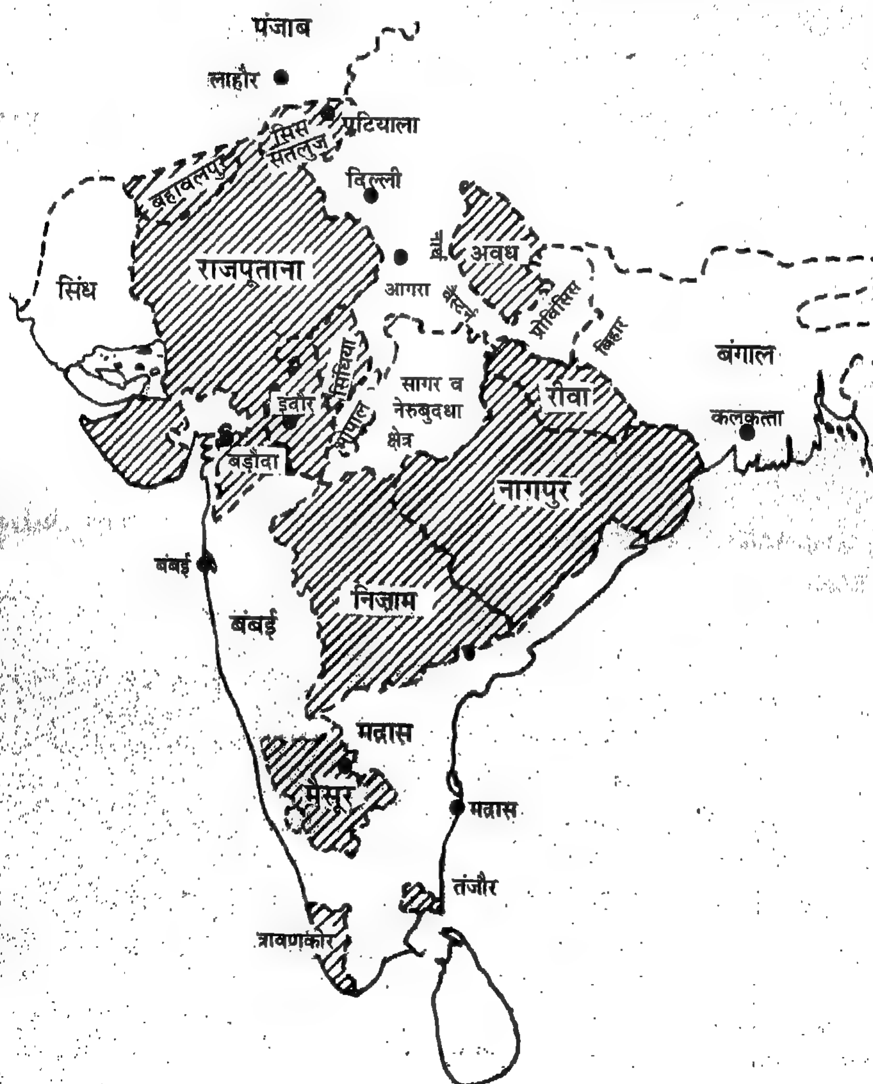
निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि 18वीं शताब्दी का उत्तरार्ध भारतीयों के लिए बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण रहा। जहां सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक क्षेत्र में सर्वत्र अराजकता रही, वहां मुगल सत्ता के पतन के साथ-साथ अनेक छोटी और बड़ी शक्तियों ने सत्ता-प्राप्ति के लिए संघर्ष किए। सत्ता के संघर्ष के लिए मुख्य प्रतिद्वंद्वी अंत में अंग्रेज़ और मराठे रहे, जिसमें अंग्रेज़ों का वर्चस्व कायम हुआ। भारतीयों द्वारा सत्ता-संघर्ष में पिछड़ने का मुख्य कारण परस्पर की फूट, राष्ट्रीयता की भावना का अभाव और सैन्य दोष रहा।

ब्रिटिश सर्वोच्चता की स्थापना (1818)

क्लाइव 1767 में भारत से चला गया। उसके पश्चात भी बंगाल में अव्यवस्था, अत्याचारों और अराजकता का दौर जारी रहा। वारेन हेस्टिंग्ज़ ने कंपनी के कर्मचारियों पर नियंत्रण लगाए, मुगल सम्राट की वार्षिक पेंशन (26 लाख) बंद कर दी और बंगाल के नवाब को दी जाने वाली पेंशन 53 लाख रुपए वार्षिक से घटाकर 16 लाख रुपए कर दी। इसके साथ ही उसने बनारस के राजा चेतसिंह और अवध की बेगमों से बलपूर्वक एवं अनुचित ढंग से धन प्राप्त किया तथा मराठों (1775-1782) और मैसूर के साथ द्वितीय युद्ध (1780-1784) करके राज्य विस्तार किया।

निश्चय ही वारेन हेस्टिंग्ज़ के कार्यों से कंपनी की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हुई। लेकिन कंपनी के प्रति भारतीयों में रोष बढ़ा। द्वैध शासन व्यवस्था और बंगाल के भयंकर अकाल से वे बहुत दुःखी थे। वारेन हेस्टिंग्ज़ के अत्याचारों, आर्थिक लूट और कुकृत्यों की गूंज ब्रिटिश पार्लियामेंट में भी हुई। उस पर भी लॉर्ड क्लाइव की भांति मुकद्दमा चला, जो सात वर्ष (1788-1795) तक चलता रहा। इस मुकद्दमे में खर्च की गई कुल धनराशि ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रारंभ में लगाई गई कुल पूंजी से भी अधिक थी। क्लाइव की भांति उसे भी दोषमुक्त कर दिया गया था।

वारेन हेस्टिंग्ज़ के पश्चात अस्थाई रूप से मैकफर्सन को बंगाल का गवर्नर जनरल बनाया गया। तत्पश्चात लॉर्ड कार्नवालिस (1786-1793) भारत का मुख्य सेनापति और गवर्नर जनरल रहा। इससे पूर्व वह अमेरिका के विरुद्ध स्वतंत्रता संग्राम में मुख्य सेनापति था और युद्ध में पराजित होने पर भारत भेजा गया था। उसने कंपनी को सुदृढ़ करने के लिए कई कार्य किए। उसने भारत में नागरिक सेवाओं का यूरोपीयकरण किया और सभी महत्त्वपूर्ण पदों पर



ब्रिटिश सर्वोच्चता की स्थापना, 1818

यूरोपियों की नियुक्तियां कीं। न्याय में कुछ परिवर्तन किए और विभिन्न स्तरों पर ज़िला, प्रांत और सदर न्यायालय स्थापित किए। बंगाल में भूमि का स्थाई बंदोबस्त किया, जिससे भारत की अर्थव्यवस्था पर दूरगामी परिणाम हुए और भारतीय किसानों का जीवन दूभर और कष्टमय हो गया।

इसके बाद सर जॉन शोर (1793-1798) बंगाल का गवर्नर जनरल बना। उसने तटस्थता की नीति अपना कर शांति रखी। राज्य विस्तार में समुचित योगदान न देने पर उसे वापस बुला लिया गया। इसके बाद लॉर्ड वेलेजली (1798-1805) गवर्नर जनरल रहा। वह एक पक्का साम्राज्यवादी, महत्त्वाकांक्षी और कूटनीतिज्ञ था। उसने सहायक संधियों द्वारा भारत के अनेक राजाओं और नवाबों पर कंपनी की सर्वोच्चता स्थापित की। इसमें हैदराबाद का निज़ाम, अवध का नवाब, मराठों का पेशवा, राजपूत और त्रावणकोर के शासक थे। इसके साथ ही उसने मैसूर से चौथा युद्ध (1799) और मराठों से युद्ध करके अनेक प्रदेश प्राप्त किए।

सहायक संधि के द्वारा किसी भी राजा को सैनिक सुरक्षा प्रदान की जाती थी। रियासत आंतरिक मामले में स्वतंत्र होती थी, परंतु किसी बाहरी शक्ति का दखल नहीं हो सकता था। इस संधि के द्वारा कंपनी का ब्रिटिश रेज़ीडेंट भारतीय राजा के दरबार में रखा जाता था और छोटी रियासत को कुछ राशि वार्षिक रूप से देनी होती थी, जबकि बड़ी रियासत को ब्रिटिश सेनाधिकारियों के अधीन एक सेना रखनी होती थी।

लॉर्ड हेस्टिंग्ज़ के अधीन ब्रिटिश साम्राज्य विस्तार (1813-1823)

लॉर्ड हेस्टिंग्ज़ 1813 में गवर्नर जनरल बनकर आया। उसने लॉर्ड वेलेज़ली की आक्रामक एवं साम्राज्यवादी नीति का विस्तार किया और ब्रिटिश साम्राज्य का मार्ग प्रशस्त किया। उसने तीन प्रमुख कार्यों द्वारा अंग्रेज़ी राज्य का वर्चस्व स्थापित किया। ये हैं – नेपालियों से युद्ध (1814-1816), पिंडारियों का दमन और मराठा संघ की समाप्ति।

❑ ***आंग्ल-नेपाल युद्ध (1814-1816)***

नेपाल 1768 में एक शक्तिशाली गोरखा राज्य के रूप में उभरा था। यह देश भारत के उत्तर में स्थित है। उत्तर, पूर्व और दक्षिण में उसकी सीमाएं क्रमशः चीन, बंगाल व अवध की सीमाओं से मिलती थीं। 1801 में अंग्रेज़ों ने अवध के नवाब से गोरखपुर और बस्ती ज़िले प्राप्त कर लिए थे। इससे नेपाल की सीमाएं अंग्रेज़ी राज्य से मिल गई थीं। 1814 में दोनों में संघर्ष हुआ। कालंग दुर्ग, जैतक दुर्ग, अल्मोड़ा, मालवा व कंबनपुर में लड़ाइयां हुईं। नेपाल के अमर सिंह थापा को आत्मसमर्पण करना पड़ा।

मार्च 1816 में संगोली की संधि हुई। गोरखों ने तराई प्रदेश पर अपना दावा छोड़कर कुमाऊं और गढ़वाल के प्रदेश अंग्रेज़ों को दे दिए। शिमला का क्षेत्र अंग्रेज़ों द्वारा सुरक्षित हो गया और उत्तर-पश्चिम सीमाएं हिमालय तक पहुंच गईं। सिक्किम भी उन्हें छोड़ना पड़ा और नेपाल, काठमांडू में एक ब्रिटिश रेज़ीडेंट रखने को राज़ी हो गए। सीमाओं पर पक्के खंभे लगाए गए। यह भी तय हुआ कि नेपाल दरबार अंग्रेज़ों के अलावा किसी भी विदेशी को अपनी सेवा में न रखेगा। इस युद्ध को करने में कंपनी ने अवध के नवाब से एक करोड़ रुपया कर्ज़ लिया था। अतः उसके बदले अवध को रुहेलखंड परगना का तराई का हिस्सा दे दिया गया।

यह संधि भारत और नेपाल के लिए महत्त्वपूर्ण साबित हुई। भारत और नेपाल के बीच सद्भाव व मित्रता का एक ऐसा युग प्रारंभ हुआ, जो आज भी चल रहा है। अंग्रेज़ों ने गोरखों को अपनी सेना में स्थान दिया। अनेक सेवाओं में गोरखों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। अंग्रेज़ों ने शिमला, मसूरी, नैनीताल और

रानीखेत आदि पर्वतीय प्रदेशों को विकसित कर उन्हें पर्यटक और स्वास्थ्यवर्धक स्थलों का रूप दिया।

लॉर्ड हेस्टिंग्ज़ ने 10फ़रवरी, 1817 में चोग्याल के सिक्किम राजा के साथ भी एक संधि की तथा तीस्ता (Tista) और मेची (Mechi) नदियों के मध्य का प्रदेश उसे दे दिया। इस प्रकार से दोनों के बीच एक सीमा निश्चित हो गई। सिक्किम पर नेपाली अधिकार हमेशा के लिए खत्म हो गया। इससे अंग्रेज़ों को यह भी लाभ हुआ कि उनके पास मध्य एशिया के साथ व्यापार के लिए ज़्यादा सुविधाएं हो गईं।

❑ *पिंडारियों का दमन*

पिंडारी कौन थे? इसके बारे में अनेक मत हैं। इनका पहला उल्लेख 1689 में महाराष्ट्र पर हुए मुगल आक्रमण के दौरान मिलता है। ये किसी विशेष धर्म या जाति से संबंध न रखते थे। बाजीराव प्रथम के समय में ये मराठा सेना से संबद्ध किए जाते थे। ये युद्ध में अवैतनिक सहायता करते थे और सेवा के बदले लूट का माल लेते थे। संभवत: यह प्रारंभ में मराठों के अनियमित सैनिकों के रूप में थे। यह उल्लेखनीय है कि इन्होंने कभी भी अंग्रेज़ों की सहायता नहीं की। इन्होंने राजपूताना और सेंट्रल प्रोविंसिस के अनेक भागों में लूटमार की। इसी से इनका गुज़ारा होता था। इनके नेता हिंदू और मुसलमान दोनों थे। इनमें प्रमुख वासिल मुहम्मद, चीतू और करीम खां थे। इनके अनुयायियों की संख्या हज़ारों में थी।

1812 में इन्होंने अंग्रेज़ों के अधीन वाले मिर्ज़ापुर व शहाबाद ज़िलों में लूटमार की। 1815 में इन्होंने निज़ाम प्रदेश में लूटमार की। 1816 में 'उत्तरी सरकारों' को भी लूटा। लॉर्ड हेस्टिंग्ज़ इनके दमन के साथ-साथ मराठों का दमन चाहते थे। लॉर्ड हेस्टिंग्ज़ ने 1,13,000 सेना और 300 बंदूकों के साथ इन पर चारों ओर से धावा बोला। उत्तरी सेना का नेतृत्व उसने स्वयं किया। दक्षिणी सेना का नेतृत्व सर टॉमस हिसलोप ने किया। मेल्कम ने भी एक सेना का नेतृत्व किया। 1818 तक पिंडारियों का पूरी तरह से दमन हो गया। उनके सभी दल बिखर गए। करीम खां ने गोरखपुर ज़िले में एक छोटी-सी जागीर लेकर अपने को अलग कर लिया। वासिल मुहम्मद डर कर सिंधिया के यहां चला गया, जिसे उन्होंने अंग्रेज़ों को सौंप दिया, जहां उसने आत्महत्या कर ली। चीतू जंगलों में जा छिपा। ऐसा कहा जाता है, वहां उसे शेर ने मार दिया। इस प्रकार 1824 तक उनका पूरी तरह से सफ़ाया हो गया।

❑ *मराठा संघ का विघटन*

लॉर्ड हेस्टिंग्ज़ की तीसरी महत्त्वपूर्ण सफलता मराठों के विरुद्ध थी। वास्तव में पानीपत के तीसरे युद्ध एवं अंग्रेज़ों के साथ दो युद्धों के बाद मराठा शक्ति क्षीण हो गई थी, परंतु वह समाप्त न हुई थी। राजनीतिक परिस्थितियां भी अंग्रेज़ों के अनुरूप थीं। मराठा सरदार परस्पर लड़ रहे थे और उनके उत्तराधिकारी निर्बल और अयोग्य थे। भोंसले, होल्कर, गायकवाड़, सिंधिया और पेशवा सभी में परस्पर कटुता थी।

पेशवा बाजीराव द्वितीय मराठा संघ का स्वामी बनना चाहता था और ब्रिटिश नियंत्रण से मुक्ति चाहता था। पेशवा के मंत्री त्रियंबकजी ने इसके लिए पेशवा को उत्साहित किया। 1814 में पेशवा ने बड़ौदा के गायकवाड़ पर, जो कि अंग्रेज़ों के अधीन थे, अपना अधिकार जताया। कंपनी के सुझाव पर गायकवाड़ ने अपने प्रधानमंत्री गंगाधर शास्त्री को पेशवा से समझौता करने भेजा, कुछ भी तय नहीं हुआ। पेशवा के मंत्री त्रियंबकजी ने इसके लिए पेशवा को उत्साहित किया। गायकवाड़ के राजदूत पंडित गंगाधर राव शास्त्री की 14जुलाई, 1815 को त्रियंबकजी ने हत्या करवा दी। इससे मराठा संघ में बौखलाहट हुई। अंग्रेज़ भी इससे नाराज़ हुए और उन्होंने पेशवा को कहा कि वह त्रियंबकजी को अंग्रेज़ों के हवाले कर दे। पेशवा ने त्रियंबकजी को अंग्रेज़ों को सौंप दिया। वह थाना जेल में बंद कर दिया गया, परंतु वह किसी प्रकार निकल भागा। इसे पेशवा का षड्यंत्र माना गया। इससे रुष्ट होकर ब्रिटिश रेज़ीडेंट एलीफ़िंस्टन ने 13जून, 1817 में पेशवा को पूना

की संधि करने को मजबूर किया, जिसमें पेशवा के मराठा संघ को समाप्त कर दिया गया।

पेशवा ने शीघ्र ही अंग्रेज़ों से हुई संधि को तोड़ दिया। 5 नवंबर, 1817 को उसने ब्रिटिश रेज़ीडेंसी पर आक्रमण कर दिया। किर्की नामक स्थान पर पेशवा की पराजय हुई। इससे पूर्व भोंसलों के सरदार अप्पा साहिब ने 17 मई, 1816 में अंग्रेज़ों से नागपुर की संधि की, जिससे नागपुर नगर अंग्रेज़ों के अधिकार में आ गया। उसने भी पुनः संघर्ष किया, परंतु वह भी सीताबर्डी के युद्ध में नवंबर 1817 में पराजित हुआ। पेशवा ने होल्कर से भी मदद मांगी, परंतु वह अपने राज्य के आंतरिक संघर्ष और सेना में व्याप्त असंतोष के कारण अंग्रेज़ों द्वारा 21 दिसंबर, 1817 को महीदपुर में पराजित हुआ। अतः दिसंबर 1817 तक शक्तिशाली मराठा संघ का स्वप्न चूर-चूर हो गया। अंग्रेज़ों ने एक-एक करके सभी मराठा सरदारों की शक्ति को नष्ट कर दिया। इसी भांति ब्रिटिश सत्ता की सर्वोच्चता स्थापित कर दी गई। भोंसलों से गढ़मंडल, जबलपुर, होशंगाबाद, नर्मदा के उत्तर के भोंसले राज्य के प्रदेश अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिए गए और उन्होंने अंग्रेज़ों की प्रभुता मान ली।

राघोजी भोंसले जो अल्पवयस्क था, यहां का शासक मान लिया गया। होल्कर ने अंग्रेज़ों को सिरोज व टोंक के ज़िले दे दिए व उसने जनवरी 1818 में सहायक संधि स्वीकार कर ली। पेशवा ने अंतिम बार पुनः शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न किया, परंतु वह कोरेगांव (Korgaon) और अष्टी (Asthi) की लड़ाई में पराजित हुआ और उसने मेल्कम के सम्मुख समर्पण किया। बाजीराव द्वितीय पेशवा को 8 लाख रुपए की पेंशन देना तय हुआ। पेशवा का पद खत्म कर दिया गया और उसे कानपुर के निकट बिठूर नामक स्थान में रहने के लिए कहा गया। राज्य का कुछ भाग देकर शिवाजी के एक वंशज प्रतापसिंह को सतारा राज्य का स्वामी बना दिया गया। शेष राज्य बंबई प्रेसीडेंसी में मिला लिया गया। जून 1818 में सिंधिया को भी एक नई संधि के लिए विवश किया गया और उससे अजमेर छीन लिया गया तथा इस्लामनगर का प्रदेश कंपनी के कहने से भोपाल के नवाब को दे दिया गया। उसने भी ब्रिटिश सर्वोच्चता स्वीकार कर ली। गायकवाड़ ने सहायक संधि स्वीकार करते हुए अहमदाबाद का कुछ भाग अंग्रेज़ों को देना स्वीकार किया।

1818 का वर्ष अंग्रेज़ों के लिए सर्वाधिक राजनीतिक सफलताओं और महत्त्व का सिद्ध हुआ। मराठों का स्वदेशी शासन स्थापना का स्वप्न पूर्णतः चूर-चूर हो गया। अंग्रेज़ों के लिए सीधे शासन का मार्ग निष्कंटक हो गया। डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर ने यह स्वीकार किया है कि अंग्रेज़ों ने भारत मुगलों से नहीं बल्कि हिंदुओं, मराठों और सिक्खों से प्राप्त किया। वह लिखता है, 'मुस्लिम राजकुमार हम से बंगाल, कर्नाटक, मैसूर में लड़े, परंतु भारत विजय में सर्वाधिक विरोध हिंदुओं की ओर से हुआ।'

मराठों की पराजय के कारण

आंग्ल-मराठा संघर्ष में मराठों की पराजय के अनेक कारण रहे। प्रथम, इसमें नेतृत्व का अभाव एक प्रमुख कारण था। शिवाजी और प्रथम तीन पेशवाओं का नेतृत्व कुशलता और चातुर्यपूर्ण था। इनमें महादजी सिंधिया, पेशवा माधवराव, अहिल्याबाई होल्कर, तुकोजी होल्कर, नाना फड़नवीस जैसे धुरंधर और श्रेष्ठ व्यक्ति अवश्य हुए, परंतु 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में इसका अभाव हो गया था। अंतिम पेशवा मराठों का नाममात्र का पेशवा था। मराठा संघ के अन्य सरदार भी इतने योग्य और कुशल न थे।

दूसरे, मराठों की सैनिक दुर्बलता भी उनकी पराजय के लिए उत्तरदायी रही। अंग्रेज़ों की सेनाएं यूरोपीय ढंग से, आधुनिकतम शस्त्रों से सुसज्जित थीं। अंग्रेज़ों का तोपखाना और जल सेना भी निर्णायक थी। अंग्रेज़ सेनापतियों के लक्ष्य स्पष्ट थे, जबकि मराठा सेना में अनेक सरदारों के विचारों में एकरूपता नहीं

थी। मराठों ने गोरिल्ला युद्ध नीति त्याग कर भी गलती की थी।

तीसरे, मराठा शक्ति का दोष उसकी परस्पर कटुता और असहयोग था। वे छोटी-छोटी बातों को लेकर लड़ पड़ते थे। मराठा संघ एक ढीला-ढाला संघ था। वे अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए परस्पर षड्यंत्रों का सहारा भी लेते रहते थे। पानीपत के तीसरे युद्ध के पश्चात परस्पर के द्वेष बढ़े थे।

चौथे, मराठों की कोई स्थाई आर्थिक व्यवस्था न थी। चौथ और सरदेशमुखी की वसूली भी ढंग से नहीं होती थी। इस व्यवस्था से मराठों की प्रतिष्ठा को भी धक्का लगता था। आर्थिक व्यवस्था नीति की बजाय बल पर अधिक टिकी थी। पांचवें, राष्ट्रीय भावना का अभाव था। कभी-कभी वे स्वार्थवश शत्रु के कहने पर परस्पर टकरा जाते थे। छठे, प्रारंभ में पिंडारियों को साथ लेकर मराठों ने गलती की। वस्तुतः वे युद्ध में लड़ते अवश्य थे, परंतु उनका ध्यान युद्ध के तुरंत बाद लूटमार में अधिक रहता था। यहां तक कि उनकी वफ़ादारी अपने नेता के साथ भी नहीं रह पाती थी। वे दूसरे दल के साथ शीघ्र मिल जाते थे।

सातवें, मराठों ने जीते हुए प्रदेशों पर अपना अच्छा प्रभाव कम छोड़ा। उन्हें इतना मौका नहीं मिला कि जनहित कार्य कर, जनता का विश्वास प्राप्त कर सकें। आठवें, मराठों के अन्य राजाओं और नवाबों के साथ संबंध सौहार्दपूर्ण न थे। नवें, वे अंग्रेज़ों की शक्ति का सही मूल्यांकन नहीं कर सके। अंग्रेज़ धूर्त और कूटनीतिक थे। उनका गुप्तचर विभाग भी बड़ा निपुण था। अतः उपरोक्त सभी कारणों से मराठा संघ का लोप हो गया।

लॉर्ड हेस्टिंग्ज़ ने उपरोक्त तीन प्रमुख सफलताओं के अलावा दो और कार्य किए, जिससे अंग्रेज़ों की सर्वोच्चता को कोई आंच न आ सके। इसमें प्रथम था राजपूतों से संबंध, और दूसरा था मुगल सम्राट से संबंधों का स्पष्टीकरण।

राजपूत राज्यों से संबंध: राजपूताना दिल्ली के निकट होने के कारण सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था। राजपूताने के छोटे-बड़े राज्यों पर मराठों का नियंत्रण था और राजपूत मराठों के प्रभुत्व से मुक्ति चाहते थे। अंग्रेज़ भी राजपूतों से रक्षात्मक संधियां करने के इच्छुक थे। लॉर्ड हेस्टिंग्ज़ राजपूत राज्यों पर अपना राजनीतिक और सैनिक वर्चस्व चाहता था। अभी तक राजपूताना में सिंधिया और होल्कर का प्रभाव था। नवंबर 1817 में अंग्रेज़ों ने सिंधिया से संधि कर राजपूत राज्यों से बातचीत का मार्ग खोल दिया था। एक अन्य संधि से अजमेर अंग्रेज़ों को दे दिया गया था। होल्कर ने जनवरी 1818 की संधि से राजपूत राज्यों और कोटा के ज़ालिमसिंह के अधीन परगनों पर अपना अधिकार छोड़ दिया था। अंग्रेज़ों ने दिल्ली के ब्रिटिश रेज़ीडेंट चार्ल्स मेटकाफ़ को राजपूताना के तीन बड़े राज्यों-जोधपुर, जयपुर तथा उदयपुर से बातचीत करने को कहा।

जोधपुर के साथ 6जनवरी, 1818 में एक संधि द्वारा परस्पर सहयोग और संरक्षण की बात मान ली गई। जोधपुर राज्य ने 1500 घुड़सवारों की एक सेना व एक लाख आठ हज़ार रुपए का वार्षिक कर देना स्वीकार कर लिया था।

उदयपुर में भी 13जनवरी, 1818 में एक संधि हुई। महाराजा उदयपुर को सेना न भेजना स्वीकार किया गया, परंतु उन्हें उनकी आय का आगामी 5 वर्षों तक 25 प्रतिशत और बाद में 3/8 भाग देना तय किया गया।

जयपुर के महाराजा ने भी अंत में संधि कर ली, क्योंकि मेटकाफ़ ने संधि न करने पर जयपुर के अधीनस्थ रजवाड़ों से सीधी संधि की चेतावनी भी दी थी। 2अप्रैल, 1818 में उसने भी कुछ सेना और वार्षिक कर देना स्वीकार किया। इसके बाद राजपूताना के छोटे-बड़े राज्यों, जैसे–कोटा, बूंदी, बीकानेर, जैसलमेर, बांसवाड़ा, डूंगरपुर, प्रतापगढ़ और करौली से भी संधियां की गईं।

लॉर्ड हेस्टिंग्ज़ ने इस प्रकार समूचे राजपूताने में कंपनी को संरक्षण देकर अंग्रेज़ी शक्ति की सर्वोच्चता की स्थापना की। राजपूताने में बहुत कठोरता से संधियां करना उचित न था। कर्नल टॉड ने इन संधियों के उन्मूलन के लिए भी प्रयास किए, परंतु उसे सफलता न मिली। मराठा शक्ति के पराभव के बाद राजपूताना में इतनी हिम्मत नहीं थी कि वे अपनी स्वतंत्रता के लिए पुनः प्रयास कर सकें। अतः उन्होंने अंग्रेज़ों की सर्वोच्चता स्वीकार कर ली।

मुगल सम्राट से संबंध : पानीपत के तीसरे युद्ध के पश्चात मुगल सत्ता का वर्चस्व समाप्त हो गया। मुगल सम्राट धीरे-धीरे महत्त्वहीन होते जा रहे थे। उनकी उपाधियां, शान-शौकत, शाही मोहर और पत्र-व्यवहार में सम्मान पहले की भांति थे। लॉर्ड हेस्टिंग्ज़ मुगल शासकों की इस दिखावटी और नाममात्र की प्रभुता को भी समाप्त करना चाहता था। जब वह मुगल सम्राट से मिलने गया तो उसने बाहरी औपचारिकताओं से मना किया और इसका प्रतिरोध किया। इसके परिणाम शीघ्र ही देखने को मिले। आगामी वर्षों में मुगल सम्राट की अवस्था सामान्य शासकों की भांति होती गई।

उपरोक्त विजयों, संधियों द्वारा लॉर्ड हेस्टिंग्ज़ ने भारत में अंग्रेज़ी राज्य की जड़ें मज़बूत कर दीं। उसके काल में केवल पंजाब और सिंध ऐसे प्रदेश थे, जहां अंग्रेज़ों का प्रभुत्व नहीं था। अब ब्रिटिश राज्य की सर्वोच्चता स्थापित हो गई। आंतरिक युद्धों का क्रम बंद हो गया। अंग्रेज़ों के प्रसिद्ध शत्रु मराठे, राजपूत और मुसलमान अब उनके संरक्षण में रहने लगे।

ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार (1818-1856)

लॉर्ड हेस्टिंग्ज़ के पश्चात लॉर्ड डलहौज़ी तक ब्रिटिश राज्य विस्तार को सुदृढ़ करने की प्रक्रिया तेज़ी से चलती रही। सुविधा की दृष्टि से उसे तीन भागों में बांटकर समझा जा सकता है। ये हैं–सिंध विजय, पंजाब विजय और भारतीय रियासतों का अधिग्रहण।

❑ *सिंध विजय (1843)*

ब्रिटिश गवर्नर लॉर्ड ऑकलैण्ड (1836-1842) ने रूस के बढ़ते प्रभाव को रोकने के लिए अफ़ग़ानिस्तान पर आक्रमण करने की आवश्यकता महसूस की। वह अफ़ग़ानिस्तान में अपनी सेनाएं भेजने के लिए सिंध का मार्ग चाहता था। कर्नल पोटिंगर ने अमीरों से महाराजा रणजीतसिंह के विरुद्ध कंपनी की एक सेना रखने को भी कहा, पर सिंध के अमीर तैयार न हुए। इस पर पोटिंगर ने रणजीतसिंह को समर्थन देने की धमकी दी। विवश हो 1838 में सिंध के अमीरों ने एक संधि की, जिसमें सिक्खों और उनके बीच कंपनी की मध्यस्थता मानना स्वीकार किया। साथ ही हैदराबाद में एक ब्रिटिश रेज़ीडेंट रखना भी स्वीकार किया। वह अंग्रेज़ सैनिकों के संरक्षण में सिंध में कभी भी आ-जा सकता था। वास्तव में यह सिंध के अमीरों पर अनैतिक दबाव था।

जून 1838 में एक त्रिदलीय संधि (Tripartite Treaty) भी अंग्रेज़ों, महाराजा रणजीतसिंह व अफ़ग़ानिस्तान के शाहशुजा के बीच हुई, जिसमें रणजीतसिंह ने सिंध के अमीरों से झगड़ों में कंपनी की मध्यस्थता मान ली और शाहशुजा ने सिंध से अपना आधिपत्य त्याग दिया। वस्तुतः सिंध पर ये शर्तें लादी गई थीं। इसके द्वारा अंग्रेज़ों को सिंध मार्ग से अफ़ग़ानिस्तान पर आक्रमण के लिए सुविधा प्राप्त हो गई। इतना ही नहीं फ़रवरी 1839 में सिंध पर एक और संधि लादी गई, जिसमें तय हुआ कि कंपनी की सहायक सेनाएं शिकारपुर व भक्कर में रखी जाएंगी। अमीर तीन लाख रुपए वार्षिक कंपनी को देंगे। अमीर अंग्रेज़ों के अलावा किसी विदेशी शक्ति से अंग्रेज़ों को बताए बगैर अपना संबंध नहीं रखेंगे। कराची में कंपनी का एक गोदाम भी होगा, जिस पर कोई मार्ग-कर (Toll tax) नहीं होगा। अंग्रेज़ों ने यह भी आश्वासन दिया कि कंपनी आंतरिक मामलों में दखल नहीं देगी और कोई बाहरी आक्रमण होने पर उनकी रक्षा करेगी।

संधि की वार्ता के दौरान कंपनी ने कराची पर अपना कब्ज़ा कर लिया और अमीरों को संधि पर हस्ताक्षर के लिए मजबूर किया।

लॉर्ड एलनबरो (1842-1844) भारत का गवर्नर जनरल बना। अफ़गानिस्तान में अंग्रेज़ों की हार हुई । अंग्रेज़ों की प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा। एलनबरो ने सिंध का विलय कर अफ़गानिस्तान में खोए हुए सम्मान को पुन: स्थापित करना चाहा। अत: उसने भी अमीरों के प्रति छल एवं कपट की नीति का सहारा लिया और अमीरों पर राजद्रोह का आरोप लगाकर आक्रमण कर दिया।

लॉर्ड एलनबरो ने सिंध के अमीरों से एक नई संधि का प्रस्ताव रखा, जिसमें उन्होंने कुछ प्रदेश अंग्रेज़ों को सौंपने और दंडस्वरूप कुछ धनराशि देने को कहा। इसके लिए आउट्रम को भेजा गया। नई संधि में सिंध के अमीरों को कुछ प्रदेश छोड़ने, अंग्रेज़ों के स्टीमरों को कोयला देने और अपने सिक्के गढ़ने का अधिकार कंपनी को देने को कहा। इसी बीच खैरपुर में गद्दी प्राप्ति के लिए मीर रुस्तम के पुत्रों में झगड़ा हो गया। इसी समय चार्ल्स नेपियर ने मेजर आउट्रम का स्थान लिया। उसने परिस्थितियों का लाभ उठाकर आक्रमण कर दिया। उसने जनवरी 1843 में इमामगढ़ का दुर्ग जीत लिया। बलोचियों ने उसकी रेज़ीडेंसी पर आक्रमण कर दिया। नेपियर ने एक जहाज़ में भागकर जान बचाई। पुन: युद्ध हुआ, जिसमें नेपियर ने बलोचियों को मिआनी (Miani) और दाबो (Dabo) नामक स्थानों पर हराया। मीरपुर पर अंग्रेज़ों का कब्ज़ा हो गया। अप्रैल 1843 में पूरा सिंध अंग्रेज़ी राज्य में मिलाया गया। अमीरों को कैद कर देश-निकाला दिया गया। नेपियर ने 70,000 पौंड सिंध की लूट से प्राप्त किए। सिंध पर अंग्रेज़ों का कब्ज़ा हो गया।

सिंध का विलय किसी भी प्रकार उचित न था। अंग्रेज़ों ने नैतिकता के सभी मापदंड एक ओर रख कर निर्लज्जता से क्रमशः एक से एक कठोर संधियां मनमाने ढंग से अमीरों पर थोपीं। एलनबरो का यह मत था कि रूस और ईरान से भारत की सुरक्षा के लिए सिंध को मिलाया गया था, इसका कोई औचित्य नहीं है। अनेक अंग्रेज़ लेखकों और विचारकों ने इस विलय को अनैतिक, निंदनीय, सर्वत्र सड़ी हुई घटना, नीचतापूर्ण कृत्य और आक्रामक कहा है। निश्चय ही यह एक अनैतिक, अन्यायपूर्ण घटना थी।

❒ *पंजाब का विलय (1849)*

महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चत पंजाब राज्य अस्त-व्यस्त होने लगा था। यह विभिन्न राजनीतिक षड्यंत्रों तथा हत्याओं का केंद्र बन गया था। सेना अनुशासनहीन हो गई थी और आर्थिक ढांचा हिल गया था। रणजीतसिंह के अयोग्य पुत्र शासन की बागडोर देर तक न संभाल सके। रणजीतसिंह का पौत्र नौनिहालसिंह अवश्य योग्य था, जिसने लद्दाख जीता था। राजदरबार में गुटबाज़ी और अस्थिरता थी।

पंजाब में फैली इस अराजकता का लाभ अंग्रेज़ों ने उठाया। लॉर्ड ऑकलैंड के काल से ही अंग्रेज़ पंजाब जीतने को आतुर थे। लॉर्ड एलनबरो ने भी महारानी विक्टोरिया को लिखे पत्र में उक्त भावना प्रकट की थी। 1844 में लॉर्ड हार्डिंग ने भी भारत आते ही इस दृष्टि से तैयारियां प्रारंभ कर दीं। उसने सैनिकों की संख्या बढ़ाई और उन्हें प्रशिक्षण दिया। अंग्रेज़ों ने युद्ध की ज़िम्मेदारी शासकों और अनियमित खालसा सेना पर डालनी चाही। प्रारंभिक मुठभेड़ के बाद लॉर्ड हार्डिंग ने 13 दिसंबर, 1846 को युद्ध की घोषणा कर दी। यह युद्ध पांच प्रमुख स्थानों – मुदकी, फिरोजशाह, बद्दोवाल, आलीवाल और सबराओं पर हुआ। वास्तव में पांचवीं लड़ाई जो 10 फ़रवरी, 1846 को हुई, निर्णायक सिद्ध हुई। इससे अंग्रेज़ों ने लाहौर पर कब्ज़ा कर लिया। मार्च 1846 में सबराओ की संधि से महाराजा ने सतलुज के पार के सब इलाके अंग्रेज़ों को दे दिए। सिक्खों ने डेढ़ करोड़ रुपया हरजाना

भी देना स्वीकार किया, जिसमें 50 लाख रुपया नकद व शेष के बदले व्यास और सिंध के बीच के पर्वतीय क्षेत्र, जिसमें कश्मीर और हज़ारा के इलाके भी थे, अंग्रेज़ों के अधिकार में आ गए। पंजाब के महाराजा दलीपसिंह की सभी सीमाएं सीमित कर दी गईं। महाराजा के संरक्षक रानी जिंदा कौर व मंत्री लालसिंह बना दिए गए। सर हैनरी लारेंस को लाहौर का रेज़ीडेंट रखा गया।

जनवरी 1848 में डलहौज़ी ने भारत आते ही इस ओर ध्यान दिया। इस समय उत्तर-पश्चिम भारत में अंग्रेज़ों की कुल सेना 70,000 थी, जिसमें 9,000 सेना केवल लाहौर में थी। मुल्तान के गवर्नर मूलराज के विद्रोह से डलहौज़ी को पंजाब के मामले में दखल देने का अवसर मिल गया। अंग्रेज़ों ने उस पर कुछ शर्तें लादनी चाहीं। इससे पूर्व 1846 में उसे 20 लाख रुपए नज़राना, रावी नदी के उत्तर का प्रदेश और मुल्तान प्रांत पर 33 प्रतिशत कर बढ़ाने को कहा गया था। मूलराज ने यह स्वीकार न किया और दिसंबर 1847 में त्यागपत्र दे दिया। मार्च 1848 में नए ब्रिटिश रेज़ीडेंट फ्रेडरिक क्यूरी ने मुल्तान का नया गवर्नर काहनसिंह को बना दिया। उसकी सहायता के लिए दो अंग्रेज़ अधिकारी भी भेजे गए। मुल्तान के लोगों ने अंग्रेज़ों की इस मनमानी को स्वीकार नहीं किया और विद्रोह कर दोनों अंग्रेज़ अधिकारियों की हत्या कर दी। हज़ारा के सिक्ख गवर्नर चतरसिंह ने भी विद्रोह कर दिया। पेशावर अफ़गानिस्तान के अमीर दोस्त मुहम्मद को दे दिया और उसकी सहानुभूति प्राप्त की। शीघ्र ही यह विद्रोह समस्त पंजाब में फैल गया और इसने एक व्यापक आंदोलन का-सा स्वरूप धारण कर लिया। यह अंग्रेज़ी शासन को हटाने का एक महत्त्वपूर्ण प्रयास था।

अक्टूबर 1848 में पंजाब में सिक्ख शासन को समाप्त करने का निश्चय किया गया। 16 नवंबर, 1848 को जनरल गफ़ (Gough) के नेतृत्व में एक सेना ने रावी पार कर रामनगर स्थान पर युद्ध किया। साथ ही चिलियांवाला और गुजरात में भी भयंकर संघर्ष हुए। गुजरात का युद्ध सर चार्ल्स नेपियर के नेतृत्व में निर्णायक सिद्ध हुआ, जिसमें अंग्रेज़ों की जीत हुई। लॉर्ड डलहौज़ी की 29 मार्च, 1849 की घोषणा द्वारा संपूर्ण पंजाब का विलय अंग्रेज़ी राज्य में कर लिया गया। महाराजा दलीपसिंह को 50,000 पौंड की वार्षिक पेंशन दे दी गई और उसे शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंग्लैंड भेज दिया गया, जहां उसने ईसाइयत स्वीकार कर ली। मूलराज पर मुकद्दमा चला तो उसे मृत्यु दंड दिया गया। पंजाब के शासन के लिए एक बोर्ड ऑफ कमिश्नर्स बनाया गया। जगत प्रसिद्ध सिक्ख राज्य का प्रसिद्ध हीरा कोहिनूर महारानी विक्टोरिया को भेज दिया गया।

अंग्रेज़ों के लिए पंजाब का विलय अत्यंत महत्त्व का था। अब अंग्रेज़ों की सीमाएं उत्तर-पश्चिम की अंतिम सीमा तक पहुंच गईं। भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा सुदृढ़ हो गई। डलहौज़ी के पंजाब विलय की कड़ी आलोचना की गई। इसे अनुचित और विश्वासघातपूर्ण बतलाया गया। मेजर इवांस बैल ने लिखा, 'पंजाब का विलय कोई विलय न था, यह तो विश्वासघात था।'

❑ *भारतीय रियासतों का विलय*

लॉर्ड डलहौज़ी से पूर्व भी किसी-न-किसी बहाने एक-एक करके भारतीय रियासतों के विलय का क्रम चल रहा था। 1826 में भरतपुर के किले पर अंग्रेज़ों ने अपना अधिकार कर लिया था। 1831 में मैसूर में एक ब्रिटिश कमिश्नर की नियुक्ति कर दी गई थी। 1832 में बंगाल के उत्तर पश्चिम की छोटी-सी रियासत कछार को ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया। 1834 में कुर्ग के शासक को अयोग्य बताकर अंग्रेज़ों ने अपना नियंत्रण स्थापित किया। इसी भांति 1850 में सिक्किम के राजा को हटाकर अपने राज्य में मिला लिया गया।

भारत में उत्तराधिकारी के संदर्भ में गोद लेने की परंपरागत प्रथा को तोड़कर अंग्रेज़ों ने अनेक राज्यों को

हड़प लिया। उन्होंने तय किया – 'यदि किसी आश्रित राज्य का शासक बिना संतान के मर जाए तो उस अवस्था में उसके दत्तक पुत्र को राजगद्दी न दी जाए, बल्कि उस राज्य को अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया जाए।' यह नीति पूर्णतः नई न थी, परंतु इसको साम्राज्य विस्तार की नीति का आधार किसी ने नहीं बनाया था। लॉर्ड डलहौज़ी ने इसका भरपूर उपयोग किया।

इस नीति के बहाने अंग्रेज़ों ने अनेक राज्यों का विलयीकरण किया। इसमें उल्लेखनीय हैं– सतारा (1848), झांसी (1853) और नागपुर (1854) के राज्य। सतारा राज्य मराठा संघ के पतन पर 1818 में बना था। 1848 में शासक अप्पा साहिब की मृत्यु हो गई। उसने एक बच्चा गोद लिया, परंतु डलहौज़ी ने अनुमति न देकर उसका राज्य छीन लिया। झांसी का राज्य 1817 में पेशवा से अंग्रेज़ों को मिला था। वह एक मराठा सरदार को दे दिया गया था। 1853 में यहां के शासक गंगाधर राव की मृत्यु हो गई थी। झांसी की रानी ने भी एक बच्चे को गोद लिया, परंतु डलहौज़ी ने उसे भी स्वीकार न किया और झांसी को अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया। नागपुर 1818 में अंग्रेज़ों के अधीन हो गया था। लॉर्ड हेस्टिंग्ज़ ने भोंसले के वंशज को यहां का शासक बना दिया था। अंग्रेज़ों ने यहां भी गोद लेने की बात स्वीकार न की। इस राज्य को भी अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया गया। राजा की निजी संपत्ति लूट ली गई। राजमहल और रानियों के आभूषण बेचकर 2 लाख पौंड प्राप्त किए गए। इसके अतिरिक्त अनेक छोटे-छोटे राज्य भी इस नीति के शिकार हुए, जैसे–उड़ीसा में संभलपुर (1849), बुंदेलखंड में जैतपुर (1849), हिमाचल प्रदेश में बघाट (1850) और मध्य प्रदेश में उदेपुर (1852)।

अन्य तरीके

डलहौज़ी ने अनेक राज्यों को पेंशनों और उपाधियों से वंचित कर दिया, अनेक राज्य इसका शिकार हुए। इसमें बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र नाना साहेब को पेंशन नहीं दी गई। पेशवा की मृत्यु के उपरांत उसको पेंशन और उपाधि देने से वंचित कर दिया गया। यही बात कर्नाटक के नवाब व तंजौर के राजा की मृत्यु के बाद हुई।

कई स्थानों पर जनहित की दुहाई देकर या कुशासन कहकर राज्यों को सीधे अंग्रेज़ी शासन में मिला लिया गया। इसमें एक महत्त्वपूर्ण राज्य अवध है। 1848 में कर्नल सलीमन को लखनऊ रेज़ीडेंट के रूप में भेजा गया। उसने कुशासन पर एक रिपोर्ट भेजी, परंतु वह विलय के पक्ष में न था। 1852 को सेनापति आउट्रम को भेजा गया। नवाब वाजिद अलीशाह को 13 फ़रवरी, 1856 को गद्दी त्यागने को विवश किया गया और उस पर कुशासन का आरोप लगाया गया।

कुछ प्रदेश अंग्रेज़ों ने सहायक संधि द्वारा छीन लिए। हैदराबाद से बरार का प्रदेश जो कपास की खेती के लिए प्रसिद्ध था, सहायक सेना के खर्चे के बदले ले लिया गया।

उपरोक्त विलय ने विभिन्न माध्यमों से ब्रिटिश राज्यों का विस्तार किया। अंग्रेज़ों की इस विस्तारवादी नीति से भारत में अंग्रेज़ी राज्य भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा तक, वहां के दर्रों तक पहुंच गया। सिक्किम के कुछ भाग के विलय से भारतीय सीमाएं तिब्बत और चीन की सीमाओं तक पहुंच गईं। लोअर बर्मा की प्राप्ति से कन्याकुमारी से रंगून तक के समुद्री तट पर अंग्रेज़ों का प्रभुत्व हो गया। देश के अंदर-अंदर भारतीय राज्यों के विलय से अंग्रेज़ी व्यापार, सुरक्षा और संचार व्यवस्थाओं को अत्यधिक लाभ हुआ। इस विलय की प्रक्रिया से लगभग 2.5 लाख वर्ग मील का क्षेत्र अंग्रेज़ों के अधीन हो गया। अंग्रेज़ी राज्य की बाहरी सुरक्षा बढ़ी।

साथ ही लॉर्ड डलहौज़ी की इन निरंकुश, अन्यायपूर्ण, अनैतिक नीतियों का भी परिणाम यह हुआ कि भारतीयों में अंग्रेज़ों के प्रति प्रतिरोध, क्षोभ और असंतोष बढ़ा, जो शीघ्र ही 1857 के विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ।

अभ्यास प्रश्न

1. भारत में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के आगमन तथा उनके व्यापारिक ठिकानों की विवेचना कीजिए।
2. दक्षिण भारत में आंग्ल-फ्रांसीसी प्रतिस्पर्धा के कारणों की विवेचना कीजिए। इस संघर्ष में अंग्रेज़ किस प्रकार सफल हुए?
3. बंगाल के द्वैध शासन की आलोचना कीजिए।
4. क्या आप सोचते हैं कि भारत में अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना के लिए बक्सर के युद्ध का महत्त्व प्लासी के युद्ध से अधिक था? विवेचना कीजिए।
5. लॉर्ड हेस्टिंग्ज़ के समय भारत में अंग्रेज़ों के प्रभुत्व का आकलन कीजिए।
6. आंग्ल-मराठा संघर्ष (1772-1818) का वर्णन कीजिए।
7. भारत में अंग्रेज़ी राज्य के विभिन्न चरणों की व्याख्या कीजिए। इन चरणों में विभिन्न राज्यों के लिए उनकी क्या नीतियां थीं?
8. डलहौज़ी की विलय-नीति की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए। अपने पूर्ववर्ती शासकों से वह किस प्रकार भिन्न थी?
9. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए –
   (क) डूप्ले
   (ख) पिंडारियों का दमन
   (ग) आंग्ल-नेपाल युद्ध

परियोजना कार्य

- भारत के मानचित्र पर उन स्थानों को दर्शाइए, जहां पुर्तगाली, अंग्रेज़ी एवं फ्रांसीसी व्यापारिक केंद्रों की स्थापना हुई थी।

3
अध्याय

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का शासकीय ढांचा और प्रशासनिक संगठन (1757-1857)

शासकीय ढांचा और संगठन

प्रारंभ में ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना का उद्देश्य भारत की आर्थिक समृद्धि से लाभ उठाकर व्यापार करना था। इसकी प्राप्ति के लिए ब्रिटिश सरकार का संरक्षण आवश्यक था। यहां यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस समय इंग्लैंड की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। इंग्लैंड में समुद्री डाके डालने और गुलामी की प्रथा वैध थी। अतः प्रारंभ से ही इस लाभ के हिस्से में ब्रिटेन के राजपरिवारों, मंत्रियों, संसद सदस्यों की भी भागीदारी रहती थी और समय-समय पर ब्रिटिश सांसदों या अधिकारियों को रिश्वत या भारी घूस देने का भी प्रचलन था।

1765 तक ईस्ट इंडिया कंपनी प्रमुखतः एक व्यापारिक कंपनी रही। महारानी एलिज़ाबेथ ने 31दिसंबर, 1600 के अपने अधिकार-पत्र में भी कंपनी के संविधान और उसके अधिकारों का उल्लेख किया। कंपनी के कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए इंग्लैंड में दो समितियां गठित की गईं। एक को 'कोर्ट ऑफ प्रोपराइटर्स' और दूसरी को 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' कहा जाता था। कंपनी के सभी हिस्सेदार पहली समिति के सदस्य होते थे और इसी में से 24 सदस्य दूसरी समिति के लिए चुने जाते थे। दूसरी समिति, पहली समिति द्वारा बनाए गए सभी नियमों, कानूनों को लागू करती थी।

भारत में कंपनी के शासन प्रबंध और उसके व्यापारिक हितों की देखभाल के लिए एक परिषद् होती थी, जिसमें एक उनका प्रधान और चार सदस्य होते थे। ये कंपनी के व्यापारिक हितों को देखते, कंपनी के कर्मचारियों पर नियंत्रण रखते और भारतीय राजाओं एवं नवाबों से संपर्क करते तथा उनका संरक्षण प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। भारत में कंपनी के कर्मचारी वेतन भी पाते थे और उन्हें निजी व्यापार करने का भी अधिकार था। ब्रिटेन के अनेक युवा धन-प्राप्ति हेतु भारत में अपना भविष्य आज़माने के लिए इच्छुक रहते थे। अनेक भारत आकर रातोंरात अमीर बनने का स्वप्न देखते थे। उदाहरण के लिए गरीब थॉमस पिट (1643-1726) जो प्रसिद्ध विलियम पिट का पितामह था, भारत के धन से लखपति बन गया था।

शीघ्र ही ईस्ट इंडिया कंपनी इंग्लैंड के लिए 'अलाद्दीन का चिराग' बन गई थी। 1603-1613 तक अपनी सात यात्राओं में कंपनी ने अपनी धनराशि की कमाई 200 गुणा तक कर ली थी। 1612 में कंपनी ने पहली बार ज्वाइंट स्टॉक कंपनी बनाई, जिसका कुल लाभ 87.5 प्रतिशत था। 17वीं शताब्दी में उसका औसतन लाभ 100 प्रतिशत था।

जैसा कि पहले भी बतलाया गया है कि कंपनी ने अपना व्यापारिक एकाधिकार बनाए रखने के लिए समय-समय पर ब्रिटिश सरकार और उसके प्रभावी अधिकारियों को भारी रिश्वतें, कीमती तोहफ़े, ब्याज रहित कर्ज देने में कोई कसर न छोड़ी थी। 1693 की, एक संसदीय जांच के अनुसार केवल एक मद 'तोहफ़े' के अंतर्गत कंपनी का वार्षिक खर्च 90,000 पौंड था। प्रमुख व्यक्तियों में ड्यूक ऑफ लीड्स को 5,000 पौंड और ब्रिटेन के सम्राट विलियम तृतीय को 10,000 पौंड रिश्वत दी गई थी।

ब्रिटिश सरकार और वहां के अनेक प्रमुख व्यक्तियों के प्रोत्साहन के साथ भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी को भारत के मुगल सम्राटों और स्थानीय शासकों द्वारा भी संरक्षण मिला। हॉकिन्स, सर टॉमस रो ने जहांगीर के काल में अनेक व्यापारिक सुविधाएं प्राप्त कीं। बाद में फर्रुखसियर ने भी कुछ सुविधाएं बढ़ाईं। इसी प्रकार दक्षिण और पूर्व भारत में भी स्थानीय शासकों से सुविधाएं प्राप्त हुईं।

संक्षेप में 1600-1757 तक ईस्ट इंडिया कंपनी मूलतः एक व्यापारिक कंपनी रही। यह ब्रिटिश सरकार और वहां के प्रभावी वर्ग को संतुष्ट करने के लिए सब प्रकार के मार्ग अपनाते हुए और भारतीय शासकों से सहानुभूति और संरक्षण प्राप्त करके भारत में व्यापार पर एकाधिकार प्राप्त करने में सफल रही। व्यापार के विकास में इसकी सैनिक शक्ति का भी प्रचुर मात्रा में उपयोग हुआ। 18वीं शताब्दी के मध्य तक इसका बंगाल, मद्रास और बंबई में प्रशासकीय दृष्टि से भी स्थान बन गया।

ईस्ट इंडिया कंपनी ने 1757 में प्लासी की लड़ाई जीत कर बंगाल में अपना प्रभुत्व स्थापित किया। 1765 में इलाहाबाद की संधि द्वारा मुगल सम्राट शाह आलम से बंगाल, बिहार व उड़ीसा की दीवानी भी प्राप्त कर ली। कंपनी व्यापारिक संस्था के साथ-साथ राजनीतिक संस्था भी बन गई।

लॉर्ड क्लाइव ने अपनी बंगाल की दूसरी गवर्नरी में यहां पर द्वैध शासन की स्थापना की। यह व्यवस्था अगले सात वर्षों तक चलती रही। इस काल में भी कंपनी ने अपने व्यापारिक हितों को प्रमुखता दी। राजस्व वसूली भारतीय दीवान करते थे, परंतु इसका लाभ कंपनी को जाता था। अतः इसका अपयश भारतीयों को मिलता और लाभांश कंपनी के पास जाता था। कंपनी के कर्मचारी भी खूब धन कमा रहे थे। इस समय इस समूचे प्रदेश की आय 40 लाख पौंड आंकी गई। इसमें ब्रिटिश सरकार को 4 लाख पौंड वार्षिक देना तय किया गया था। कंपनी ने अपने हिस्सेदारों के लाभांश को 6.25 प्रतिशत से बढ़ाकर 12.5 प्रतिशत कर दिया। परंतु कंपनी को आशा के अनुरूप लाभ न हुआ।

1722 में वारेन हेस्टिंग्ज़ ने भारत आते ही पहला महत्त्वपूर्ण कार्य द्वैध शासन का अंत करना किया। ब्रिटिश संसद ने 1773 में रेग्यूलेटिंग ऐक्ट पास किया। इसके द्वारा इंग्लैंड और भारत में कंपनी के शासकीय ढांचे में परिवर्तन किया गया। कंपनी के डायरेक्टर्स की संख्या 24 की गई, जो 4 वर्ष के लिए चुने जाते थे और जिनमें से 25 प्रतिशत को प्रति वर्ष अवकाश प्राप्त करना होता था। इंग्लैंड में वोट देने का अधिकार केवल उन लोगों को दिया गया, जो चुनाव से कम-से-कम एक वर्ष पूर्व एक हज़ार पौंड के शेयर के स्वामी रहे हों। कंपनी के डायरेक्टरों के लिए अपने सभी सैनिक और राजस्व संबंधी पत्राचार भी ब्रिटिश सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करना आवश्यक कर दिया गया। भारत में बंगाल के गवर्नर को गवर्नर जनरल कहा जाने लगा। गवर्नर जनरल की मदद के

लिए चार सदस्यों की एक कौंसिल नियुक्त की गई, जिसके निर्णय बहुमत से होने थे। ऐक्ट के अनुसार कलकत्ता में एक सुप्रीम कोर्ट की स्थापना की गई, जिसमें एक मुख्य न्यायाधीश व तीन अन्य न्यायाधीश होने थे। कोर्ट को यूरोपवासियों, कंपनी के कर्मचारियों और कलकत्ता के नागरिकों का न्याय करने का अधिकार दिया गया। इसके अलावा कंपनी के कर्मचारियों के निजी व्यापार करने और तोहफ़े लेने पर भी प्रतिबंध लगा दिए गए।

शीघ्र ही रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के दोष भी सामने आने लगे। गवर्नर जनरल की कौंसिल में बहुमत के निर्णय के आधार से गवर्नर जनरल की स्थिति बहुत नाज़ुक हो गई। गवर्नर जनरल का अपनी कौंसिल पर नियंत्रण न रहा। सुप्रीम कोर्ट और गवर्नर जनरल एवं उसकी कौंसिल के अधिकार और कार्य-क्षेत्र स्पष्ट न थे। कंपनी पर संसद का नियंत्रण भी स्थापित न हो सका। जिन हिस्सेदारों का कंपनी के डायरेक्टरों के चुनने में योगदान न रहा, उनमें असंतोष बढ़ा, परंतु इस ऐक्ट की विशेषता यह थी कि इसने ईस्ट इंडिया कंपनी को एक व्यापारिक कंपनी के साथ-साथ एक वैधानिक रूप दिया और उसे राजनीतिक अधिकार दिए।

उपरोक्त रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के दोषों को दूर करने के लिए 1784 में पिट का इंडिया ऐक्ट बना। कंपनी और भारत के सभी मामलों पर ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण स्थापित किया गया। कंपनी के व्यापार को छोड़कर सभी असैनिक, सैनिक और राजस्व संबंधी मामलों की देखभाल के लिए ब्रिटिश संसद द्वारा 6 सदस्यों का एक बोर्ड ऑफ कंट्रोल स्थापित किया गया। इसमें मंत्रिमंडल स्तर के दो सदस्य होते थे। महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिए तीन डायरेक्टरों की एक गुप्त समिति भी बनाई गई, जो भारत को सीधे आदेश भेज सकती थी। गवर्नर जनरल की कौंसिल के सदस्य चार से तीन कर दिए गए। 1793 के ऐक्ट में कहा गया कि विशेष परिस्थितियों में गवर्नर जनरल कौंसिल के मत की अवहेलना भी कर सकता है। परंतु वह ब्रिटिश संसद की सलाह के बिना युद्ध या संधि नहीं करेगा। इसी ऐक्ट में मद्रास और बंबई के गवर्नर पूरी तरह से गवर्नर जनरल के अधीन कर दिए गए।

1784 का ऐक्ट शासकीय ढांचे की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में यह 1857 तक कंपनी के भारत में शासन का आधार बना रहा। इसमें गवर्नर जनरल की स्थिति मज़बूत हो गई। प्रशासकीय कार्यों पर ब्रिटिश संसद का नियंत्रण हो गया और व्यापारिक मामलों में डायरेक्टरों का प्रभुत्व बढ़ा। वे भारत में ब्रिटिश अधिकारियों को नियुक्ति या पदच्युत कर सकते थे। कंपनी का भारत व चीनी व्यापार पर एकाधिकार बना रहा। पिट के इंडिया ऐक्ट के अतिरिक्त भी 1857 तक कई चार्टर ऐक्ट पास हुए, जिन्होंने कंपनी के शासकीय ढांचे में परिवर्तन किए। इनके द्वारा ब्रिटिश संसद का भारत पर नियंत्रण बढ़ता गया और कंपनी की शक्ति क्षीण होती गई।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 1757–1857 तक कंपनी के शासकीय ढांचे में एकरूपता न रही। समय-समय पर इंग्लैंड और भारत की बदलती हुई परिस्थितियों से इसमें तीव्र परिवर्तन होते रहे। सर्वदा शासनकर्ता का मुख्य मुद्दा व्यापार के हितों की सुरक्षा रहा, परंतु ब्रिटिश व्यापारियों और प्रभावी लोगों में परस्पर टकराव होते रहे, जिससे कंपनी के व्यापारिक एकाधिकार को समाप्त करने के प्रयत्न हुए। कंपनी का शासन बोर्ड ऑफ प्रोपराइटर्स, बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स और 1784 से स्थापित बोर्ड ऑफ कंट्रोल के इर्द-गिर्द घूमता रहा। धीरे-धीरे कंपनी के शासकीय ढांचे का प्रभाव कम होता गया और ब्रिटिश संसद का वर्चस्व बढ़ता गया, परंतु निर्णय करने में या कानून बनाने में कहीं भी किसी भारतीय की कोई भूमिका न रही और न ही उसे कोई महत्त्व दिया गया। भारतीय हितों की पूर्णतः अवहेलना की गई और एक शताब्दी तक भारत में अपराध, अत्याचार और आर्थिक शोषण के साथ भारतीय असंतोष बढ़ता

गया। संक्षेप में, ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रशासकीय ढांचा नित्य बदलता रहा, परंतु उसका लक्ष्य सामान्यतः एक-सा रहा।

भारत जैसे एक विशाल देश पर लगभग दो सौ वर्षों तक राज करने में ब्रिटिश प्रशासनिक संगठन के विभिन्न अंगों, जैसे—नागरिक सेवा, सेना, पुलिस, न्याय व्यवस्था और राजस्व व्यवस्था की विशिष्ट भूमिका रही है। अतः इस संदर्भ में थोड़ा विस्तार से जानना आवश्यक है।

❑ *नागरिक सेवा*

कंपनी के प्रशासनिक संगठन में नागरिक सेवा को एक ऐतिहासिक आवश्यकता की उपज कहा जा सकता है, जिसमें ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार की भी भूमिका रही। लॉर्ड मैकॉले का कथन है कि 'भारतीय प्रशासन को चलाने में यहां तक कि गवर्नर जनरल की भी भूमिका कम महत्त्वपूर्ण थी, जितनी नागरिक सेवाओं के स्वरूप और भावना की।' वास्तव में व्यावहारिक रूप से ये भारत के मालिक थे, जो न हटाए जा सकते थे, न उत्तरदायी थे और न अपने साथियों के अलावा किसी और के द्वारा बदले जा सकते थे। एक प्रसिद्ध भारतीय इतिहासकार का कथन है, 'भारत ईस्ट इंडिया कंपनी के डायरेक्टर्स या ब्रिटिश क्राउन द्वारा इतना शासित न था, जितना गवर्नर जनरल, अनुबद्ध (Convenanted services) नागरिक सेवा के ऊंचे अधिकारियों की मदद और सलाह से।' भारतीयों की दृष्टि से यह ब्रिटिश नौकरशाही यंत्रवत और आत्माहीन थी। इन्होंने भारतीयों के आत्मसम्मान को तहस-नहस कर दिया था। उनमें किसी प्रकार की राष्ट्रीय भावना की गुंजाइश नहीं रखी थी। भारतीय जनता के प्रति उनका दृष्टिकोण घृणात्मक था। कंपनी के लिए पहला चार्टर पास होने के बाद लगभग 150 वर्षों तक ईस्ट इंडिया कंपनी ने शासन ,के लिए कोई प्रशासक भारत नहीं भेजा, क्योंकि कंपनी का संबंध मूलतः व्यापार से था। फैक्ट्रियों में काम करने वाले अधिकतर लिपिकों के लिए उच्च योग्यता की आवश्यकता न थी। कंपनी के कर्मचारी प्रवर और कनिष्ठ व्यापारी, अभिकर्ता और लिपिकार में बंटे हुए थे। एच.एच. डाडवैल ने मद्रास प्रेसीडेंसी के रिकार्ड्स के आधार पर कंपनी के कर्मचारियों का चित्रण किया है। जो 5 पौंड सालाना पर एक लिपिक के रूप में नियुक्त होता था, प्रायः पांच वर्षों बाद उसे निम्न सौदागर और कुछ वर्षों बाद उच्च सौदागर बना दिया जाता था। कंपनी की सेवा करने का मुख्य उद्देश्य अमीर बनना होता था।

शुरू-शुरू में कंपनी के डायरेक्टर्स कंपनी के व्यापारियों और कर्मचारियों की छंटनी मनमाने ढंग से करते थे। 1731 के एक नियम द्वारा तय हुआ कि जो भी व्यक्ति भारत में या अन्यत्र सेवा करना चाहे उसे डायरेक्टर्स के सम्मुख पेश होना होगा। कंपनी के विस्तार के साथ-साथ प्रश्रय प्रणाली को बढ़ावा मिला अर्थात कंपनी के डायरेक्टर्स अपने-अपने चहेतों, मित्रों, भाई-भतीजों को भारत भेजने लगे। कंपनी की सेवा कुछ परिवारों की बपौती बन गई। कभी-कभी इन नौकरियों की बोलियां भी लगतीं अथवा इन्हें बेचा भी जाता था। कंपनी के कर्मचारियों का वेतन कम था, अतः वे लूट करते, घूस और रिश्वत लेते और समय निकालकर अपना निजी व्यापार भी करते थे।

लॉर्ड क्लाइव ने नागरिक सेवाओं की ओर ध्यान दिया। उसने कंपनी के कर्मचारियों के किसी से भी निजी व्यापार करने और तोहफ़े लेने पर प्रतिबंध लगाया और सेवा के लिए उन्हें एक समझौते पर हस्ताक्षर करने को कहा। तभी से अनुबद्ध सेवाओं (Convenanted services) शब्द का प्रचलन हुआ। परंतु वह कर्मचारियों में भ्रष्टाचार को न रोक सका। वारेन हेस्टिंग्ज़ ने ऊंची नौकरियों के लिए अधिक वेतन दिया, पर भ्रष्टाचार फिर भी चलता रहा। ब्रिटिश संसद के एक सदस्य सर कॉर्नवेल लेविस ने कंपनी के शासन के बारे में कहा 'पृथ्वी पर कोई भी सभ्य

सरकार नहीं बनी, जो 1765-1784 तक के कंपनी के शासन से अधिक भ्रष्ट, विश्वासघाती और लालची हो।' 1786 में लॉर्ड कॉर्नवालिस ने भारत आते ही इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम उठाया। वह भारतीयों से घृणा करता था और प्रत्येक को भ्रष्ट मानता था तथा किसी को भी ऊंचे पद देने को तैयार न था। उसने अनुबद्ध सेवाओं में भारतीयों को कोई स्थान न दिया, बल्कि उसने सरकारी नौकरियों का यूरोपीयकरण किया। उसने कंपनी के कर्मचारियों में व्याप्त भ्रष्टाचार को रोकने के लिए कार्य किया और उनके निजी व्यापार, रिश्वत व तोहफ़े लेने पर प्रतिबंध लगा दिए। कर्मचारियों की पदोन्नति वरिष्ठता के आधार पर की, ताकि किसी प्रकार का पक्षपात न हो। कंपनी के कर्मचारियों के वेतन बढ़ा दिए। उसने ज़िले के कलेक्टर का वेतन 1500 रुपए मासिक निश्चित किया। उसके अलावा उसे कार्य में प्रोत्साहित करने के लिए ज़िले के लगान पर 1 प्रतिशत कमीशन भी दिया, परंतु उसने न तो नियुक्तियों के लिए चयन का और न ही प्रशिक्षण का ठीक-ठाक प्रबंध किया।

लॉर्ड कॉर्नवालिस की नागरिक सेवाओं के यूरोपीयकरण की नीति भारतीयों के लिए अभिशाप थी, क्योंकि वे ऊंचे पदों पर नियुक्त नहीं हो सकते थे। वे सेना में सूबेदार या प्रशासनिक सेवा में मुंसिफ, सदर अमीन या डिप्टी कलेक्टर से ऊपर नहीं जा सकते थे। वस्तुत: कॉर्नवालिस की उपरोक्त नीति का कोई भी नैतिक औचित्य न था, जबकि अंग्रेज़ स्वयं भारत अथवा इंग्लैंड में भ्रष्टाचार में लिप्त थे। इससे भारतीयों के प्रति अविश्वास बढ़ा, नौकरियों के यूरोपीयकरण से खर्चे बढ़े। कार्य में निपुणता न बढ़ी, क्योंकि वे भारतीय रीति-रिवाजों, भाषा से अनभिज्ञ न थे। इससे भारतीयों में असंतोष बढ़ा।

लॉर्ड वेलेजली को इस बात का श्रेय है कि उसने पहली बार कंपनी के प्रशासनिक कर्मचारियों एवं अधिकारियों के लिए किसी भी प्रकार की नौकरी में योग्यता एवं क्षमता बढ़ाने के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था की। अत: उसने 24 नवंबर, 1800 में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की।

लॉर्ड वेलेजली का विश्वास था कि जैसे राजनीतिक, न्यायिक, वित्तीय और व्यापारिक सेवाओं के लिए यूरोप में कुछ प्रशिक्षण की आवश्यकता है, ऐसे ही भारत में भी कुछ स्थानों पर ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए। उसका मत था कि नागरिक सेवा कर्मचारियों की शिक्षा का स्वरूप मिश्रित हो। इसका आधार इंग्लैंड में हो और इसका बाहरी ढांचा भारत में व्यवस्थित ढंग से पूरा हो। लॉर्ड वेलेजली द्वारा स्थापित कॉलेज में तीन वर्ष के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई। यहां भारतीय कानून, भाषाओं और इतिहास का ज्ञान भी दिया जाता था। परंतु कंपनी के डायरेक्टर्स भारत में ऐसी किसी योजना के समर्थक न थे। अत: यह कॉलेज कुछ ही वर्ष चला। यह 1854 तक भाषा का ज्ञान देने वाले विद्यालय के रूप में चलता रहा। कंपनी ने 1806 में लंदन में हैलीबरी में ईस्ट इंडिया कॉलेज के नाम से अपना प्रशिक्षण कॉलेज शुरू किया। इस कॉलेज में प्रवेश मनोनयन के द्वारा होता था। यहां पर दो वर्ष के प्रशिक्षण की व्यवस्था थी।

1813 के चार्टर के अनुसार भारत में कोई भी व्यक्ति जिसने किसी भी संस्था से संतोषजनक सर्टिफिकेट प्राप्त न किए हों, लिपिक के पद पर नियुक्त नहीं हो सकता था। 1833 के चार्टर में धारा 87 में पहली बार नागरिक सेवाओं के लिए योग्यता को आधार माना गया था। इसके लिए किसी प्रकार के धर्म, स्थान, वंश, रंग और भेद को स्वीकार नहीं किया गया। लॉर्ड मैकॉले ने इस धारा की बड़ी प्रशंसा की और इसे 'बुद्धिमत्तापूर्ण और शानदार धारा' बतलाया। इस नियम के लिए 1834 में लॉर्ड मैकॉले के नेतृत्व में एक समिति की नियुक्ति की गई, जिसने प्रतियोगिता की व्यवस्था को अपनाया और प्रतियोगिता की आयु कम-से-कम 18 वर्ष निर्धारित की। इसको ब्रिटिश संसद ने अनुमति दी, परंतु कुछ काल बाद बोर्ड ऑफ कंट्रोल का अध्यक्ष लॉर्ड

एलनबरो बना, जिसने इस नई योजना को तर्कहीन बताया और प्रतियोगिता द्वारा चुनाव के प्रति संदेह व्यक्त किया। अब योजना खटाई में पड़ गई। एक संशोधित बिल द्वारा योजना स्थगित कर दी गई। अतः किसी भी भारतीय को ऊंचे पद पर नियुक्त नहीं किया गया। भारतीयों को 1833 की धारा 87 से बड़ी आशा थी। कुछ भारतीय इंग्लैंड भी गए, पर उन्हें निराश लौटना पड़ा। कंपनी के डायरेक्टर्स की प्रश्रय की नीति चलती रही।

एक आंकड़े के अनुसार 1842 में कुल 836 कर्मचारी ईस्ट इंडिया कंपनी की सभी प्रकार की नागरिक सेवा में थे, जिसमें लगभग 785 भारत में नियुक्त थे, परंतु इनमें से एक भी भारतीय न था।

1842 में भारत में नागरिक सेवा में नियुक्त कर्मचारियों का विवरण

बंगाल	
60 जिले व दिल्ली रेज़ीडेंसी	441 कर्मचारी
मद्रास	
23 जिले व 6 रेज़ीडेंसियां	205 कर्मचारी
बंबई	
12 जिले व 16 रेज़ीडेंसियां	139 कर्मचारी
कुल	785 कर्मचारी

1853 में चार्ल्स वुड, बोर्ड ऑफ कंट्रोल का अध्यक्ष बना। 1853 के चार्टर ऐक्ट में नागरिक सेवा के द्वारा खुली प्रतियोगिता के आधार पर भारतीयों के लिए भी द्वार खोल दिए गए। परंतु प्रतियोगिता की आयु 23 वर्ष कर दी गई और प्रतियोगिता का स्थान इंग्लैंड तय हुआ एवं भाषा का माध्यम अंग्रेज़ी रखा गया।

कुल मिलाकर प्रशासनिक सेवाओं में भारतीयों को कोई स्थान नहीं दिया गया। वे कुछ समय तक, विशेषकर अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतीयों को मूर्ख बनाते रहे अथवा कोरे आश्वासन देते रहे। 1833 की धारा 87 कुछ भारतीयों को एक महान अधिकार-पत्र लगा, परंतु कथनी करनी में, दिखावट और वास्तविकता में, सिद्धांत और व्यवहार में महान अंतर बना रहा। 1857 तक किसी भी भारतीय को किसी भी ऊंची नागरिक सेवा में नियुक्त नहीं किया गया।

❐ *सेना*

ईस्ट इंडिया कंपनी का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक अंग था – सेना। सेना कंपनी के व्यापार की सुरक्षा, संवर्धन और विस्तार में सहायक थी। यह कंपनी के लिए भारतीय राज्यों को जीतने में निर्णायक थी। इसके साथ ही यह आंतरिक विद्रोहों को दबाने और विदेशी शक्तियों से भारत में ब्रिटिश राज्य की सुरक्षा में सहायता करती थी।

कंपनी के व्यापारिक विस्तार और राजनीतिक प्रभुत्व के साथ सेना का भी विस्तार होता गया। शीघ्र ही सेना भी, नागरिक सेवा की भांति अति महत्त्वपूर्ण हो गई। 1750 के बाद के मद्रास रिकार्ड्स का विवरण देते हुए डाडवैल ने लिखा है कि कुल सैनिक अधिकारी 87 थे जो 1775 में बढ़कर 412 और 1800 में 652 हो गए थे। समय-समय पर सैनिक अधिकारियों की भर्ती नियमों में भी परिवर्तन किए गए। जो भी कैडिट भारत में कंपनी के लिए नियुक्त होता था, उसे एक सर्टिफिकेट देना पड़ता था कि वह किसी भारतीय की संतान नहीं है।

1800 में एक विशेष कैडिट कंपनी बनाई गई, जो इंग्लैंड के एवं कंपनी के उन महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों, बेटों, रिश्तेदारों का आश्रय-स्थल बन गई, जो इंग्लैंड से बाहर जाना चाहते थे।

वेतन की दृष्टि से 1784 में कर्नल को 456 पौंड, लैफ्टिनेंट कर्नल को 364.10 पौंड, मेजर को

272.12 पौंड वार्षिक दिए जाते थे। इसके अलावा उन्हें अतिरिक्त भत्ते भी दिए जाते थे। उदाहरणत: ब्रिटिश. सैनिकों को प्रथम बार भत्ता दिया गया, जब उन्हें कर्नाटक की लड़ाई में मुहम्मद अली की सहायता के लिए भेजा गया। व्यक्तिगत व्यापार भी अन्य आमदनी का एक प्रमुख साधन था। बंगाल में सैनिक अधिकारियों को मद्रास की तुलना में दोगुना भत्ता दिया जाता था। कलकत्ता में यह भत्ता पहले युद्ध काल में दिया जाता था। लॉर्ड क्लाइव ने इसे बंद कर दिया था। इस पर अनेक अंग्रेज़ सैनिक अधिकारियों ने बगावत भी कर दी थी जो 'श्वेत विद्रोह' कहलाती है, जिसे दबा दिया गया।

सामान्यत: भारतीय सैनिक का जीवन दूभर और कष्टदायक था। अभी उसकी भर्ती एजेंट की मदद से होती थी। दलाल योग्य व्यक्ति के स्थान पर सस्ते सैनिक का ध्यान रखते थे। सैनिकों में पहले अंग्रेज़ों की भर्ती की जाती थी। इसके लिए कभी-कभी विदेशियों की भी मदद ली जाती थी। उदाहरणत: 1752 में मद्रास में तोपखाने की भर्ती के लिए कुछ प्रोटेस्टेंट जर्मनों की मदद ली गई थी। इसी तरह 1756 में कुछ एजेंट इसी काम के लिए भेजे गए थे। अंग्रेज़ सैनिकों के वेतन भी उच्च होते थे और उन्हें अन्य भत्ते भी दिए जाते थे।

1824-1852 तक भारतीय सैनिकों की वेतन वृद्धि की माँग होती रही । 1824 में 47 वीं पैदल टुकड़ी ने उचित भत्ते न मिलने पर बर्मा युद्ध में जाने का विरोध किया था। 1838 में शोलापुर स्थित एक भारतीय टुकड़ी ने भत्ता न मिलने पर बगावत कर दी। 1844 में 34वीं नेटिव पैदल और 14वीं रेजीमेंट ने विद्रोह किया, 1849 में भी पंजाब पर अधिकार करने वाली सेना ने असंतोष व्यक्त किया। 1852 में 38वीं नेटिव पैदल सेना ने विद्रोह किया, परंतु इन सबका कोई प्रतिफल न निकला।

इसके विपरीत भारतीय सैनिकों की अवस्था बड़ी खराब थी। भारतीय सिपाहियों को 1746 से नियुक्त किया जाने लगा था। ऊंचे पदों पर वे नियुक्त ही नहीं हो सकते थे। भारतीय अधिक-से-अधिक सूबेदार तक के पद पर पहुंच सकता था। 1857 से पूर्व केवल तीन भारतीय थे, जिनका वेतन 300 रुपए मासिक था। भारतीय सैनिक को कुल वेतन 9 रुपया मासिक मिलता था। इसके अलावा अन्य भत्ते भी नहीं मिलते थे।

यह बड़ी विडंबना और दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति थी कि भारतीय सेनाएं थोड़ा-सा वेतन लेकर अंग्रेज़ सरकार की मदद करती थीं। विशेषकर 1757 से बंगाल, बिहार, उड़ीसा और अवध की सेनाएं अपने ही देशवासियों से मैसूर, महाराष्ट्र और पंजाब में लड़ी थीं। उनमें भारत के राजाओं, नवाबों की भांति अंग्रेज़ों के प्रति स्वामीभक्ति थी, परंतु देशभक्ति या राष्ट्रीयता की भावना न थी। अत: अंग्रेज़ों को भारत में भाड़े की विशाल सेना को कम-से-कम ख़र्च में रखना संभव हुआ। 1857 में कंपनी के 3,11,400 सैनिकों में से 2,65,900 भारतीय थे अर्थात अंग्रेज़ों की सेना काफी कम थी। लॉर्ड डलहौज़ी ने भारतीयों की संख्या को कम करने का सोचा। उसका कथन था कि 'अंग्रेज़ सेना हमारी शक्ति का आवश्यक अंग है।' सेना में तीन रेजीमेंटें बढ़ाई गईं और पंजाब में एक अनियमित सेना का संगठन किया गया जो शेष भारतीय सेना से भिन्न थे। गोरखा रेजीमेंटों की संख्या बढ़ाई गई। इन नई रेजीमेंटों की 1857 के संघर्ष में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही।

अत: अंग्रेजों के प्रशासकीय अंग के रूप में सेना ने उनके व्यापार के साथ राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने में पूरा सहयोग दिया। भारतीय सैनिकों में कम वेतन, कम भत्ते और अभद्र व्यवहार के कारण असंतोष बढ़ता गया, जिसका शीघ्र ही विस्फोट हुआ।

❒ पुलिस

कंपनी के प्रशासनिक संगठन का एक महत्त्वपूर्ण अंग रहा – पुलिस। कॉर्नवालिस पहला गवर्नर जनरल था, जिसने भारत में अंग्रेज़ी ढंग की पुलिस व्यवस्था कायम की। इंग्लैंड में पुलिस व्यवस्था का विकास बाद में अर्थात रॉबर्ट पील के काल में हुआ। कॉर्नवालिस ने इलाकों से आंतरिक शांति और व्यवस्था का दायित्व ज़मींदारों से वापस ले लिया। नई व्यवस्था का प्रारंभ 1792 से हुआ। इसके अंतर्गत समूचे इलाकों को 400 वर्गमील के क्षेत्र में बांटा गया और इसके अनुसार पुलिस स्टेशनों की स्थापना हुई। प्रत्येक पुलिस स्टेशन पर एक दरोगा की नियुक्ति हुई। दरोगा के अधीन कुछ पुलिस कर्मचारी होते थे। दरोगा प्रायः भारतीय होता था। बाद में कई पुलिस स्टेशनों के दरोगा एक ज़िला पुलिस अधीक्षक के अधीन होते थे, जो अंग्रेज़ होता था। कई स्थानों पर ज़िला सहायक पुलिस अधीक्षक या डिप्टी पुलिस अधीक्षक होते थे। गांव की पुरानी व्यवस्था चलती रही जिनमें देखभाल चौकीदार करता था।

पुलिस का मुख्य कार्य चोर-डाकुओं से माल की सुरक्षा और ठगों का विनाश करना था। मार्गों की सुरक्षा और आंतरिक शांति और व्यवस्था रखना भी उनका कार्य था। लॉर्ड विलियम बैंटिक ने ठगों का अंत करने में पुलिस व्यवस्था का लाभ उठाया। यह ठग धोखे से लूटते ही नहीं थे, बल्कि धन के लालच में निर्दोष व्यक्तियों की हत्या भी करते थे। सामान्यतः यह राह चलते राहगीरों के गले में पीछे से रूमाल बांधकर उनकी हत्या कर देते और यात्री का सामान लूट लेते थे। ये लोग विशेषकर अवध से हैदराबाद तक, राजपूताना और बुंदेलखंड में फैले थे। इनकी भाषा भी सांकेतिक होती थी। इनकी संख्या कई बार सैकड़ों में होती थी। कर्नल सलीमन के प्रयासों से लगभग 1500 ठग बंदी बनाए गए। अनेक को फांसी, देश-निकाला और आजीवन कारावास की सज़ा दे दी गई। सैकड़ों डाकुओं को भी पकड़ा गया। पुलिस का उपयोग केवल कानून व्यवस्था के लिए ही नहीं, अपितु भारतीयों द्वारा भारतीयों के दमन के लिए भी किया गया। भारतीय पुलिस ने स्वामीभक्ति का परिचय देते हुए भारतीयों को पीटा, मारा और अधमरा किया। बाद में राष्ट्रीय आंदोलन को कुचलने में भी इनकी मुख्य भूमिका रही।

पुलिस भी विश्व के अन्य स्थानों की भांति अपने भ्रष्टाचार एवं रिश्वत लेने में किसी से पीछे न रही। इसे विश्व की सर्वाधिक भ्रष्ट पुलिस कहकर पुकारा गया। कंपनी के काल में, सीधे ब्रिटिश शासन के युग में भी उनका आचरण नहीं बदला। संभवतः इसका मुख्य कारण इनका कम वेतन होना और इनकी भर्ती में कोई शैक्षणिक स्तर का न होना रहा।

❒ न्याय व्यवस्था

अन्य अंगों की भांति ईस्ट इंडिया कंपनी ने न्यायिक संगठन की ओर ध्यान दिया। वारेन हेस्टिंग्ज़ पहला गवर्नर जनरल था, जिसने इस ओर ध्यान दिया। प्रारंभ में उसने तत्कालीन प्रचलित मुगल व्यवस्था में सुधार किए। अभी तक ज़मींदार दीवानी और फ़ौजदारी व्यवस्था में निर्णायक थे। काज़ी प्रायः धनलोलुप थे। छोटे-छोटे अपराधों पर भारी दंड दिए जाते थे। प्रारंभ में उसने मुगल न्याय प्रणाली के आधार पर 1772 में प्रत्येक ज़िले में एक दीवानी और एक फ़ौजदारी अदालत स्थापित की। दीवानी मुकद्दमे कलक्टरों के अधीन होते थे, जबकि ज़िले की फ़ौजदारी अदालत किसी भारतीय के अधीन होती थी, जिसकी मदद मुफ्ती और काज़ी करते थे। दीवानी अदालत की अपील सदर दीवानी अदालत और फ़ौजदारी की अपील सदर निज़ामत अदालत में हो सकती थी। दीवानी में एक न्यायाधीश, सर्वोच्च परिषद् का प्रधान और दो अन्य कर्मचारी होते थे और निज़ामत में उप नाज़िम होता था, जिसकी मदद के लिए एक मुख्य काज़ी, एक मुख्य मुफ्ती और तीन मौलवी होते थे।

1773 में रेग्यूलेटिंग ऐक्ट द्वारा कलकत्ता में सर्वप्रथम एक सुप्रीम कोर्ट (Supreme Court of Judicature) की स्थापना हुई। इसमें एक मुख्य न्यायाधीश और तीन अन्य न्यायाधीश होते थे। इनकी नियुक्तियां सम्राट द्वारा होती थीं। मुख्य न्यायाधीश को 8000 और शेष को 6000 रुपए वार्षिक वेतन मिलता था। इसके क्षेत्राधिकार में रहने वाले अंग्रेज़ और सभी कंपनी के कर्मचारियों के मुकद्दमे आते थे, इसमें अंग्रेज जूरी की व्यवस्था भी थी। इसकी अपील सपरिषद् सम्राट (King-in-Council) में की जा सकती थी। इसमें अंग्रेज़ कानून लागू होते थे, जबकि सदर दीवानी और सदर निज़ामत अपने कार्यों को पूर्व की भांति करते थे। कभी-कभी दोनों के कार्यक्षेत्र में झगड़ा भी होता था। वारेन हेस्टिंग्ज़ 1780 में चाहता था कि दोनों न्यायालयों का अध्यक्ष एलीजाह इम्पे (Elijah Impey) को बनाया जाए, परंतु कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने यह स्वीकार न किया। अदालत के अभिलेखों को सुचारु रूप से रखना अनिवार्य कर दिया गया और इस्लामी कानून की जानकारी के लिए कलकत्ता मदरसे की स्थापना की गई। लॉर्ड कॉर्नवालिस ने उपरोक्त न्यायिक संगठन के दोषों को दूर कर उसको यूरोप में प्रचालित न्याय संगठन की तरह बनाना चाहा। उसके न्यायिक सुधार कॉर्नवालिस संहिता (Cornwallis' code) के नाम से जाने जाते हैं। उसने दीवानी मुकद्दमों में कलक्टर की दोहरी भूमिका को समाप्त कर दिया। कलक्टर ज़िले में करों की उगाही करता था और भुगतान न होने पर दंड भी देता था। अब उसको केवल राजस्व वसूल करने का अधिकार दिया गया, शेष कार्यों के लिए ज़िला न्यायाधीश का पद प्रारंभ हुआ।

दीवानी मुकद्दमों की सुनवाई के लिए न्यायालयों को एक सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध संगठन बनाया गया। भारत में यह पांच श्रेणी में था। सबसे निम्न अदालत मुंसिफ़ की अदालत होती थी, जो 50 रुपए तक के मुकद्दमे सुनती थी। इसका प्रमुख न्यायाधीश एक भारतीय होता था। दूसरे, निचली अदालत से ऊपर रजिस्ट्रार की अदालत होती थी, जो 200 रुपए तक के मुकद्दमे सुन सकता था। इसका न्यायाधीश एक अंग्रेज़ होता था। तीसरे, इन दोनों प्रकार के न्यायालयों के विरुद्ध अपीलें नगरों या ज़िला अदालतों में की जा सकती थीं। इनकी सुनवाई ज़िला न्यायाधीश करता था, जो अंग्रेज़ होता था। चौथे, ज़िला अदालतों के ऊपर प्रांतीय अदालतें थीं, जहां ज़िला न्यायालयों की अपील हो सकती थी। ये न्यायालय कलकत्ता, मुर्शिदाबाद, ढाका और पटना में थे। ये न्यायालय दोनों प्रकार के कार्य करते थे। जहां वे एक ओर 1000 रुपयों तक के मुकद्दमे सुन सकते थे, वहीं ज़िला न्यायालयों के मुकद्दमे की सुनवाई भी करते थे। इनका न्यायाधीश भी कोई अंग्रेज़ या यूरोपीय होता था। पांचवें, इसके ऊपर कलकत्ता में सदर दीवानी अदालत होती थी, जिसके प्रमुख गवर्नर जनरल और उसकी कौंसिल के सदस्य होते थे। ये न्यायालय 1000 रुपए से ऊपर के मुकद्दमों की सुनवाई करते थे। इसके अलावा 50,000 रुपए से ऊपर के मुकद्दमे सपरिषद् सम्राट (King-in-Council) के पास भेजे जाते थे। विभिन्न क्षेत्रों के यूरोपीय लोगों को इन नियमों को मानना होता था।

फ़ौजदारी न्याय संगठन में भी परिवर्तन किए गए। फ़ौजी न्यायालयों की चार श्रेणियां बनाई गईं। पहली श्रेणी में ज़िला न्यायालय होते थे। ये ज़िले के अंदर कानून एवं व्यवस्था को भंग करने वालों को बंदी बना सकते थे। कुछ मामलों का फैसला भी कर सकते थे। इनके न्यायाधीश अंग्रेज़ होते थे। दूसरी श्रेणी में सर्किट न्यायालय होते थे, जिसका एक निश्चित क्षेत्र या इलाका होता था। ये इसके अंतर्गत आने वाले ज़िलों के मुकद्दमों की सुनवाई करते थे। तीसरी श्रेणी में प्रांतीय फ़ौजदारी न्यायालय थे। ये फ़ौजदारी के साथ दीवानी मुकद्दमों का भी फैसला करते थे। चौथी श्रेणी में सदर निज़ामत न्यायालय थे, जो फ़ौजदारी मामलों में सर्वोच्च न्यायालय थे। इनमें गवर्नर जनरल

को किसी को भी माफ़ किए जाने तथा दंड कम करने का भी प्रावधान था।

उपरोक्त न्यायिक संगठन स्पष्ट और व्यवस्थित था। परंतु भारतीयों को यह ज़्यादा नहीं रुचा। इसका प्रमुख कारण न्याय की लंबी प्रक्रिया, महंगी और अधिक समय लगाने वाली व्यवस्था थी। इस व्यवस्था में भारतीयों को केवल दीवानी मुकद्दमों में सबसे निचली अदालतों में प्रमुखता थी, शेष में उनका स्थान गौण रह गया था। साथ ही यह व्यवस्था भारत की परंपरागत व्यवस्था के अनुकूल न थी। इस व्यवस्था के अंतर्गत अब पंचायतों का महत्त्व कम हो गया था और ज़मींदार, काज़ी, फ़ौजदार, नाज़िम के स्थान पर यूरोपीय न्यायाधीश आ गए थे। नए प्रकार के कानूनों से भारतीय परिचित न थे। इससे झूठी गवाहियों को प्रोत्साहन मिला और मुकद्दमेबाज़ी बहुत बढ़ गई।

लॉर्ड विलियम बैंटिक ने न्यायिक संगठन में सुधार करने हेतु न्यायालयों की श्रेणियां कम कीं और अनावश्यक न्यायालयों को समाप्त कर दिया। 1831 में उसने प्रांतीय अपील संबंधी और सर्किट न्यायालय बंद कर दिए और इनका कार्यभार मजिस्ट्रेटों और कलक्टरों को दे दिया, जो राजस्व एवं सर्किट कमिश्नरों के अधीन होते थे। इसके अलावा दिल्ली और उत्तर-पश्चिम प्रांत (आधुनिक उत्तर प्रदेश) के लिए इलाहाबाद में सदर दीवानी व सदर निज़ामत अदालत खोली गई। उसने भारतीयों को डिप्टी मजिस्ट्रेट, सबॉर्डिनेट जज और मुख्य सदर नियुक्त किया।

न्याय के क्षेत्र में कंपनी ने कानूनों को संहिताबद्ध (Codified) किया। अभी तक कानून मुख्यतः पहले की परंपराओं, रीति-रिवाजों तथा सरकारी आदेशों और फ़रमानों पर आधारित थे। उनमें एकरूपता व क्रमबद्धता न थी। अंग्रेज़ों ने परंपरागत कानूनों को अपनाते हुए नई कानून प्रणाली अपनाई।

1833 के चार्टर ऐक्ट ने कानून बनाने का अधिकार कौंसिल सहित गवर्नर जनरल को दे दिया। 1834 में कानूनी सदस्य लॉर्ड मैकॉले ने भारतीय कानून व्यवस्था में बड़ी विविधता और पेचीदगी का अनुभव किया। इसके लिए कानूनों को संहिताबद्ध करने और अन्य सुधार करने के लिए अंग्रेज़ों द्वारा पहला विधि आयोग (First Law commission) गठित किया गया। इसके आधार पर भारत की दंड संहिता (Indian Penal code) बनाई गई, जो बाद में 1860 में लागू हुई। संपूर्ण देश के लिए एक-से कानून लागू किए गए। निःसंदेह यह न्याय के क्षेत्र में कंपनी की एक महत्त्वपूर्ण देन है।

विधि का शासन (The Rule of Law) : विधि के शासन से तात्पर्य कानून की सर्वोच्चता से है। इसका तात्पर्य प्रशासन को शासक या शासक वर्ग की इच्छानुसार न चलाकर कानून के अनुसार चलाने से है। ब्रिटेन में भी अनेक परंपरागत कानूनों, शासक के मनमाने आदेशों, रीति-रिवाजों के अनुभवों के विपरीत कानून के शासन को प्रमुखता मिली थी। भारत में इसका प्रयोग प्राचीनकाल मे बहुतायत से होता रहा और कानून के एक-एक मुद्दे पर गंभीर चिंतन और मनन हुआ, परंतु कालांतर में कानून की व्यवस्था शिथिल होती गई। कानून में व्यक्तिगत इच्छा, शासक की मनमानी, स्वार्थ-भावना और धन के लालच को प्रश्रय मिलने लगा था। कंपनी के शासन से पूर्व भारत के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कानून की प्रणाली और उसके स्वरूप में एकरूपता नहीं थी। हिंदू और मुसलमानों के लिए कानून भी अलग-अलग थे।

ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारियों को कानूनों की इस विचित्रता से बड़ी परेशानी होती थी। व्यापारिक कंपनियां इन विधि कानूनों की संरचना को मानने को तैयार न थीं। अतः इन्होंने संपूर्ण भारत में एक-सा कानून लागू करने की कोशिश की। बंबई, मद्रास और कलकत्ता में भी प्रारंभ में अंग्रेज़ों द्वारा एक-से कानून लागू न हो सके, लेकिन मोटे तौर पर 1757-1857 के दौरान विधि का शासन लागू करने का प्रयत्न किया गया। प्रचलित व्यवस्था को समाप्त किया गया।

जैसे-जैसे कंपनी के राज्य का विस्तार हुआ, वैसे-वैसे वहां विधि के शासन को मान्यता दी गई। विधि के शासन से व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का बोध हुआ और अन्याय से लड़ने का अवसर भी प्राप्त हुआ। इसके द्वारा किसी भी अधिकारी को अपने अधिकार और कर्तव्य का ज्ञान होता था और इसके द्वारा कोई भी व्यक्ति किसी भी अधिकारी के विरुद्ध न्यायालय में अभियोग चला सकता था। इससे व्यक्ति को कानून की सीमाओं और बाधाओं का बोध हुआ।

परंतु यह मानने का कोई औचित्य नहीं है कि भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी ने कानूनी राज्य स्थापित कर दिया, क्योंकि कंपनी द्वारा स्थापित विधि के शासन में भी स्वार्थ-भावना, धन की लोलुपता और रंगभेद नीति चलती रही। मुकद्दमेबाज़ी और परस्पर वैमनस्य को बढ़ावा मिला। पंचायतों की महत्ता उत्तरोत्तर कम होती गई, न्यायालयों और पुलिस में भ्रष्टाचार बढ़ा। परंतु सिद्धांत रूप में ही सही, यह एक महत्त्वपूर्ण और प्रशंसनीय कदम था। यह उल्लेखनीय है कि कुछ भारतीय राज्यों में अब भी प्रचलित रीति-रिवाजों और प्राचीन शास्त्रों अथवा शरियत के अनुसार न्याय व्यवस्था है।

कानून के सम्मुख समानता (Equality Before Law) : विधि के शासन की भांति कानून के सम्मुख समानता का सिद्धांत भी एक प्रभावी कदम था। इसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी जाति, धर्म, रंग, वर्ण या पद के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव किए बिना कानून की दृष्टि से समान माना गया। यह नियम मानवीय समानता के अनुकूल था और सर्वत्र अपेक्षित था।

भारत में इस दृष्टि से अभी तक समानता न थी। हिंदुओं में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के संदर्भ में समानता न थी। जाति के आधार पर भेदभाव का विकास हो गया था। ऊंच-नीच, अमीर-गरीब, ब्राह्मण-गैरब्राह्मण के प्रति न्यायालय में भी समानता न थी। एक ही अपराध के लिए विभिन्न जातियों के लिए दंडविधान भी अलग-अलग थे। इनमें सबल, समर्थ, समृद्धिशाली की जीत हो जाती थी। ज़मींदारों, सामंतों, कृषकों में न्याय में समानता न थी। इसी भांति हिंदुओं और मुसलमानों में भी न्याय एक समान न था। स्त्री-पुरुषों के लिए भी एक-से दंड न थे।

उपरोक्त संदर्भ में कानून के सम्मुख समानता का सिद्धांत कंपनी शासन की एक उपलब्धि थी, परंतु इसमें कई दोष थे। प्रथम, यह महत्त्वपूर्ण सिद्धांत भारत में रहने वाले अंग्रेज़ों अथवा यूरोपियों पर लागू न होता था। उनके लिए अपने न्यायालय थे। अंग्रेज़ों के फ़ौजदारी मुकद्दमे भी यूरोपीय न्यायाधीशों द्वारा सुने जाते थे, यूरोपीय और भारतीयों के बीच परस्पर मुकद्दमे में प्रायः यूरोपियों के साथ पक्षपात किया जाता था। दूसरे, यह सिद्धांत व्यवहार में इतना उपयोगी साबित न हुआ। इसमें न्याय बड़ा महंगा व दुरूह था और लंबी अवधि में मिलता था जो सामान्यतः भारत के किसी कृषक या ग्रामीण व्यक्ति के लिए कठिन होता । इसमें अनपढ़ और गरीब व्यक्तियों को व्यावसायिक वकीलों का सहारा लेना पड़ता था, जिससे भारी धनराशि व्यय करने पर न्याय मिल पाता था। अनुभवों के आधार पर प्रायः श्वेत-अश्वेत का ध्यान रखा जाता था। अंग्रेज़ न्यायाधीश प्रायः अश्वेत अर्थात भारतीयों की उपेक्षा करते थे।

इन सब तथ्यों के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस व्यवस्था में अनेक दोष होते हुए भी न्याय के क्षेत्र में संगठन, विधि का कानून और कानून के सम्मुख समानता अंग्रेज़ों की महत्त्वपूर्ण देन है।

❑ *राजस्व व्यवस्था*

प्लासी की लड़ाई के बाद बंगाल में कंपनी का वर्चस्व स्थापित हो गया। राज्य विस्तार और प्रशासन को सुदृढ़ करने के लिए कंपनी को धन की आवश्यकता भी बढ़ी। भूमिकर अथवा राजस्व आय का मुख्य स्रोत थे। इसके अलावा कुछ अन्य कर,

जैसे–सीमा शुल्क, आबकारी शुल्क, अफ़ीम कर और नमक कर से भी आय होती थी। प्रारंभ में लॉर्ड क्लाइव ने राजस्व प्राप्त करने के लिए द्वैध शासन की स्थापना की। वारेन हेस्टिंग्ज़ के काल में 'बोर्ड ऑफ़ रेवेन्यू' की स्थापना हुई। प्रारंभ में भूमि की वार्षिक नीलामी और बाद में पंचवर्षीय नीलामी की व्यवस्था की गई। राजस्व वसूली के लिए कलक्टर का पद प्रारंभ हुआ। लॉर्ड कॉर्नवालिस के काल में भूमि के प्रबंध तथा अधिक राजस्व कर वसूली के लिए ज़मींदारी-प्रथा की व्यवस्था की गई। 'महलवाड़ी और रैयतवाड़ी प्रथा' भी अधिक भूमिकर प्रणाली को ध्यान में रखकर बनाई गई। इन सभी व्यवस्थाओं से भूमिकर से निरंतर राजस्व की मात्रा बढ़ती गई। 1858-59 में भूमिकर से सरकार की कुल आय का लगभग 50 प्रतिशत प्राप्त होता था। भूमिकर एकत्रित करने के तरीके प्रायः कठोर होते थे। समय-समय पर भूमिकर न देने पर किसानों को तरह-तरह की यातनाएं दी जाती थीं। न्याय प्रणाली भी भ्रष्ट थी। अतः किसानों को किसी भी स्तर पर न्याय मिलने की आशा न थी।

भूमिकर के अलावा नमककर, अफ़ीमकर, सीमाकर, आबकारीकर और आय के अन्य स्रोत थे। उदाहरणतः कंपनी को नमक से वार्षिक आय 1793 में 8,00,000 रुपए थी, जो 1844 में बढ़कर 13,00,000 रुपए हो गई थी। यह कंपनी के कुल राजस्व का 7 प्रतिशत था। इसी प्रकार कंपनी को अफ़ीम से, जिस पर कंपनी का एकाधिकार था, राजस्व का 17 प्रतिशत प्राप्त होता था।

शिक्षा और भाषा नीति

यद्यपि 1757 में अंग्रेज़ों का बंगाल पर कब्ज़ा हो गया था, तथापि शिक्षा का उत्तरदायित्व भारतीयों के हाथ में ही रहा। भारत में अरबी, फ़ारसी और संस्कृत में प्राच्य ग्रंथों का अध्ययन चलता रहा। प्रारंभ में ईस्ट इंडिया कंपनी ने इसमें विशेष रुचि न ली। 1781 में वारेन हेस्टिंग्ज़ ने कलकत्ता में मदरसा स्थापित किया, जहां अरबी और फ़ारसी के साथ मुस्लिम कानूनों के अध्ययन को प्रोत्साहन दिया गया। 1791 में बनारस के ब्रिटिश रेज़ीडेंट जोनाथन डंकन के प्रयत्नों से बनारस में एक संस्कृत कॉलेज भी खोला गया, जहां हिंदू कानून व दर्शन का अध्ययन होता था। ईसाई धर्म प्रचारक प्राच्य शिक्षा के प्रसार का विरोध करते रहे, परंतु यह मानना पड़ेगा कि 19वीं शताब्दी के प्रथम तीन दशकों तक देशज स्कूलों के माध्यम से शिक्षा का विकास होता रहा।

सरकारी दस्तावेज़ व मिशनरियों के रिकार्ड्स के आधार पर पता चलता था कि बंगाल में अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना के समय तक प्राच्य शिक्षा का बड़ा विस्तार था। बंगाल में अस्सी हज़ार देशज विद्यालय थे अर्थात प्रत्येक चार सौ की आबादी पर एक विद्यालय था। मद्रास, बंबई, बंगाल, पंजाब के विभिन्न शिक्षा सर्वेक्षण भी इन तथ्यों को स्वीकारते हैं। मद्रास प्रेसीडेंसी के बारे में टामस मुनरो (1812-13) बंबई प्रेसीडेंसी के बारे में प्रेडरगास्ट (1830), बंगाल के बारे में एडम (1835) और पंजाब के बारे में लाईटनर (1880) और सभी विद्वान मानते हैं कि भारत के प्रत्येक गांव में कम-से-कम एक स्कूल था। बाद में महात्मा गांधी का 1931 में गोलमेज़ कांफ्रेंस, लंदन में प्रस्तुत किया गया यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि 'ब्रिटिश प्रशासक जब भारत आए तो उन्होंने स्थिति यथावत रखने के बजाए सब चीज़ों की जड़ें कुरेदना शुरू किया। मिट्टी कुरेद-कुरेद कर जड़ों की छानबीन की और फिर उन्होंने उसे वैसे ही खुला छोड़ दिया। इससे देशज परंपराओं का सुंदर वट वृक्ष नष्ट हो गया।'

अतः शिक्षा के संदर्भ में ईस्ट इंडिया कंपनी ने दोहरी नीति अपनाई। प्रचलित प्राच्य शिक्षा को नष्ट किया और उसके स्थान पर पाश्चात्य शिक्षा और

अंग्रेज़ी भाषा को महत्त्व दिया। ईस्ट इंडिया कंपनी ने पहली बार 1813 के चार्टर ऐक्ट में भारत में शिक्षा के प्रचार के लिए एक लाख रुपया वार्षिक खर्च करने का प्रावधान रखा। वास्तव में यह धन कुछ भी न था, लेकिन इसका महत्त्व इस बात में अवश्य है कि कंपनी ने पहली बार शिक्षा के क्षेत्र में अपने उत्तरदायित्व को समझा। यद्यपि 1813 के ऐक्ट के बारे में ब्रिटिश पार्लियामेंट में शिक्षा पर लंबी चर्चा हुई, लेकिन अगले बीस सालों तक यह वाद-विवाद का विषय ही बना रहा। धन की कोई राशि व्यय न हुई, फ़रवरी 1824 के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर के पत्र-व्यवहार में इसका विस्तृत वर्णन है।

तत्कालीन ब्रिटिश विद्वान शिक्षा के प्रसार के बारे में दो भागों में बंट गए थे। एक वे थे जो प्राच्यवादी कहलाए जो भारतीय भाषाओं व विकास के आधार पर सुधार और प्रगति चाहते थे। दूसरे, आंग्लवादी कहलाए, जो अंग्रेज़ी भाषा और पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के आधार पर उन्नति का मार्ग देखते थे। 1829 में भारत के गवर्नर जनरल लॉर्ड विलियम बैंटिक ने भारतीय शिक्षा में अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम पर बल दिया। 1835 के प्रारंभ में शिक्षा की सामान्य समिति के कुल दस सदस्य स्पष्ट रूप से दो भागों में बंटे हुए थे। पांच सदस्य अध्यक्ष सहित, अंग्रेज़ी भाषा और पांच प्राच्य भाषाओं के पक्ष में थे। 2 फ़रवरी, 1835 में मैकॉले ने अपनी शिक्षा संबंधी टिप्पणी की घोषणा की। उसने अपने विशेष अधिकारों (वीटो) का प्रयोग अंग्रेज़ी भाषा के पक्ष में किया। लॉर्ड विलियम बैंटिक का चारों ओर से तीव्र विरोध होने पर भी 7 मार्च, 1835 को प्रस्ताव पारित करते हुए उसने लिखा, 'ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य है कि भारतीयों में यूरोपीय साहित्य और विज्ञान की प्रगति होनी चाहिए और शिक्षा के लिए नियत संपूर्ण धनराशि केवल अंग्रेज़ी शिक्षा पर व्यय होगी।'

मैकॉले की शिक्षा पद्धति एक सोची-समझी योजना थी, जिसका उद्देश्य भारत के उच्च वर्ग को अंग्रेज़ी माध्यम द्वारा शिक्षित करना था। साथ ही इसके द्वारा भारत में प्रचलित शिक्षा संस्थाओं का मार्ग अवरुद्ध करना और आगामी भारतीय पीढ़ी की सोच और चिंतन को बदलना था। उसने संस्कृत व्याकरण को बेहूदा कहकर उसकी तीव्र भर्त्सना की। शिक्षा टिप्पणी का उद्देश्य भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव मज़बूत करना और भारतीयों में आत्म-विस्मृति पैदा करना था। उसने स्पष्ट रूप से घोषणा की कि, 'हमें व्यक्तियों का ऐसा वर्ग बनाना चाहिए, जो रक्त और रंग से भारतीय हों, परंतु स्वभाव, नैतिकता और बुद्धि से अंग्रेज़ हों।'

1854 में सर चार्ल्स वुड द्वारा शिक्षा विषयक एक विज्ञप्ति (Education Dispatch) के द्वारा एक वृहद योजना बनाई गई, जिसमें पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार, अंग्रेज़ी भाषा शिक्षा का माध्यम, शिक्षा के निजी क्षेत्र में प्रोत्साहन देने के लिए अनुदान सहायता की पद्धति, कंपनी के पांच प्रांतों में लोक शिक्षा विभाग की स्थापना की बात कही गई। इसके साथ ही तकनीकी विद्यालयों की स्थापना, अध्यापक प्रशिक्षण विद्यालयों की रचना और महिला शिक्षा पर भी बल दिया गया। इस डिस्पैच की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता लंदन विश्वविद्यालय के अनुरूप भारत में कलकत्ता, बंबई और मद्रास में एक-एक विश्वविद्यालय की स्थापना थी और 1857 में इन तीनों विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई।

नई शिक्षा प्रणाली जो अंग्रेज़ी भाषा के आधार पर थी, उसके दूरगामी परिणाम हुए। 1855 में प्रांतों में लोक शिक्षा विभाग की स्थापना हुई। आगामी वर्षों में भारतीय शिक्षा का तीव्र गति से पाश्चात्यीकरण हुआ, जिसने भारतीय सोच और चिंतन को अत्यधिक प्रभावित किया। अब शिक्षा जनसाधारण की बजाए कुछ विशिष्ट लोगों तक सिमट कर रह गई। शिक्षा का

स्वरूप, पाठ्यक्रम और शिक्षा प्रणाली बदल गई। अंग्रेज़ी भाषा से किताबी ज्ञान एवं रटने की पद्धति को प्रोत्साहन मिला। 1921 में महात्मा गांधी ने इसकी विवेचना करते हुए, 'यंग इंडिया' में लिखा –

'विदेशी माध्यम ने मस्तिष्क को थका दिया है, हमारे बालकों के मन में अनावश्यक तनाव बढ़ा दिया है। उन्हें रट्टू और नकलची बना दिया है। उन्हें मौलिक कार्य और विचार के अयोग्य बना दिया है और शिक्षा को अपने परिवार अथवा सामान्य जनता तक पहुंचाने में उन्हें पंगु बना दिया है।'

अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रसार से प्राच्य साहित्य का पठन-पाठन बंद हुआ। मौलिक चिंतन कम हुआ। भारतीय संस्कारों, परंपराओं और संस्कृति की भाषा को दुत्कारा जाने लगा। इसके द्वारा एक ऐसा अंग्रेज़ी पढ़ा-लिखा वर्ग भी खड़ा हुआ, जो अपने देशवासियों के प्रति उदासीन था और विदेशी सत्ता का पोषक बन गया। लेकिन कालांतर में इसी अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे वर्ग के कुछ नेताओं ने देश के राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व भी किया। अतः पाश्चात्य चिंतन और शिक्षा की मिली-जुली प्रतिक्रियाएं हुईं।

अंग्रेज़ों के सामाजिक कानून और नीतियां

प्रारंभ में अंग्रेज़ों की रुचि केवल व्यापारिक लाभ, आर्थिक शोषण और लूट तक सीमित थी। इसलिए उन्होंने किसी प्रकार के धार्मिक या सामाजिक सुधारों और कानून बनाने में कोई उत्साह नहीं दिखलाया। इसके विपरीत उन्हें यह भय और आशंका बनी रही कि किसी प्रकार के धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाज, नियम अथवा संस्था में दखल देने से उनकी व्यापारिक हानि न हो। उन्होंने बड़ी सावधानी से उदासीनता की नीति अपनाई। इसके साथ ही भारतीयों में हीनता की भावना पैदा करने के लिए भारतीयों के प्रचलित सामाजिक रीति-रिवाजों एवं प्रथाओं की आलोचना अवश्य की। प्रारंभ में कंपनी के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स ने इस बारे में सावधानी बरतने को कहा।

19वीं शताब्दी के मध्य में हुए सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों ने भारत की सामाजिक कुरीतियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया। ईसाई मिशनरियों के कुप्रचार ने भी पढ़े-लिखे भारतीयों को उद्वेलित किया। पाश्चात्य शिक्षा और दर्शन, विभिन्न समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं ने भी भारतीय समाज को प्रभावित किया। कुछ ब्रिटिश शासकों नें भी इसमें रुचि ली। सामाजिक नियमों के भी मुख्यतः दो क्षेत्र रहे – महिला संबंधी कानून और जाति-प्रथा विरोधी कानून।

❑ *महिला संबंधी सामाजिक कानून*

जहां तक महिलाओं की अवस्था का प्रश्न है। निश्चय ही वह बहुत दयनीय थी। प्राचीन काल में महिलाओं की दशा सामान्यतः बहुत उन्नत थी। कालांतर में विशेषकर मध्य युग में उनकी दुरावस्था हो गई थी। विश्व के अन्य भागों में भी महिलाओं की अवस्था अधोगतिपूर्ण थी। उदाहरणतः छठी शताब्दी (सन 585) में ईसाई पादरियों की एक सभा में विचार का मुख्य विषय था कि महिलाएं मानव हैं या नहीं। अरस्तू, प्लेटो, मिल्टन और रूसो जैसे विद्वानों ने भी महिलाओं को पुरुषों के समान स्वीकार न किया था। भारत में भी उनकी पूर्ण स्वतंत्रता नष्ट हो गई थी। सती-प्रथा, पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, कन्या-वध, कन्या-विक्रय, बहुविवाह और अनेक कुप्रथाओं ने उसका जीवन दूभर कर दिया था। विधवा-विवाह प्रायः समाप्त हो गए थे। महिलाओं का क्षेत्र घर की चहारदीवारी बन गया था। शिक्षा के द्वार भी उनके लिए बंद हो गए थे। आर्थिक दृष्टि से भी उसकी अवस्था बहुत खराब थी। हिंदू महिला संपत्ति की उत्तराधिकारी नहीं हो सकती थी। पुरुष और महिला में सामाजिक और आर्थिक समानता न थी। सामान्यतः वह पुरुष पर पूरी तरह निर्भर थी।

19वीं और 20वीं शताब्दी में मानवतावादियों, समाज सुधारकों और कुछ ब्रिटिश शासकों के प्रयत्नों

से महिलाओं की दशा सुधारने के लिए कुछ कानून भी बनाए गए। इस संदर्भ में पहला प्रभावी प्रयास सती-प्रथा संबंधी कानून था। इससे पूर्व भी इसको बंद करने के अनेक प्रयास हुए थे। अंग्रेज़ों के काल में भी यह प्रथा खूब प्रचलित थी। यद्यपि इस बारे में पूरे आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं, परंतु यह कलकत्ता, ढाका, मुर्शिदाबाद, पटना, बनारस और बरेली में खूब प्रचलित थी। नवंबर 1829 में स्वयं सलीमेन ने इसे देखा था। राजा राममोहन राय ने भी इसे रोकने के लिए पूरे प्रयास किए थे। 1823 में लॉर्ड एमहर्स्ट ने विधवाओं को जलाना गैर-कानूनी घोषित कर दिया था। इसके लिए महत्त्वपूर्ण कानून लॉर्ड विलियम बैंटिक द्वारा 1829 में पास किया गया था। कुछ प्रभावशाली लोगों ने इसका विरोध भी किया और हस्ताक्षर अभियान भी चलाया। परंतु कानून प्रभावशाली साबित हुआ।

कन्या-वध की बर्बर और अमानुषिक प्रथा भी प्रचलित थी। यह प्रथा अधिकतर राजपूताना, उत्तर-पश्चिम प्रांत और पंजाब में प्रचलित थी। ब्रिटिश प्रशासकों कर्नल टॉड और जोन्सन ड्यूकन ने इस कुप्रथा का विस्तृत वर्णन किया है। इसका कारण वंशीय अहंकार, योग्य वर न मिलने का भय और किसी के आगे सिर न झुकाने का अहं था। अतः बच्ची को जन्म लेते ही अफ़ीम देकर, गला घोंट कर अथवा भूखा रखकर मार दिया जाता था। प्रारंभ में इसके लिए 1795, 1802 और 1804 में कानून बनाए गए। आखिर में 1870 में प्रभावकारी कानून बनाया गया, परंतु यह प्रथा समाप्त न हुई। बाद में धीरे-धीरे जनमत तैयार होने और शिक्षा के प्रभाव से यह प्रथा समाप्त हुई।

इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में विधवा-विवाह को मान्यता थी, परंतु बाद में यह प्रथा भी बंद हो गई। 19वीं शताब्दी में विधवाओं की संख्या लाखों में थी। विधवाओं के पुनर्विवाह के लिए अनेक पत्र-पत्रिकाओं और समाज सुधारकों ने प्रयत्न किए। राजा राममोहन राय एवं ईश्वर चंद्र विद्यासागर, इन समाज सुधारकों में प्रमुख हैं। कई पुस्तकें व पैंफलेट छापे गए, हस्ताक्षरयुक्त पेटीशनें भी की गईं। जुलाई 1856 में निर्मित गवर्नर जनरल कौंसिल के सदस्य जे.पी. ग्रांट ने एक बिल प्रस्तुत किया, जो 13 जुलाई, 1856 को पास हुआ। इसे विधवा पुनर्विवाह अधिनियम 1856 कहा गया। इस कानून के अंतर्गत 7 दिसंबर, 1856 को कलकत्ता में श्रीचंद्र विद्यारत्न और कालीमती देवी का विवाह हुआ। श्रीचंद विद्यारत्न एक संस्कृत कॉलेज के अध्यापक थे। इस नियम के बनने को ईश्वर चंद्र विद्यासागर ने अपने जीवन का उत्कृष्ट कार्य बताया। इसी को आंध्र के वीरशैलिंगम, पश्चिम भारत में महादेव गोविंद रानाडे, डी.के. कर्वे, आर.जी. भंडारकर और बी.एम. मालाबारी ने बढ़ाया।

19वीं शताब्दी तक यह कानून ज्यादा प्रभावी साबित नहीं हुआ और एक मृत पत्र-सा (Dead Letter) बना रहा, परंतु 20वीं शताब्दी में जागृति आने से यह प्रभावी बना।

महिलाओं की दुरावस्था में बाल-विवाह की प्रथा भी एक अभिशाप की भांति थी। केशव चंद्र सेन के प्रयत्नों से नवंबर 1870 में 'इंडियन रिफ़ार्म एसोसिएशन' की स्थापना हुई। 1872 में ब्रह्म विवाह नियम बना। बाल-विवाह के संदर्भ में एक पत्रिका 'महापाप बाल विवाह' भी मालाबारी के प्रयत्नों से प्रारंभ हुई। 1846 में विवाह की आयु कम-से-कम 10 वर्ष थी। 19 मार्च, 1891 के सम्मति आयु अधिनियम के दसवें नियम के द्वारा बालिका की विवाह की आयु 10 से बढ़ाकर 12 वर्ष कर दी गई। 1930 में शारदा अधिनियम द्वारा ये आयु 14 वर्ष कर दी गई। इसी भांति आज़ादी के बाद 1949 और 1978 में यह क्रमशः 15 व 18 वर्ष कर दी गई। इन कानूनों को भी आंशिक और धीमी गति से सफलता मिली। पाश्चात्य प्रभाव, संयुक्त परिवार का विघटन और शिक्षा के

प्रचार से यह कुप्रथा समाप्त हुई, परंतु भारत के कुछ प्रदेशों में, विशेषकर राजस्थान में आज भी यह प्रथा प्रचलित है। अक्षय तृतीया एवं पीपल पूर्णिमा के अवसर पर आज भी हज़ारों की संख्या में बाल-विवाह होते हैं। अभी तक भारतीय जनमानस में आवश्यक चेतना और जागृति उत्पन्न नहीं हुई।

महिलाओं में पर्दे की कुप्रथा के खिलाफ भी आवाज़ उठी। इस दृष्टि से कृषक महिलाओं की दशा अपेक्षाकृत ठीक थी। दक्षिण भारत में भी महिलाएं उत्तर भारत की तुलना में स्वतंत्र थीं। इसके लिए कोई कानून तो नहीं बना, पर राष्ट्रीय आंदोलन में उनके सक्रिय योगदान से यह प्रथा भी धीरे-धीरे समाप्त हो गई। कुछ महिलाएं असहयोग आंदोलन में पर्दे से बाहर आईं। सविनय अवज्ञा आंदोलन में उन्होंने स्थान-स्थान पर नमक बनाकर, शराब के ठेकों पर धरना देकर और विदेशी वस्त्रों की होली जलाकर राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लिया। अखिल भारतीय महिला संघ ने पर्दा-प्रथा का घोर विरोध किया।

हिंदुओं के उच्चवर्ग में विशेषकर बंगाल के कुलीनों में बहुविवाह की कुप्रथा प्रचलित थी। मुसलमानों में भी बहुपत्नी प्रथा प्रचलित है। कहीं-कहीं बहुपति प्रथा भी प्रचलित रही। इसके लिए भी कोई कानून नहीं बना, परंतु जनमत और शिक्षा के प्रसार से हिंदुओं में यह कुप्रथा समाप्त हो गई। बहुपति प्रथा आज भी कुछ पहाड़ी प्रदेशों में प्रचलित है।

आर्थिक क्षेत्र में भी स्वतंत्रता प्राप्त करने के कुछ प्रयत्न हुए। राजा राममोहन राय ने इसके लिए आवाज उठाई थी। उन्होंने 1822 व 1830 में इसके बारे में पैंफलेट भी प्रकाशित किए। हिंदू महिलाओं की तुलना में कुछ मात्रा में मुस्लिम महिला संपत्ति की उत्तराधिकारी हो सकती थी। इस संदर्भ में भारत की स्वतंत्रता के बाद ही 1956 में हिंदू उत्तराधिकार नियम के द्वारा लड़के-लड़की को समान अधिकार दिया गया। इसी भांति हिंदू विवाह अधिनियम के अंतर्गत विशेष परिस्थितियों में तलाक की भी अनुमति दी गई। संविधान में नौकरी में स्त्री और पुरुषों को समान अधिकार दिए गए।

मताधिकार के लिए इंग्लैंड की अपेक्षा भारतीय महिलाओं को कम संघर्ष करने पड़े। 1917 में प्रांतीय कौंसिल, नगरपालिका और स्थानीय शासन में महिलाओं के मताधिकार की बात आई। सरोजिनी नायडू, मीराबेन, कस्तूरबा और राजकुमारी अमृत कौर ने इस दिशा में प्रयत्न किए। 1935 के ऐक्ट में उन्हें कुछ अधिकार दिए गए। भारतीय संविधान में स्त्री-पुरुषों को समान अधिकार दिए गए। वर्तमान में काफी संख्या में महिलाएं देश की संसद में जाने को आतुर हैं। शिक्षा के क्षेत्र में भी महिलाओं ने अनेक प्रयत्न किए। अनेक सामाज सुधारकों, शिक्षाविदों और महिला संस्थाओं ने इस क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति की।

कुल मिलाकर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि जहां 19वीं शताब्दी में महिलाओं की दशा पतनोन्मुख थी, वहीं उपरोक्त सामाजिक नियमों ने उसकी अवस्था को उन्नत करने का प्रयास किया। बाद में भारतीय संविधान ने भी इस दिशा में समानता लाने में महत्त्वपूर्ण कदम उठाए, पर इस दिशा में अभी भी सामाजिक चेतना की निरंतर आवश्यकता है।

❐ *जाति-प्रथा के विरुद्‌ध संघर्ष और संबद्‌ध कानून*

नारी मुक्ति के साथ जाति-प्रथा हिंदुओं में सामाजिक सुधार का दूसरा महत्त्वपूर्ण मुद्‌दा रही। वस्तुतः यह प्रथा अभिशाप और कलंक बन गई थी। प्रारंभ में यह व्यवसाय पर आधारित थी, परंतु कालांतर में जन्म के आधार पर निर्धारित होने लगी और तब उसे जाति कहा जाने लगा।

वर्ण-व्यवस्था की मुख्यतः चार श्रेणियां थीं – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। पहले की तीन श्रेणियों को सवर्ण कहा जाने लगा था। शूद्रों में कुछ जातियों को धीरे-धीरे अछूत कहा जाने लगा। इन अछूतों पर तरह-तरह के कठोर नियम और प्रतिबंध लगा दिए गए। दक्षिण भारत में अछूतों की दुरावस्था

की पराकाष्ठा थी। इनकी बस्तियां भी अलग जगह पर होती थीं। इनका स्पर्श भी पाप माना जाने लगा। ब्राह्मणों द्वारा इनको बड़ी प्रताड़ना दी जाती थी। इनकी छाया भी अशुभ मानी जाती थी। अतः अछूत दूर से ही आवाज़ देकर अपने आने की सूचना देता, ताकि शेष सब दूर हो जाएं। इन्हें उच्च जातियों के कुंओं, तालाबों, नलों का प्रयोग नहीं करने दिया जाता था। मंदिरों में उनके प्रवेश पर प्रतिबंध था। उन्हें सवर्ण छात्रों के साथ विद्यालय में बैठने की मनाही थी। उनके प्रमुख कार्य झाड़ू लगाना, जूते बनाना, मुर्दों को हटाना, जानवरों की खालें निकालना और बेचना रहे। कुछ खेतिहर मज़दूरों के रूप में कार्य करते रहे।

ब्रिटिश शासकों ने अछूतों के प्रति दोहरी नीति अपनाई। उनका शेष जातियों को बांटने के लिए उपयोग किया। उन्हें अलगाव के लिए प्रोत्साहन दिया और भारत में ईसाईकरण के लिए उन्हें लाभप्रद समझा। प्रसिद्ध ब्रिटिश इतिहासकार डब्ल्यू.डब्ल्यू. हंटर ने उन्हें 'राजनीतिक स्थायित्व' के लिए उपयोगी माना और हिंदू समाज की इस कमज़ोरी को अपनी शक्ति बताया। अंग्रेज़ों ने हिंदुओं की बढ़ती हुई संख्या रोकने के लिए भरसक प्रयत्न किए। दूसरे, ब्रिटिश प्रशासन के आर्थिक, शैक्षणिक और राजनीतिक परिवर्तनों ने अछूत-प्रथा को कम किया। रेलों और यातायात के साधनों के विकास, कानूनों में समानता, बढ़ते हुए शहरीकरण, प्रशासनिक सेवा में सबको अवसर, गांवों का अलगावपन दूर होने, आधुनिक उद्योगों के विकास, ट्रेड यूनियनों के निर्माण ने अछूतों की दशा को प्रभावित किया।

साथ ही भारतीयों में भी चेतना उत्पन्न हुई। सामाजिक और धार्मिक आंदोलन का एक प्रमुख मुद्दा छुआ-छूत हटाना रहा। महादेव गोविंद रानाडे ने 1887 में 'भारतीय राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन' (Indian National Social Conference) प्रारंभ किया। 1903 में 'बंबई समाज सुधार सभा' और मद्रास में एनी बेसेंट ने एक हिंदू संस्था शुरू की। महात्मा गांधी ने इसे अपने रचनात्मक कार्यक्रम का भाग बनाया। उन्होंने 'हरिजन' पत्र भी निकाला और 1932 में 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की। अनेक व्यक्तिगत और संस्थागत प्रयास भी इस कुप्रथा को समाप्त करने के लिए हुए। स्कूलों, मंदिरों, कुंओं और तालाबों आदि स्थानों से अलगाव के दायरे को दूर करने के प्रयास हुए।

अछूतों या दलितों के उत्पीड़न के विरुद्ध अछूत कहलाने वाला वर्ग स्वयं भी खड़ा हुआ। कई आंदोलन हुए। डा. भीमराव अंबेडकर ने अपना जीवन अछूतोद्धार में लगा दिया। उन्होंने 1924 में एक बहिष्कृत हितकारिणी सभा बनाई। उन्होंने 'अखिल भारतीय दलित वर्ग सभा' की स्थापना की। इनके नेताओं ने एक और संस्था 'अखिल भारतीय दलित वर्ग परिषद्' स्थापित की। पश्चिम भारत में ज्योतिबा फुले और दक्षिण में नारायण गुरु ने क्रमशः 'सत्य शोधक समाज' और 'श्रीनारायण धर्म प्रतिपालन योगम' की स्थापना की। दक्षिण भारत में 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में एक स्वाभिमान आंदोलन (Self Respect Movement) शुरू हुआ। 1917 में श्री पी. त्यागराज व डॉक्टर टी.एम. नैयर ने एक गैर-ब्राह्मण संस्था का निर्माण किया और इसे 'दक्षिण भारतीय उदारवादी संघ' कहा, जो बाद में 'न्याय पार्टी' बनी। 1937 में राम स्वामी नैकर (1897-1973) ने इस पार्टी के अध्यक्ष के रूप में छुआछूत का विरोध किया और इसके लिए हिंदू धर्म की कटु आलोचना की। बाद में उसके अनुयायियों ने द्रविड़ कड़गम (द्रविड़ संघ) बनाया। सितंबर 1949 में दल का विभाजन हुआ। नैकर के मित्र और अनुयायी सी.एन. अन्ना दुरै (1909-1969) ने अपने दल का नाम 'द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम' (द्रविड़ प्रगतिशील दल) रखा।

यह उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश शासन में इस कलंक और अलगाव को मिटाने के लिए कोई भी प्रभावी कानून प्रत्यक्ष रूप से नहीं बनाया गया। उन्हें डर था कि इसका रूढ़िवादी लोगों द्वारा तीव्र विरोध

होगा। भारतीय संविधान में इस दिशा में अत्यंत महत्त्वपूर्ण कदम उठाया गया। छुआछूत को कानूनी रूप से हटा दिया गया। समानता के अधिकार को स्वीकार किया गया। 1955 में अस्पृश्यता कानून में इसके उल्लंघन पर दंड की व्यवस्था की गई। संविधान के नीति निदेशक तत्त्वों में इसमें समानता के निर्देश दिए गए। केंद्र और राज्यों में कुछ स्थानों पर विशेष आरक्षण प्रदान किए गए, परंतु जाति-प्रथा की कटुता, जटिलता अभी पूरी तरह समाप्त नहीं हुई। इस कुप्रथा को नष्ट करने के लिए समाज में प्रयत्न और जागृति की आवश्यकता है।

ब्रिटिश सरकार की कृषकों के प्रति नीति

यह सर्वविदित है कि भारत एक कृषि प्रधान देश है। भारतीयों के सुख, दुख, वर्तमान, भविष्य कृषि पर निर्भर हैं। कृषि अच्छी हुई तो चारों ओर समृद्धि दिखलाई पड़ती है। इसके अभाव में अकाल, प्रकोप और भुखमरी की अवस्था आ जाती है।

18वीं शताब्दी तक भारत में कृषि और घरेलू उद्योगों में अद्भुत समन्वय और सामंजस्य रहा। भारत जहां खेती-बाड़ी में आगे था, वहां हस्तकला उद्योग में भी विश्व में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। अंग्रेज़ों ने जहां इसके उद्योगों को नष्ट कर दिया, वहां भारत के कृषकों को अपनी भू-नीति और भू-राजस्व नीति से प्रभावित किया।

भारत की राष्ट्रीय आय, विदेशी व्यापार, औद्योगिक विस्तार–सभी भारतीय कृषि पर निर्भर थे। 1875 में कृषि से राष्ट्रीय आय का अंश 55 प्रतिशत से 65 प्रतिशत तक माना जाता है। 1901 में विदेशों में निर्यात की गई वस्तुओं में 75 प्रतिशत कृषि से संबंधित थीं। औद्योगिक विकास की मुख्य वस्तुएं– सूती कपड़ा, जूट, चाय, चीनी कृषि की ही देन हैं। निःसंदेह कृषि के विकास पर ही भारत की आर्थिक समृद्धि निर्भर करती है।

अंग्रेज़ी शासकों ने अत्यधिक धन-प्राप्ति और भू-राजस्व प्राप्ति के लिए भारतीय हितों की, यहां के कृषकों की ज़रा भी परवाह न करके मनमानी नीति अपनाई। उन्होंने परंपरागत राजस्व नीति का परित्याग कर दिया और अत्यधिक भू-राजस्व लगाया तथा उसे निर्लज्जता एवं निर्दयतापूर्वक वसूल करने की नीति अपनाई। पहले भू-राजस्व के रूप में अनाज गांव के मुखिया द्वारा दे दिया जाता था। यह अनाज सरकारी अधिकारियों द्वारा राज्य को राजस्व के रूप में दिया जाता था। मुगल काल में भूमि को कई श्रेणियों में उसकी उपज और भूमि के आधार पर बांटा गया था। कुछ भूमि सरकार द्वारा सुरक्षित होती थी। भू-राजस्व सामान्यतः उपज का 1/3 लिया जाता था। शेरशाह और टोडरमल ने अपने काल में अनेक सुधार किए थे।

अंग्रेज़ों की भूमि और भू-राजस्व नीति

अंग्रेज़ों ने यहां आने पर मुख्य रूप से तीन प्रकार की भू-व्यवस्था प्रचलित की। उन्होंने बंगाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तर-पश्चिम प्रांत के बनारस खंड और उत्तरी कर्नाटक में भूमि का स्थाई बंदोबस्त यानी कि ज़मींदारी प्रथा प्रचलित की, जो समस्त भारत की 19 प्रतिशत भूमि थी। दूसरी व्यवस्था, महलवाड़ी उत्तर-पश्चिम प्रांत, मध्य प्रांत, पंजाब में प्रचलित की गई, जो समस्त भूमि का 30 प्रतिशत थी। रैयतवाड़ी व्यवस्था बंबई और मद्रास क्षेत्र के अधिकतर भागों, असम और अन्य भागों में थी, जो लगभग भूमि का 51 प्रतिशत थी।

स्थाई बंदोबस्त

1765 में बंगाल, बिहार और उड़ीसा में अंग्रेज़ों की दीवानी स्थापित हो गई थी। उन्होंने 1772 में भूमि का अस्थाई प्रबंध आरंभ किया था। नीलामी के आधार पर पांच वर्षों के लिए भूमि दी जाने लगी थी। 1778 में भूमि की नीलामी प्रतिवर्ष होने लगी, जिससे भू-राजस्व में हानि हुई। इससे प्रतिस्पर्धा बढ़ी और लगान भी निश्चित समय पर नहीं मिल पाता था।

1786 में दसवर्षीय व्यवस्था भी लागू की गई, परंतु 1789 से स्थाई प्रबंध पर ज़ोर दिया जाने लगा। 1793 में लॉर्ड कॉर्नवालिस ने भूमि का स्थाई प्रबंध कर भूमि के स्वामित्व का अधिकार ज़मींदार को दे दिया। साथ ही उसे पैतृक और हस्तांतरणीय बना दिया। ज़मींदार भूमि को बेच सकता था अथवा रहन या दान में दे सकता था। किसान को प्रजा मान लिया गया और उनके भूमि संबंधी परंपरागत अधिकार छीन लिए गए। भू-राजस्व में सरकार का हिस्सा 90 प्रतिशत था और ज़मींदार का 10 प्रतिशत निर्धारित किया गया। ज़मींदार के तमाम न्यायिक अधिकार छीन लिए गए। साथ ही यह भी कहा गया कि यदि ज़मींदार समय पर भू-राजस्व नहीं देगा, तो उसकी भूमि ज़ब्त की जा सकती है।

उपरोक्त व्यवस्था इंग्लैंड में प्रचलित ज़मींदारी प्रथा से प्रेरित थी। यह व्यवस्था अंग्रेज़ों के लिए हितकारी थी। इस व्यवस्था ने एक ऐसा वर्ग खड़ा कर दिया, जो अंग्रेज़ों के प्रति वफ़ादार था। इस वर्ग ने बाद में स्वतंत्रता आंदोलन के समय भी अंग्रेज़ों का साथ दिया था। इससे अंग्रेज़ों के भू-राजस्व की वृद्धि हुई। इस व्यवस्था से पूर्व भू-राजस्व वसूली के लिए सेना और अन्य अधिकारियों को लगाना पड़ता था। अब उनकी आवश्यकता न रही। इस व्यवस्था से कंपनी के खर्चे भी कम हो गए। इससे कंपनी की आय सुनिश्चित हो गई। इसके कारण एकरूपता आई और सरकार बार-बार भू-राजस्व तय करने की कठिनाई से बच गई।

परंतु यह व्यवस्था कृषकों के लिए एक अभिशाप बन गई। इसने एक ऐसे ज़मींदार वर्ग को जन्म दिया, जो रैयत अर्थात कृषक की भलाई पर ज़रा भी ध्यान न देता था। कार्वर के अनुसार 'युद्ध, अकाल और महामारी के बाद, ग्रामीण समुदाय में भयंकरतम वस्तु अनुपस्थित ज़मींदार वर्ग का होना था।' ज़मींदारों द्वारा शोषण किसी से कम न था। इससे मुकद्दमेबाज़ी बढ़ी। इससे कृषकों के कष्ट कई गुणा बढ़ गए। उनके अधिकारों को पूरी तरह से भुला दिया गया। ज़मींदारों ने समय-समय पर कृषकों पर मनमानी शर्तें भी लादनी शुरू कीं। इस व्यवस्था से प्रारंभ में बहुत से ज़मींदार भी नष्ट हुए, क्योंकि वे सरकार द्वारा निश्चित भू-राजस्व वसूल न कर सके। बी.आर. मिश्रा का कथन है – 'सरकार ने पूरी तरह राजनीतिक उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए लाखों के हितों को, कुछ के स्वार्थ के लिए कम कर दिया और बलि कर दिया।'

रैयतवाड़ी व्यवस्था

यह प्रथा मद्रास, बरार, बंबई और असम में प्रचलित की गई। इस व्यवस्था में रैयत (कृषक) ही भूमि का स्वामी होता था। सरकार और रैयत के बीच ज़मींदार की भांति कोई मध्यस्थ न था। रैयत तब तक ज़मीन का स्वामी होता था, जब तक वह समय पर भू-राजस्व देता रहता था। इस प्रथा में भू-राजस्व 20-40 वर्षों तक के लिए निश्चित किया जाता था। प्रत्येक रैयत भू-राजस्व के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी था। भूमि रैयत के अधिकार में रहती थी और उसे उपयोग करने या छोड़ने का उसे अधिकार था। रैयत का भूमि पर स्वामित्व बढ़ने से कृषि सुधार की बड़ी-बड़ी आशाएं थीं।

आर्थर यंग ने लिखा 'किसी व्यक्ति को चट्टान पर भी निश्चित अधिकार दे दीजिए, तो वह उसे बगीचे में परिवर्तित कर देगा। उसे 9 वर्षों के लिए बगीचे का ठेका दे दीजिए, तो वह उसे रेगिस्तान में परिवर्तित कर देगा।'

परंतु यह व्यवस्था भी कृषकों के लिए लाभकारी नहीं हुई। रीड और मुनरो को इस व्यवस्था को लागू करते वक्त इससे बड़ी आशाएं थीं। भू-राजस्व खेत की अनुमानित आय का ½ भाग निश्चित किया गया, परंतु सरकार की मांग पर यह कर प्रायः कुल उत्पादन का 45 प्रतिशत से 55 प्रतिशत तक हुआ। मुनरो ने इसे 33.33 प्रतिशत उचित माना था। आर.सी. दत्त का मत

है कि भू-राजस्व जो भी निश्चित किया गया, वह बहुत अधिक था। तत्कालीन ज़िला कलेक्टरों की रिपोर्टों से भी यह स्पष्ट होता है। साथ ही इस व्यवस्था से भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित होती गई। यह क्रम निरंतर बढ़ता गया। इस व्यवस्था में ग्रामीण समुदाय का विकास संभव न था। वास्तव में यह प्राचीन ग्रामीण व्यवस्था पर एक कटु प्रहार था। इस व्यवस्था से उचित रूप से भू-राजस्व संभव नहीं था।

महलवाड़ी व्यवस्था

भू-राजस्व की यह व्यवस्था पंजाब, मध्य प्रदेश और वर्तमान उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में प्रचलित हुई। इस पद्धति के अनुसार भूमिकर की इकाई कृषक का खेत नहीं, अपितु ग्राम अथवा महल (जागीर का एक भाग) होती थी। इस प्रथा के अनुसार भू-राजस्व के बारे में समझौता किसी ज़मींदार या रैयत के साथ न होकर गांव के सभी पट्टेदारों से एक साथ किया जाता था। इसमें भू-राजस्व देने की ज़िम्मेदारी संपूर्ण महल की होती थी। भू-राजस्व निश्चित करते समय तमाम गांव की भूमि नापी जाती थी, पंजाब में संशोधित महलवाड़ी प्रथा लागू की गई, जिसे कभी-कभी ग्राम व्यवस्था भी कहा गया।

इस व्यवस्था के अंतर्गत भी भू-राजस्व अत्यधिक था। उत्तरी भारत में ब्रिटिश शासन से पूर्व भू-राजस्व 135 लाख रुपए था, जो ब्रिटिश शासन के प्रथम वर्ष में 156 लाख रुपए, दूसरे वर्ष में 161 लाख रुपए और तृतीय वर्ष में 168 लाख रुपए निर्धारित हुआ था। 1807-1818 के बीच अनेक अधिकारियों के विरोध के बाद भी इसे 45 प्रतिशत बढ़ा दिया गया। 1822 में यह वास्तविक संपत्ति का 80 प्रतिशत लगाया जाता था। महलवाड़ी प्रथा 1833 के अधिनियम के अंतर्गत लागू की गई थी। महलवाड़ी प्रथा से सरकार से सीधा संपर्क, स्वामित्व और भूमि की उर्वरता बनी रही, परंतु इस प्रथा से भी भू-राजस्व निश्चित नहीं हो पाता था और ग्रामीण समुदाय का विकास संभव न था।

अंग्रेज़ों द्वारा प्रचलित तीनों प्रकार की व्यवस्थाएं भारत की परंपरागत प्रथाओं के प्रतिकूल थीं। ज़मींदारी प्रथा इंग्लैंड में प्रचलित सामंतवादी प्रथा, रैयतवाड़ी फ्रांस में प्रचलित कृषक स्वामित्व और महलवाड़ी भारतीय आर्थिक समुदाय की नकल मात्र थी। इन सभी व्यवस्थाओं से कृषकों की हालत खराब होती गई। छोटे-छोटे किसानों, खेतिहर मज़दूरों और काश्तकारों की दशा दयनीय हो गई। ग्रामीण अर्थव्यवस्था बिखर गई। ग्राम पंचायतों का महत्त्व नष्ट हो गया। इससे अंग्रेज़ों का एक ऐसा हितचिंतक वर्ग खड़ा हुआ, जो उनका पक्षपाती रहा। इन व्यवस्थाओं ने भूमि को एक माल या वस्तु के रूप में माना, जो कभी भी खरीदी या बेची जा सकती थी। अभी तक भूमि 'रब' (ईश्वर) की मानी जाती थी। भूमि के संदर्भ में यह मौलिक परिवर्तन था, जिसने भारत के कृषक के ग्रामीण समुदाय के स्वरूप को और गांवों को ही बदल दिया। वस्तुतः यह भारतीय कृषकों को उनकी जड़ों से उखाड़ने का प्रयास था।

ब्रिटिश शासन की भारतीय दस्तकारों के प्रति नीति

परंपरागत अर्थव्यवस्था का नष्ट होना – दस्तकारों और कारीगरों की तबाही

16वीं से 18वीं शताब्दी तक यूरोपीय जातियों का भारत में प्रवेश होता रहा। इन सभी में परस्पर भारतीय व्यापार पर एकाधिकार एवं प्रभुत्व स्थापित करने की होड़-सी लगी रही। अनेक व्यापारियों, पादरियों और यात्रियों ने भारत की यात्राएं कीं और वापस लौटकर यहां की समृद्धि, धन-वैभव और व्यापार-विस्तार की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। मार्कोपोलो ने भारत को एशिया का मुख्य बाज़ार कहा है। 1700 में भारत की आर्थिक दशा का वर्णन करते हुए यात्री बर्नियर ने

लिखा 'बंगाल में धन आने के सौ दरवाज़े हैं, पर बाहर जाने के लिए एक भी नहीं हैं।'

भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रारंभ में एक मात्र उद्देश्य था – व्यापार। कंपनी अपने पूरे शासनकाल में कंपनी के लाभांश की बढ़ोतरी और व्यापार पर एकाधिकार के लिए प्रयत्नशील रही। यद्यपि 1813 के चार्टर ऐक्ट द्वारा यह एकाधिकार समाप्त कर दिया गया था, परंतु बाद में भी अंग्रेज़ों की आर्थिक शोषण की नीति अबाध गति से चलती रही। यह उल्लेखनीय है कि भारतीयों के लिए अंग्रेज़ी शासन इसके पूर्व के अन्य भारतीय शासकों से भिन्न था। शेष आक्रमणकारियों ने यहां तक कि पठानों और मुगलों ने भी अपने को भारत में प्रचलित आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाओं में ढाल लिया था और उन सभी की आर्थिक नीतियों का केंद्र भारत ही रहा था, परंतु अंग्रेज़ों का आर्थिक केंद्र सर्वथा इंग्लैंड बना रहा। अत: उन्होंने यहां की जनता की चिंता न करके अपनी आर्थिक नीतियां भारतीयों पर ज़बरदस्ती लादीं और इनका मुख्य उद्देश्य अंग्रेज़ों का हित रहा। उपरोक्त शोषण की नीति ने भारत की आर्थिक व्यवस्था को पंगु बना दिया। जॉन सुलिवन (John Sullivan) ने भारत में ब्रिटिश आर्थिक नीति और उसके प्रभाव को दर्शाते हुए लिखा कि 'हमारी प्रणाली एक ऐसे स्पंज के रूप में काम करती है, जो गंगा के किनारों से प्रत्येक अच्छी वस्तु ले लेती है और टेम्स के किनारों पर निचोड़ देती है।'

जहां तक परंपरागत हस्तकला उद्योग और कलात्मक वस्तुओं का प्रश्न है, भारत इस क्षेत्र में विश्व में पहले से ही अग्रणी, निपुण और विख्यात था। इस बारे में केलवर्टन ने माना है कि तीव्र बुद्धि, सूक्ष्म जानकारी और सृजनात्मक प्रतिभा के कारण भारतीय उद्योग पाश्चात्य देशों की अपेक्षा आगे बढ़े हुए थे। शुरू की इन शताब्दियों में जब पाश्चात्य नौपरिवहन अपेक्षाकृत अविकसित अवस्था में था, भारत में भारी बोझ ढोने वाले समुद्री जहाज़ थे। इसी प्रकार की सहमति अंग्रेज़ों द्वारा नियुक्त प्रथम भारतीय औद्योगिक कमीशन ने अपनी रिपोर्ट देते हुए प्रकट की है 'जिस समय आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था के जन्म-स्थान पश्चिमी यूरोप में असभ्य जातियां निवास करती थीं, उस समय भारत अपने शासकों के वैभव और शिल्पकारों की उच्च कोटि की कलात्मक कारीगरी के लिए विख्यात था और काफी समय बाद भी जब पश्चिम के साहसी सौदागर पहली बार भारत पहुंचे, तब भी इस देश का औद्योगिक विकास किसी भी कीमत पर विकसित यूरोप के देशों से कम नहीं था।'

उद्योग में भारतीय वस्त्र उद्योग सर्वाधिक महत्वपूर्ण रहा। सूती, रेशमी और ऊनी वस्त्र विश्व में बड़े उत्साह और उमंग से प्रयोग में लाए जाते थे। ढाका की मलमल, लाहौर के गलीचे, कश्मीर के शाल, बनारस का ज़री का काम अत्यधिक प्रसिद्ध था। हाथी-दांत का काम, लकड़ी पर खुदाई, चमकदार जड़ाऊ गहने, सभी जगह बड़े चाव से उपयोग में लाए जाते थे।

आर.सी. दत्त के अनुसार 'बुनना व्यक्तियों का राष्ट्रीय उद्योग था और कताई लाखों महिलाओं का कार्य था।' बुनकरों की संख्या बड़ी होती थी। अकेले बंगाल प्रेसीडेंसी के शाहाबाद ज़िले में एक लाख से अधिक बुनकर थे। बंगाल प्रेसीडेंसी का 95 प्रतिशत सूती वस्त्र विदेश भेजा जाता था। ढाका की मलमल के अलावा कृष्णनगर, चंदेरी, अरनी, बनारस वस्त्रोद्योग के केंद्र थे। अहमदाबाद की धोतियां व दुपट्टे, लखनऊ की चिकन, बॉर्डर के लिए नागपुर का सिल्क प्रसिद्ध थे। सिल्क उद्योग में मुर्शिदाबाद, मालदा और बंगाल के अनेक कस्बे प्रसिद्ध थे। इसी भांति ऊनी वस्त्रों के लिए कश्मीर, पंजाब और पश्चिमी राजस्थान प्रसिद्ध प्रदेश थे।

वस्त्रोद्योग के अलावा भारत, धातु उद्योग, जहाज़ निर्माण उद्योग, चमड़ा उद्योग और संगमरमर

पत्थर, हाथी-दांत, लकड़ी व चंदन की तराशी एवं नक्काशी के लिए भी प्रसिद्ध था। धातु उद्योग में पीतल, कांसे, तांबे के बर्तन बनाने में मुरादाबाद और बनारस प्रसिद्ध थे। धातुओं के काम में नासिक, पूना, हैदराबाद, विशाखापट्टनम और तंजौर विख्यात थे। हथियारों के ढालने में कच्छ, सिंध व पंजाब जाने जाते थे। शीशे के उद्योग के लिए कोल्हापुर, सतारा, गोरखपुर, आगरा, चित्तौड़ और बालघाट प्रसिद्ध थे। सोने, चांदी, हीरे-जवाहरात की नक्काशी का काम भी अनेक स्थानों पर होता था। ये सभी हस्तकलाएं और दस्तकारी भारत की आर्थिक उन्नति, रुचि और कलात्मक सौंदर्य को प्रकट करती थीं।

भारतीय हस्तकलाएं और दस्तकारी विश्व में अत्यंत सम्मानित होने पर भी 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में पतनोन्मुख होने लगी थीं। इसके पराभव और नष्ट होने के अनेक कारण थे। प्रथम, ईस्ट इंडिया कंपनी ने ऐसी नीतियां अपनाईं, जिससे भारत में ब्रिटिश तैयार माल की बड़ी खपत हो सके और भारतीय माल भारत में और बाहर न बिक सके। उदाहरणतः 1769 में कंपनी ने बंगाल के कच्चे रेशम की पैदावार को बढ़ावा दिया, पर भारत में रेशम के तैयार माल पर प्रतिबंध लगाए। इसी तरह 1813 में अंग्रेजों ने पुनः विचार किया कि भारत में तैयार माल के स्थान पर कैसे ब्रिटेन में तैयार माल की खपत बढ़ाई जाए। तटकर नीति और आंतरिक चुंगी व्यवस्था को भी ब्रिटिश व्यापारिक हितों के अनुकूल बनाया गया। उदाहरणतः 1835 में भारत में रुई से तैयार ब्रिटिश माल पर केवल 2.5 प्रतिशत आयात-कर लगता था, जबकि भारत की बनी हुई रुई पर 15 प्रतिशत चुंगी देनी पड़ती थी। 1849 में समुद्री नियम इस प्रकार के बनाए गए कि इंग्लैंड से कोई भी माल सिवाय इंग्लैंड के, किसी अन्य विदेशी जहाज़ों में नहीं आ सकता था। भारतीय रेशमी और सूती कपड़ों पर इतना अधिक कर लगा दिया गया था कि इंग्लैंड के बाज़ारों में उनका प्रवेश ही न हो सके। इसके विपरीत इंग्लैंड का माल भारत की मंडियों में भरा था, जो बहुत साधारण सा कर चुकाने पर ही मंगाया जा सकता था।

दूसरे, अंग्रेजों की, भारत विजय के साथ, अनेक भारतीय रजवाड़ों को नष्ट करने की प्रक्रिया भी प्रारंभ हुई। इन रजवाड़ों की समाप्ति से, राजदरबार की अनेक आवश्यकताएं, विशेषकर वेश-भूषाओं, गहनों, हथियारों और कलात्मक वस्तुओं की मांग भी समाप्त हो गई थी। डी.आर. गाडगिल ने लिखा है 'राजाओं के दरबारों के अंत का मतलब था सुंदर वस्तुओं, जो राजकीय और अन्य अवसरों पर दरबार की शोभा वृद्धि के लिए, अमीरों के लिए होती थीं, उनकी आवश्यकता न रहना। अतः जहां दरबार समाप्त हुए, हस्तकलाओं और ललित कलाओं का भी पतन प्रारंभ हो गया।'

तीसरे, रजवाड़ों की समाप्ति से राजदरबारी वर्ग की समाप्ति हो गई। इससे परंपरागत वेश-भूषा, फैशन और शान-शौकत भी नष्ट हो गई। इसके स्थान पर पाश्चात्य शिक्षा और संपर्क से एक नवीन शिक्षित एवं व्यावसायिक मध्यम वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। शासक वर्ग के विचारों और संपर्क के साथ नई वेश-भूषा, फैशन और रहन-सहन भी आए। नए फैशनों के अपनाने से नकल भी बढ़ी। यूरोपीय फैशन का प्रयोग उन्नति और प्रगति का लक्षण माना जाने लगा। इसने अनेक भारतीय कारीगरों, जुलाहों को नष्ट कर दिया।

चौथे, यूरोप एवं ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति से नई-नई मशीनों का आविष्कार हुआ। हथकरघों का स्थान मशीनों ने ले लिया। भारत में भी मशीनों के आगमन से हस्तकलाओं का पतन हुआ, क्योंकि मशीन द्वारा तैयार माल सस्ता होता था और इसको तैयार करने में कम समय लगता था। अंग्रेजों ने अपना माल बेचने के लिए भारत का मंडी के रूप में उपयोग किया।

पांचवें, यातायात के नवीन साधनों ने लोक जीवन में एक क्रांति सी ला दी। पहले माल नौकाओं या

बैलगाड़ियों द्वारा लाया व ले जाया जाता था। वर्षा ऋतु में आवागमन कठिन होता था, परंतु अब बिल्कुल बदल गया। अब स्टीम द्वारा चालित जहाज़ और रेलवे का विकास हुआ। पक्की सड़कें बनीं। रेलों को बंदरगाहों और खेतों से जोड़ा गया। ब्रिटिश तैयार माल का आयात बढ़ा। कच्चे माल का निर्यात बढ़ा। कोई भी माल एक स्थान से दूसरे स्थान तक आसानी से आने-जाने लगा। लाखों भारतीय कारीगर बेकार और बेरोज़गार हो गए।

छठे, बदलती हुई परिस्थितियों में भी भारतीय हस्तकलाएं अपने पुराने ढंग से ही चलती रहीं। अंग्रेज़ों के आने से पूर्व इन हस्तकलाओं को किसी स्पर्धा या प्रतियोगिता का डर न था। इन्होंने यूरोप और अन्य देशों में बदलते हुए तरीकों और तकनीक को नहीं अपनाया। अतः हस्तकलाएं विदेशी प्रतियोगिता में ठहर न सकीं।

सातवें, भारतीय हस्तकलाओं की उन्नति में कुछ बाधाएं भी थीं। इनके संगठन व्यवस्थित और सुसंगठित न थे। अनेक संगठनों का सीमा-क्षेत्र विशिष्ट क्षेत्रों तक ही था। इसके अभाव में यह एक ही धक्के से बिखर गए।

इसके अलावा भी हस्तकला उद्योग के पतन के कई अन्य कारण थे। कच्चे माल की खपत की कोई उचित व्यवस्था न थी। इसके पतन का मुख्य कारण राष्ट्रीय भावना की कमी था। भारतीय युवक अपने गौरव को भूलकर पश्चिम के अंधानुकरण में शीघ्र लग गए।

परिणामस्वरूप भारत में प्रचलित हस्तकला उद्योग शीघ्र नष्ट हो गए, कारीगर और दस्तकार बेकार हो गए। प्रचलित उद्योगों का एक प्रकार से अब अन-औद्योगीकरण (Deindustrialisation) हुआ और इसका स्थान अंग्रेज़ों के विशाल उद्योग-धंधों ने ले लिया। अंग्रेज़ों की औपनिवेशिक लिप्सा और अंग्रेज़ उद्योगपतियों ने अपने स्वार्थवश भारतीय उद्योगों को नष्ट कर दिया। कार्ल मार्क्स ने लिखा है, 'यह अंग्रेज़ घुसपैठिया था जिसने भारतीय खड्डी और चरखों को तोड़ दिया।' पहले इंग्लैंड ने भारतीय सूती माल को यूरोपीय मंडी से बाहर निकाला और फिर भारत में अपने तैयार सूती माल से बाढ़-सी ला दी।

भारत जहां पहले मुख्य निर्यातक था, अब वह प्रमुख आयातक देश हो गया। हस्तकला उद्योगों का स्थान मशीनरी उद्योगों ने लेना प्रारंभ कर दिया। अनेक पुराने कारीगर नष्ट हो गए। कुछ ने नए मशीनी उद्योगों में नौकरी कर ली। परिणामस्वरूप उनकी हालत मज़दूरों की-सी हो गई, अनेक दस्तकारों ने अपना उद्योग छोड़ कृषि को संभाला। इस प्रकार कृषि पर भी बोझ और निर्भरता बढ़ी। पुराने उद्योग क्षेत्र और केंद्र नष्ट हो गए। ढाका और मुर्शिदाबाद जैसे पुराने औद्योगिक नगर नष्ट हो गए। एक आंकड़े के अनुसार ढाका जैसे नगर की आबादी 1.5 लाख से घटकर कुल 30 हज़ार रह गई। कुल मिलाकर बदलती हुई परिस्थितियां एवं ब्रिटिश आर्थिक नीतियों से भारतीय हस्तकला उद्योग नष्ट हो गए और लाखों कारीगर, शिल्पकार, दस्तकार बेकार हो गए।

तकनीकी आविष्कार

18वीं व 19वीं शताब्दी में विश्व में औद्योगिक कार्यों ने आर्थिक परिवर्तनों और आर्थिक समृद्धि का एक नया अध्याय आरंभ किया। इस क्रांति को लाने में अनेक वैज्ञानिक और तकनीकी आविष्कारों ने भी यथेष्ट योगदान दिया। इसमें स्टीमर, तार और रेलवे भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

स्टीम का आविष्कार स्कॉटलैंड के जैम्स वाट की, जो मूलतः एक गणितज्ञ था, महत्त्वपूर्ण देन है। 1769 में पहले स्टीम इंजन का आविष्कार हो गया। पहला स्टीमबोट क्लेरमोंट (Clermont) का प्रयोग नेपोलियन ने 1812 में रूस अभियान में किया था। शीघ्र ही स्टीम इंजनों का प्रयोग आटा पीसने की मशीनों, कपड़ा बुनने, इस्पात उद्योग और यातायात के साधनों के विकास में होने लगा। भारतवर्ष ने भी विशेषकर स्टीम और रेलवे का भरपूर लाभ उठाया।

स्टीम इंजन का प्रयोग जल परिवहन और अन्य मशीनों में उपयोगी हुआ।

इसी भांति तार व्यवस्था ने संचार साधनों में महत्वपूर्ण परिवर्तन किया। भारत में यह लॉर्ड डलहौज़ी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। 1852 में ओ' शैंघनेसी (O'shanghnessy) को विद्युत तार विभाग का अधीक्षक नियुक्त किया गया। देश के प्रमुख शहरों कलकत्ता से पेशावर, बंबई और मद्रास तक देश के भिन्न-भिन्न भागों को तार द्वारा जोड़ दिया गया। लगभग 4000 मील लंबी तार लाईन बिछाई गई। 1857 के विद्रोह काल में यह तार व्यवस्था अंग्रेज़ों के लिए वरदान साबित हुई।

रेलवे विभाग

19वीं शताब्दी के मध्य तक भारतवर्ष में परिवहन के साधन अत्यधिक सीमित थे। परिवहन व्यवस्था में सर्वाधिक परिवर्तन रेल व्यवस्था के कारण हुआ। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि भारतवर्ष औद्योगिक और तकनीकी दृष्टि से पिछड़ा हुआ देश होने पर भी रेलों की दृष्टि से बहुत तेज़ी से विकसित हुआ।

अंग्रेज़ों द्वारा इसके विकास में रुचि लेने के तीन कारण थे। पहला कारण आर्थिक था। इसका मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश माल की भारत में खपत था। अंग्रेज़ व्यापारी भारत से कच्चा माल प्राप्त करना चाहते थे और तैयार माल भारत में बेचना चाहते थे। साथ ही ब्रिटिश व्यापारी अपनी अतिरिक्त पूंजी विदेशों में लगाकर लाभ प्राप्त करना चाहते थे। इसके लिए भारत उपयुक्त स्थान था। दूसरा प्रमुख कारण प्रशासनिक था। ईस्ट इंडिया कंपनी अपने सभी क्षेत्रों में एक-सी कानून व्यवस्था, भूमिकर प्रणाली इत्यादि चाहती थी। इसलिए भी यह विकास आवश्यक था। तीसरा कारण, सुरक्षा संबंधी था। किसी भी प्रकार के विद्रोह या संघर्ष की स्थिति में रेलवे अंग्रेज़ों के लिए बड़ी लाभकारी हो सकती थी और इससे सेना का आवागमन सरल हो सकता था।

भारत में सबसे पहले रेल निर्माण का सुझाव 1831-32 में लॉर्ड विलियम बैंटिक के काल में रखा गया, जबकि कावेरीपट्टनम से करुर तक और मद्रास से बंगलौर तक रेलवे लाइन बनाने का सुझाव आया। लेकिन यह कार्य सफल न हो सका। 1836 में सर ए. पी. काटन ने मद्रास से बंबई तक रेलवे लाइन बनाने का भी सुझाव रखा। 1841 में कलकत्ता के कुछ समाचार-पत्रों ने भी कलकत्ता से उत्तर-पश्चिम सीमा तक रेलवे लाइन बनाने का परामर्श दिया। 1843 में लॉर्ड हार्डिंग ने अपनी विज्ञप्ति में पंजाब, अफ़गानिस्तान, उत्तर-पश्चिम की सुरक्षा के लिए रेलवे के विकास की अत्यधिक महत्ता बताई। 1844 में पहली बार रेलगाड़ी बनाने का प्रस्ताव रखा गया, जिसमें कहा गया कि इंग्लैंड में स्थापित कंपनियां, ईस्ट इंडिया कंपनी से निश्चित लाभ के आश्वासन पर भारत में रेलों का निर्माण करें। अब प्रयोग के रूप में इंग्लैंड की तीन कंपनियों को ठेके दिए गए। ईस्ट इंडिया रेलवे कंपनी को कलकत्ता से रानीगंज तक, अर्थात 120 मील की रेलवे लाइन, ग्रेट इंडियन पैनिनसूलर रेलवे लाइन को बंबई से कल्याण तक अर्थात 37 मील और मद्रास रेलवे कंपनी को मद्रास से अरकोनम तक अर्थात 40 मील रेलवे लाइन बनाने का ठेका दिया गया।

रेलों के विकास में लॉर्ड डलहौज़ी का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। 1853 में लॉर्ड डलहौज़ी के 'रेलवे पत्र' (Railway Minute) ने रेलवे की भावी नीति निर्धारित की। इस पत्र में डलहौज़ी ने इसका उद्देश्य भारतीय साम्राज्य के हर क्षेत्र में सेना का विस्तार, ब्रिटिश पूंजी को भारत में लगाना, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक लाभ, राष्ट्रीय उत्पादन का विकास, आधुनिकीकरण के साधनों की खोज और देश के प्रमुख नगरों और बंदरगाहों को उत्पादन के क्षेत्र से जोड़ना बतलाया।

वास्तव में भारतवर्ष में कोई भी प्राइवेट एजेंसी, रेलवे निर्माण संबंधी कठिन कार्य को हाथ लगाने के

लिए तत्पर न थी। प्रारंभ में ब्रिटिश पूंजीपति भी उसके प्रति आकर्षित नहीं हुए। अतः प्रारंभ में रेलों का जाल बिछाने के लिए इंग्लैंड की कंपनी को कुछ विशेष सुविधाएं दी गईं, जिसे पुरानी गारंटी प्रथा कहा जाता है।

इसी आधार पर भारत में पहली रेलवे लाइन का निर्माण हुआ। बंबई से थाना तक पहली रेलवे लाइन बनी। इसका उद्घाटन 16 अप्रैल, 1853 को हुआ। इसमें तीन स्टीम इंजन और 14 डिब्बे थे। 1849-1869 तक लगभग आठ कंपनियों को इस योजना के अंतर्गत ठेके दिए गए। इस 20 वर्ष के काल में 4287 मील लंबी लाइन बनाई गई। सरकार को लाभ के स्थान पर 1869 तक लगभग 17 करोड़ रुपए का घाटा हुआ। शीघ्र ही रेलवे निर्माण की व्यवस्था में परिवर्तन हुए और रेलवे लाभकारी सिद्ध हुई।

रेलवे निर्माण का आर्थिक दृष्टि से मिश्रित प्रभाव हुआ। साधारणतः ब्रिटिश विचारकों और राजनीतिज्ञों ने उसके प्रभावों को बढ़ा-चढ़ाकर लिखा है। दादाभाई नौरोजी का कहना है कि भारत का दुर्भाग्य यह है कि रेलवे से भारत को वह लाभ नहीं हुआ, जो संसार के प्रत्येक देश को हुआ। तत्कालीन समाचार-पत्रों ने भारतीय हितों की दृष्टि से रेलों के विस्तार की कटु आलोचना की है। भारतीयों को किसी भी प्रकार का आर्थिक लाभ नहीं हुआ, न तो भारतीय पूंजी के ही भागीदार थे और न ये किसी उच्च स्थान पर नियुक्त किए गए। इससे भारत के धन का निकास तेजी से विदेशों की ओर हुआ। 19वीं शताब्दी के अंत तक भारतीय रेलवे बड़े घाटे में चलती रही, जिसका बोझ भारतीयों पर पड़ा। इससे भारतीय उद्योगों का विस्तार न हुआ। भारत में हस्तकलाएं नष्ट हो गईं। साथ ही भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था भी चौपट हो गई। भारतीय ग्राम अब आत्मनिर्भर न रहे, रेलों के निर्माण से नदियों के प्राकृतिक प्रवाह में बाधा पड़ी और नहरों के निर्माण की ओर कम ध्यान दिया गया।

अभ्यास प्रश्न

1. 1773 के रेग्यूलेटिंग ऐक्ट की मुख्य धाराओं का वर्णन कीजिए। इसके गुण और दोषों पर विचार प्रकट कीजिए।
2. भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रशासन के प्रमुख लक्षणों की व्याख्या कीजिए। नागरिक सेवा, सेना, पुलिस एवं न्याय व्यवस्था के संगठन के मुख्य उद्देश्यों एवं लक्ष्यों के विषय में बताइए।
3. लार्ड कॉर्नवालिस की भारतीय कानून संहिता बनाने में क्या भूमिका थी ? भारतीय दंड संहिता के अग्रणी के रूप में इस संहिता का क्या महत्त्व था ?
4. लार्ड कॉर्नवालिस ने बंगाल की भू-राजस्व प्रणाली में क्या बदलाव किए?
5. आंग्लवादी एवं प्राच्यवादी कौन थे ? इन दोनों समूहों के बीच बहस के मुख्य मुद्दे क्या थे ?
6. 19वीं शताब्दी में भारत में आधुनिक शिक्षा के विकास पर विचार प्रकट कीजिए।
7. मैकॉले द्वारा भारत में अंग्रेजी शिक्षा आरंभ करने के उद्देश्य का विश्लेषण कीजिए।
8. भारत की महिलाओं की स्थिति बेहतर करने के लिए अंग्रेजों ने जो कानूनी कदम उठाए उनका वर्णन कीजिए।

9. भारतीय हस्तकला उद्योग के पतन के कारणों एवं भारतीय शिल्पियों की शोचनीय स्थिति पर विचार प्रकट कीजिए।
10. अंग्रेजों द्वारा भारत में रेल सेवाएं आरंभ करने के मुख्य उद्देश्यों का वर्णन कीजिए। इसके प्रभाव का मूल्यांकन कीजिए।
11. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए —
    (क) कानूनी समानता की अवधारणा
    (ख) 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में यूरोप में तकनीकी विकास
    (ग) रैयतवाड़ी व्यवस्था
    (घ) स्थायी बंदोबस्त (1793)
    (ङ.) महलवाड़ी व्यवस्था

परियोजना कार्य

- 1757–1857 के दौरान बने प्रमुख कानूनों की सूची बनाइए एवं उनके महत्त्व का वर्णन कीजिए।

4
अध्याय

1857 का विद्रोह

1857 का विद्रोह भारतीय इतिहास की एक गौरवमयी गाथा है। यह विद्रोह कोई ऐसी घटना नहीं थी, जो अचानक हो गई हो और न ही कोई ऐसा प्रसंग था, जो भारत के किसी एक कोने में हुआ हो। सतही रूप से सैनिक विद्रोह के रूप में प्रारंभ हुए इस विद्रोह ने समूचे भारत की जनता, कृषकों, मज़दूरों, हस्तशिल्पियों, जन-जातियों, सैनिकों और रजवाड़ों को अपने में समेट लिया।

कुछ इतिहासकारों ने 1857 ई. में हुए विद्रोह का प्रमुख कारण सैनिक असंतोष तथा चर्बी वाले कारतूसों का प्रयोग करना बताया है, किंतु वास्तव में राजनीतिक, प्रशासनिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक मामलों के प्रति ब्रिटिश शासकों की नीतियां ही इसके लिए उत्तरदायी थीं। उनकी शोषण की नीतियों के परिणामस्वरूप ही भारतीयों में असंतोष की भावना बढ़ती चली गई, जो 1857 ई. के विद्रोह के रूप में व्यक्त हुई। चर्बी वाले कारतूसों के प्रयोग ने तो मात्र उस असंतोष रूपी बारूद को चिंगारी प्रदान की।

ब्रिटिश शासन के विरुद्ध असंतोष के कारण

ईस्ट इंडिया कंपनी के अंतिम गवर्नर जनरल लॉर्ड कैनिंग ने फ़रवरी 1856 में भारत आते समय कहा था कि 'मैं चाहता हूं कि मेरा कार्यकाल (भारत में) शांतिपूर्ण हो। मैं नहीं भूल सकता कि भारत के गगन में, जो अभी शांत है, कभी भी छोटा-सा बादल, चाहे वह एक हाथ जितना ही क्यों न हो, निरंतर विस्तृत होकर फट सकता है, जो हम सब को तबाह कर सकता है।'

लॉर्ड कैनिंग के भारत आते ही उसकी आशंका सही साबित हुई, जब यह असंतोष 1857 के विद्रोह के रूप में समूचे देश में फैला। इस विद्रोह का कोई एक कारण नहीं, अपितु अनेक कारण थे।

अंग्रेज़ों की निरंतर आर्थिक शोषण की नीतियों ने जनसाधारण को अत्यधिक प्रभावित किया तथा धीरे-धीरे उनके असंतोष की भावना बढ़ती चली गई। दरिद्रता, भुखमरी और आर्थिक शोषण ने उनकी हालत खराब कर दी थी। किसान की बुरी हालत थी। ग्रामीण समुदाय की विशेषताएं आर्थिक आत्मनिर्भरता,

स्वशासन का सुसंगठित स्वरूप, सीमित सदस्यता, स्थिरता, आत्मसुरक्षा व परस्पर सहयोग की भावना थी। कंपनी ने अपनी क्रूर और शोषणपरक नीति से ग्रामीण व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया था। भूमि प्रबंध और भू-राजस्व के संदर्भ में इंग्लैंड और फ्रांस की नकल करके नई व्यवस्थाएं अपनाई गईं थीं। स्थाई बंदोबस्त, रैयतवाड़ी और महलवाड़ी सभी में किसानों की हालत खराब थी। प्राय: सभी व्यवस्थाओं में भू-राजस्व अत्यधिक था और भूमिकर वसूली के तरीके भी कठोर थे। भूमिकर वसूल करते समय किसानों को अमानवीय यातनाएं दी जाती थीं।

कंपनी की सरकार ने जहां एक ओर इस प्रकार के नियम बनाए, जिनके द्वारा पुरस्कार में प्राप्त हुई जागीरों को छीनने का क्रम प्रारंभ किया, वहीं दूसरी ओर अंग्रेज़ों को भारत की भूमि नि:शुल्क प्राप्त करने की प्रेरणा दी। 1852 में एक इनाम कमीशन की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य भूमिकर रहित जागीरों का पता करके उन्हें छीनना था। लॉर्ड डलहौज़ी के काल में बीस हज़ार से भी अधिक जागीरों को ज़ब्त कर लिया गया। इससे असंतोष बढ़ा। इसके विपरीत कंपनी ने अंग्रेज़ों को भारत में मुफ्त भूमि देकर नील और चाय की खेती के लिए बगीचे लगाने की सुविधा दी। अभी तक कृषि और उद्योग में एक विशिष्ट प्रकार का सामंजस्य था, कंपनी ने अपने स्वार्थ के लिए इसे केवल नष्ट ही नहीं किया, बल्कि कृषि का वाणिज्यीकरण करके प्रचलित व्यवस्था नष्ट कर दी। बेचारे कृषक की हालत दयनीय हो गई।

न केवल कृषि बल्कि कंपनी की नीतियों ने भारत के हस्तकला उद्योगों को भी चौपट कर दिया। इस तरह नियम बनाए कि भारतीय हस्तकला का ह्रास हो और ब्रिटेन के तैयार माल से भारत की मंडियां भर जाएं, तट-कर नीति व आंतरिक चुंगी व्यवस्था भी इसके अनुरूप बनाई गई। हस्तकलाओं के नष्ट होने से लाखों कारीगर, हज़ारों बस्तियां और सैकड़ों नगर व कस्बे नष्ट हो गए थे। ढाका जो भारत का मेनचेस्टर कहलाता था, जंगल बन गया। मुर्शिदाबाद उजड़ गया, सूरत बदसूरत हो गया। इसके साथ ही कंपनी द्वारा भारतीय राज्यों पर कब्ज़ा करने से और उनके दरबारी वैभव के नष्ट होने से अनेक लोग बेकार और बेरोज़गार हो गए। लाखों दस्तकार और कारीगर उजड़ गए।

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के काल में भारत के धन को विभिन्न प्रकार से इंग्लैंड ले जाया गया। अंग्रेज़ शासक मार्ग के पंछी की तरह बार-बार आते और भारत का शोषण कर रातोंरात नवाब बन जाते। एक अंग्रेज़ मेजर विनगेट ने लिखा कि 'भारतीय साम्राज्य की सैनिक रक्षा के लिए ब्रिटेन के खज़ाने से एक भी शिलिंग खर्च नहीं होता था। इस तरह से लूट, रिश्वत, उपहार, समय-समय पर होने वाले युद्धों में लगी अपार धनराशि, ब्रिटिश अधिकारियों के वेतन और भत्ते, सार्वजनिक ऋण, इन सभी ने भारत की अर्थव्यवस्था को पंगु बना दिया था।'

ईस्ट इंडिया कंपनी के काल में हुए भयंकर अकालों ने भी भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक जीवन को बदल दिया था। उदाहरणत: 1770 व 1837 के अकाल भयंकरतम थे। अकेले 1837 के अकाल में आठ लाख लोग मारे गए। इसकी भयंकरता का वर्णन लॉर्ड जॉन लॉरेंस ने इस प्रकार किया है – 'मेरे जीवन में कभी ऐसे दृश्य दिखाई नहीं दिए जैसा कि होडल पलवल परगनों में देखे। कानपुर में विशेष सैनिक टुकड़ियां लाशों को हटाने जाती थीं। हज़ारों लाशें गांवों और कस्बों में उपेक्षित रूप से तब तक पड़ी रहती थीं, जब तक कि जंगली जानवर उन्हें नहीं खा जाते थे।' अकाल पीड़ितों की सहायता के लिए कंपनी ने कोई प्रयत्न न किया। परिणामस्वरूप स्थान-स्थान पर विद्रोह हुए। सेना द्वारा इनका दमन किया गया।

कंपनी की आर्थिक नीतियों ने भारत के विदेशी व्यापार को भी नष्ट कर दिया। ब्रिटेन में हो रही

औद्योगिक क्रांति ने भारत के व्यापार की दिशा बदल दी। अब भारत केवल कच्चे माल और अनाज का निर्यात करने वाला देश रह गया। तैयार माल का निर्यात कम होता गया। उदाहरणतः सन 1800 में कपास की पांच सौ छह गांठें और सूती वस्त्र की दो हजार छह सौ अड़तीस गांठें निर्यात हुईं। 25 वर्ष बाद 1825 में कपास की पंद्रह हजार एक सौ और सूती वस्त्रों की पांच सौ इकतालीस गांठें निर्यात हुईं। अतः कपास का निर्यात कई गुना बढ़ा, जबकि सूती वस्त्र का निर्यात बुरी तरह घटा।

कृषि, उद्योग और व्यापार के ह्रास के साथ-साथ भारतीयों को अपने ही देश में महत्त्वपूर्ण और ऊंची नौकरियों से वंचित रखा गया। भारतीय रजवाड़ों के नष्ट हो जाने से राजदरबार भी समाप्त हो गए। नागरिक और सैनिक सेवाओं में भी भारतीयों को स्थान न दिए गए, व्यापारिक पदों में वे केवल मामूली पद ही प्राप्त कर सकते थे, अतः बेरोज़गारी और गरीबी अपने पांव पसार रही थी।

दक्षिण भारत में विजीनगरम में कृषकों और भू-स्वामियों ने और मालाबार में पालीगरों ने विद्रोह किए। महाराष्ट्र में रामोसियों ने 1825-29 तक विद्रोह जारी रखे। सावंतवाड़ी और कोल्हापुर में 1844 में विद्रोह हुए।

1857 का विद्रोह कोई आकस्मिक घटना न थी। किसानों, जनजातियों और जमींदारों में भयंकर असंतोष की भूमिका तो पहले ही तैयार हो चुकी है। इतना ही नहीं अनेक बार विभिन्न विद्रोहों द्वारा उसका प्रकटीकरण भी हुआ था। 18वीं व 19वीं शताब्दी में निरंतर कंपनी के विभिन्न भागों में विद्रोह और विरोध की चिंगारी सुलगती रही थी।

इसी भांति अनेक जनजातियों ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध भयंकर प्रतिरोध किए थे। इसमें कुछ उल्लेखनीय हैं 1831 में छोटा नागपुर में हो जाति का संघर्ष, 1818-1846 तक भीलों, 1831 में कोलों, 1820 में राजपूताना में मेडों, 1846 में उड़ीसा में खोड और 1855 में बिहार में संथालों का संघर्ष। ऐसे संघर्षों की संख्या, जो कंपनी के अत्याचारों के विरुद्ध प्रारंभ से ही जूझते रहे, 1857 से पूर्व एक शताब्दी में 50 से अधिक है।

1857 के विद्रोह के लिए कई राजनीतिक कार्य भी उत्तरदायी हैं। भारतीय रजवाड़ों में सबसे अधिक विरोध गोद लेने क़ी प्रथा का हुआ। लॉर्ड डलहौजी ने अपनी साम्राज्यवादी पिपासा को शांत करने के लिए अनेक राज्यों को हड़प लिया था। उसने सतारा (1848), जैतपुर व संभलपुर (1849), बघाट (1850), उदेपुर (1852), झांसी (1853) और नागपुर (1854) राज्यों का ब्रिटिश राज्यों में विलय कर लिया था। तंजौर के राजा और कर्नाटक के नवाब के मरने के बाद उनकी उपाधियां समाप्त कर दी गईं। 1831 के बाद मैसूर के राजा को भी पेंशन दे दी गई थी और पेशवा बाजीराव द्वितीय को उसके उत्तराधिकार से वंचित कर दिया। इससे भारतीय राजाओं में असंतोष और आतंक फैला। इतना ही नहीं अनेक राज्यों, जैसे नागपुर में शाही सामान की खुली नीलामी की गई, वहां की रानियों को अपमानित किया गया, राजाओं की पेंशन बंद कर दी गई। पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र नाना साहब व झांसी की रानी लक्ष्मीबाई को उनके राज्यों से वंचित कर दिया गया। इससे लोगों को लगा कि जब राजा-महाराजाओं का यह हाल है, तो सामान्य जनता का क्या होगा!

कंपनी की सरकार ने अंतिम मुगल बादशाह, बहादुर शाह द्वितीय को भी नहीं बख्शा। भारत के गवर्नर जनरल लॉर्ड एलनबरो ने बहादुर शाह को भेंट देनी बंद कर दी थी। सिक्कों पर से उसका नाम हटा दिया गया। डलहौजी ने बहादुर शाह को दिल्ली का लाल किला खाली करने और दिल्ली के बाहर कुतुब (महरौली) में रहने के लिए भी कहा। कैनिंग ने भी

यह घोषणा की कि बहादुर शाह के बाद मुगल शासक को सम्राट की उपाधि से वंचित कर दिया जाएगा और वह केवल राजकुमार के रूप में जाना जाएगा और उसको मुगल महल भी छोड़ना होगा। अंग्रेजों के इन घृणित कार्यों ने भारतीय राजाओं को उनके विरुद्ध कर दिया।

इसी भांति 1856 में लॉर्ड डलहौज़ी के द्वारा अवध को मिलाने की घटना से बड़ा असंतोष फैला। अवध कंपनी के प्रति राजभक्त रहा था, लेकिन उसके शासन प्रबंध में दोष का आरोप लगाकर उसे अंग्रेज़ी राज्य में मिला लिया। इससे अवध के सैनिकों में जो मुख्यत: बंगाल की सेना में थे, अत्यधिक असंतोष फैला। जी.बी. मालेसन ने लिखा 'अवध को अंग्रेज़ी राज्य में मिलाए जाने और वहां पर नई पद्धति आरंभ किए जाने से मुस्लिम कुलीनतंत्र, सैनिक वर्ग, सिपाही और किसान सब अंग्रेज़ों के विरुद्ध हो गए और अवध असंतोष का बड़ा भारी केंद्र बन गया।'

कंपनी के शासन ने भारतीयों को कुछ भी ऐसा नहीं दिया था, जिससे उनमें विश्वास और संतोष की भावना उत्पन्न हो। पुलिस और न्याय व्यवस्था में भ्रष्टाचार और लूट-खसोट व्याप्त थी। जेलें मृत्युघर बनी हुई थीं। सरकार जनहित कार्य को अपनी ज़िम्मेदारी न समझती थी।

भारतीय जनमानस में व्याप्त सामाजिक और धार्मिक असंतोष इसका एक कारण था। भारत जैसे प्राचीन आध्यात्मिक देश में ईसाई मिशनरियों की बढ़ती हुई गतिविधियां शंका और अविश्वास का कारण बनीं। इन मिशनरियों ने यहां के लोगों के धर्म परिवर्तन के लिए महत्त्वपूर्ण प्रयास किए और हिंदू-मुसलमानों के विरुद्ध प्रचार किए। इन ईसाई मिशनरियों और पादरियों को सरकारी संरक्षण प्राप्त हो रहा था। उदाहरणत: ईस्ट इंडिया कंपनी के अध्यक्ष आर.डी. मैंगल्ज ने 1857 में ब्रिटिश पार्लियामेंट में कहा 'परमात्मा ने हिंदुस्तान का विशाल साम्राज्य इंग्लैंड को इसलिए सौंपा, ताकि हिंदुस्तान में एक सिरे से दूसरे सिरे तक ईसा मसीह का विजयी झंडा फहराने लगे। हममें से हर एक को अपनी पूरी शक्ति इस कार्य में लगा देनी चाहिए, ताकि सारे भारत को ईसाई बनाने के महान कार्य में देशभर के अंदर कहीं किसी कारण, ज़रा भी ढील न आने पाए।'

धर्म परिवर्तन के लिए अब पुलिस का सहारा लिया जाने लगा। सरकारी खर्चे पर सेना में ईसाई पादरी रखे जाने लगे। सेना में ईसाइयत के प्रचार और धर्म परिवर्तन की बातें बड़े जोश से होने लगीं। सिपाहियों को ईसाई बनाने के लिए सैनिक छावनियों में साहित्य बंटने लगा और सुविधाएं मिलने लगीं।

धार्मिक भावना उस समय और उभरी, जब कंपनी की सरकार ने मंदिरों एवं मस्जिदों की जायदादों पर कर लगा दिए। इससे पूर्व भारतीय शासकों ने इन धार्मिक स्थानों को करमुक्त रखा था। अनेक हिंदुओं और मुस्लिम परिवारों का उक्त भूमि की आय से निर्वाह होता था।

कंपनी के शासकों ने जब हिंदू धर्म और उसके रीति-रिवाजों में परिवर्तन के लिए कानून बनाने प्रारंभ किए तो अनेक भारतीयों को उनके सामाजिक व धार्मिक रीति-रिवाजों में सरकार के हस्तक्षेप का कोई औचित्य नहीं लगा। यहां तक कि सती-प्रथा, बहुविवाह-प्रथा और कन्या-वध के विरुद्ध कानूनों को भी भारतीयों ने संदेह की दृष्टि से देखा।

इतना ही नहीं 1850 में पास किए गए धार्मिक अयोग्यता अधिनियम (Religious Disabilities Act) द्वारा लॉर्ड डलहौज़ी ने हिंदुओं के उत्तराधिकार के नियमों में भी परिवर्तन किया। अभी तक यह नियम था कि धर्म परिवर्तन करने पर व्यक्ति अपनी पैतृक संपत्ति से वंचित हो जाता था, परंतु अब ईसाई धर्म अपनाने पर भी वह इसका अधिकारी बना रहता था। इससे जहां एक ओर भारतीयों में उत्तेजना एवं असंतोष फैला, वहां कंपनी की नीति का भी पता चला। इसी भांति लॉर्ड डलहौज़ी ने प्राचीन काल से प्रचलित गोद

लेने की प्रथा का भी निषेध किया। इस निषेध को हिंदुओं के प्रचलित कानून में हस्तक्षेप समझा गया। हिंदू शासक और जनता अंग्रेज़ों की इन कुटिल चालों से कंपनी शासन के विरुद्ध होती गई।

कंपनी की सरकार के प्रति भारतीय जनमानस में रोष था। ऐसे में कंपनी द्वारा किए गए रेल, तार व डाक-व्यवस्था जैसे जन-उपयोगी कार्यों को भी धर्म विरोधी समझा गया। प्रारंभ में रेलों में जब ब्राह्मण और समाज के अन्य वर्ग यात्रा करने लगे तो इसे जाति विरोधी एवं धर्म विरोधी समझा गया। रेल, तार और डाक व्यवस्था का मुख्य आधार भी अंग्रेज़ी शासन की पकड़ की मज़बूती माना गया।

अंग्रेज़ों द्वारा अपनाई गई शिक्षा नीति ने भी भारतीय जनमानस की मानसिकता को भ्रमित किया। उन्होंने जहां एक ओर भारत में प्रचलित शिक्षा व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया, वहीं विद्यार्थियों को भारतीय शिक्षा के अध्ययन पर छात्रवृत्तियां देना बंद कर दिया। पाश्चात्य शिक्षा के लिए कुछ स्कूल खोले। ये स्कूल ईसाई जनसंख्या को बढ़ाने का साधन समझे गए। कुछ जोशीले, सरकारी अधिकारियों ने हिंदुओं की सामाजिक प्रथाओं के दोष बताते हुए बाइबिल की सत्यता को अपनाने पर बल दिया। निःसंदेह इससे जनाक्रोश बढ़ा।

यह इतिहास की विडंबना है कि भारत के सिपाही, विशेषतः बंगाल के सैनिक (Bengal Army) जो अपनी वफ़ादारी में सबसे आगे रहे, अंग्रेज़ों के विरुद्ध संघर्ष में भी सबसे आगे थे। जनसमाज में व्याप्त असंतोष को पहले उन्होंने ही उजागर किया। सेना में अत्यधिक भेदभाव से वे कुपित थे। उन्हें निम्न वेतन, घटिया खाने की व्यवस्था और समय-समय पर अधिकारियों की प्रताड़ना के साथ-साथ गंदी गालियां सुननी पड़ती थीं। वे किसी ऊंचे पद पर नहीं पहुंच सकते थे। उन्हें वेतन और भत्ते कम दिए जाते थे। 1856 में बिना किसी कारण अवध को अंग्रेज़ी राज्य में मिला देने से बंगाल के सैनिकों में, जिसमें अधिकतर भर्ती अवध से की जाती थी, असंतोष की भावना तीव्र हो गई थी। सेना में अंग्रेज़ सैनिकों को अधिक सुविधाएं, अधिक सम्मान और अधिक पदोन्नति मिलती थी। भारतीय सैनिकों के लिए तिलक लगाना, दाढ़ी रखना और विशेष प्रकार की पगड़ी बांधने पर प्रतिबंध लगा दिए गए। इतना ही नहीं, लॉर्ड कैनिंग के 1856 में सामान्य सेना भर्ती अधिनियम (General Service Enlistment Act) के अंतर्गत बंगाल सेना के भावी सैनिकों के लिए यह आवश्यक कर दिया गया था कि जहां कहीं भी सरकार को आवश्यकता हो, उन्हें वहां जाना पड़ेगा। इस नियम से आवश्यकता पड़ने पर समुद्र पार भी भेजा जा सकता था, जो उस समय धर्मानुकूल न माना जाता था।

वास्तव में सैनिकों में असंतोष तो पहले से ही था। इनमें विस्फोट 1857 की घटनाओं से हुआ। 1764 में बंगाल में एक सिपाही विद्रोह हुआ था, जिसमें तीस सिपाहियों को बंदूकों से मार दिया गया। 1806 में वैलूर में सैनिकों ने विद्रोह कर दिया, जो दबा दिया गया था। 1824 में बैरकपुर में सिपाहियों ने समुद्र के मार्ग से बर्मा जाने की मनाही कर दी। इसके फलस्वरूप 47 वीं रेजीमेंट भंग कर दी गई थी। 1844 में चार बंगाल रेजीमेंटों ने उन्हें अतिरिक्त भत्ता न मिलने पर सिंध जाने से मनाही कर दी थी। लॉर्ड डलहौज़ी के काल में 1849 में 22वीं रेजीमेंट देशी पैदलसेना, 1850 में 66वीं देशी पैदल और 1852 में देशी पैदल सेना ने बगावत कर दी थी।

इसके साथ ही कई युद्धों में अंग्रेज़ सेना को भारी हानि हुई थी। उदाहरण के लिए प्रथम आंग्ल-अफ़गान युद्ध (1838-1842) में अंग्रेज़ हारे थे। पंजाब के संघर्ष (1848-1849) में अंग्रेज़ी सेना की बड़ी क्षति हुई थी। इन सबसे भारतीय सैनिकों में अटूट आत्मविश्वास पैदा होने लगा। उन्हें लगने लगा था कि अंग्रेज़ अजेय नहीं हैं, उन्हें पराजित किया जा सकता है।

तत्कालीन कारण

उपरोक्त उत्तेजित वातावरण में भारतीय सैनिकों को पुरानी लोहे वाली बंदूक ब्राउन बैस (Brown Bess) के स्थान पर नई एनफ़ील्ड राइफ़ल (New Enfield Rifle) दी गई। इस नई राइफ़ल में कारतूस के ऊपरी भाग को मुंह से काटना पड़ता था। जनवरी 1857 में बंगाल सेना में यह अफ़वाह फैल गई कि चर्बी वाले कारतूस में गाय और सूअर की चर्बी है। स्वाभाविक रूप से हिंदू और मुस्लिम सैनिक आग-बबूला हो गए। यह कहना नितांत गलत है कि इन कारतूसों में गाय और सूअर की चर्बी नहीं मिली थी। अंग्रेज़ इतिहासकार सर जॉन केयी ने, जो उस कंपनी के राजनीतिक व गुप्त सचिव थे, यह स्वीकार किया है। इसमें संदेह नहीं कि कारतूस बनाने में गाय की चर्बी का प्रयोग किया जाता था। लॉर्ड रॉबर्ट्स जो विद्रोह के दिनों में उपस्थित थे, उन्होंने भी यह स्वीकार किया है। वास्तव में गाय और बैलों की चर्बी वूलिच शस्त्रागार में प्रयोग की जाती थी। सैनिकों को यह कार्य धर्म विरोधी और धर्म भ्रष्ट करने वाला लगा।

विद्रोह का आरंभ और प्रसार

प्लासी के युद्ध (23 जून, 1757) को हुए लगभग 100 वर्ष हो गए थे। भारतीय उसकी परिणति को भूले न थे। 1857 के इस विद्रोह को कुछ इतिहासकार अनियोजित, जबकि दूसरे पूर्व नियोजित मानते हैं। वस्तुतः इस बारे में निश्चित रूप से कहना कठिन है। कुछ विद्वानों के अनुसार 1857 का विद्रोह एक सोची-समझी योजना थी। इसका नेतृत्व प्रदेशों में अलग-अलग नेताओं ने किया। इसमें धार्मिक नेताओं, पूर्व के कुछ राजाओं, कृषकों, कारीगरों, सैनिकों और सामान्य जनता ने डटकर भाग लिया था। प्रचार का माध्यम एक स्थान से दूसरे स्थान पर चपातियां और लाल कमल का फूल था। प्रचार के लिए तीर्थ स्थानों, मेलों और उत्सवों का उपयोग किया गया था। विद्रोह संपूर्ण भारत में 31 मई, 1857 को होने वाला था, परंतु यह समय से पूर्व हो गया। 29 मार्च, 1857 को बैरकपुर में मंगल पांडेय नामक एक सैनिक ने गाय की चर्बी मिले कारतूसों को मुंह से काटने से स्पष्ट मना कर दिया था। फलस्वरूप उसे गिरफ्तार करके 8 अप्रैल, 1857 को फांसी दे दी गई थी। मंगल पांडेय का बलिदान इस विद्रोह में पहली आहुति थी।



मंगल पांडेय

बैरकपुर के बाद यह विद्रोह मेरठ में हुआ। 24 अप्रैल, 1857 को तीसरी भारतीय घुड़सवारों की सेना के नब्बे सैनिकों ने चर्बी वाले कारतूसों के प्रयोग से मना कर दिया। परिणामस्वरूप मई की परेड में 85 सैनिकों को सेना से हटा दिया गया और उन्हें मेरठ जेल में बंद कर दिया गया था। 9 मई की शाम को जब कुछ सिपाही नगर में घूमने निकले तो मेरठ शहर की स्त्रियों ने उन पर ताने कसे। जे.सी. विल्सन, तत्कालीन मुरादाबाद के जज ने लिखा कि महिलाओं ने कहा 'छिः! तुम्हारे भाई जेलखाने में हैं और तुम यहां बाज़ार में मक्खियां मार रहे हो। तुम्हारे जीने पर धिक्कार है।' सिपाही जोश में आ गए और अगले ही दिन 10 मई को जेलखाना तोड़कर सभी कैदी

सिपाहियों द्वारा जेल से छुड़ा लिए गए और उसी रात्रि को दिल्ली की ओर चल दिए।

उस समय दिल्ली की आबादी लगभग एक लाख बावन हज़ार थी। यहां की जनता व राजा बहादुर शाह द्वितीय इस विद्रोह से आश्चर्यचकित हुए, परंतु शीघ्र ही बहादुर शाह को भारत का सम्राट घोषित किया गया। भारत के सभी राजाओं और रजवाड़ों को सहायता के लिए पत्र लिखे गए। विद्रोह प्रारंभ हुआ। दिल्ली का अंग्रेज अधिकारी कर्नल रिपले मारा गया और देशी पल्टन क्रांतिकारियों से जा मिली।

दिल्ली के विद्रोह का समाचार बड़वानल की भांति आसपास के प्रदेशों में फैला। स्थान-स्थान पर सैनिक छावनियों ने विद्रोह कर दिया। सैनिकों का जगह-जगह पर जनता द्वारा स्वागत किया गया। कृषक, कारीगर और सामान्य व्यक्ति भी विद्रोह का पोषक और सहायक बना।

दिल्ली में इस विद्रोह का नाममात्र का नेतृत्व बहादुर शाह द्वितीय ने किया। वास्तविक नेतृत्व उसके सेनापति बख्त खां ने किया, जिसकी संघर्ष करते हुए बाद में 13 मई, 1859 को मृत्यु हुई। बहादुर शाह इस विद्रोह की सबसे कमज़ोर कड़ी था, जो बुढ़ापे से युक्त और नेतृत्व के गुणों से वंचित था। लॉर्ड कैनिंग ने शीघ्र ही विद्रोह को दबाने की योजना बनाई, चारों ओर नाकेबंदी की गई। यह प्रयत्न किया गया कि विद्रोह का समाचार सारे देश में न फैल सके। कश्मीर, पटियाला, नाभा, जींद के राजाओं की मदद आने पर और भारतीय नेताओं के परस्पर तालमेल के अभाव का लाभ उठाकर 14 सितंबर, 1857 को अंग्रेज़ी सेनाओं ने 5 दिन के संघर्ष के बाद दिल्ली में प्रवेश किया। इस संघर्ष में जॉन निकलसन की मृत्यु हुई। दिल्ली जीतने पर हज़ारों दिल्लीवासियों को प्रतिशोधस्वरूप कत्ल कर दिया गया। तत्कालीन बंबई गवर्नर लॉर्ड एलीफिंस्टन ने लिखा कि दिल्ली पर पुनः अधिकार के बाद ब्रिटिश सेना के अपराधों



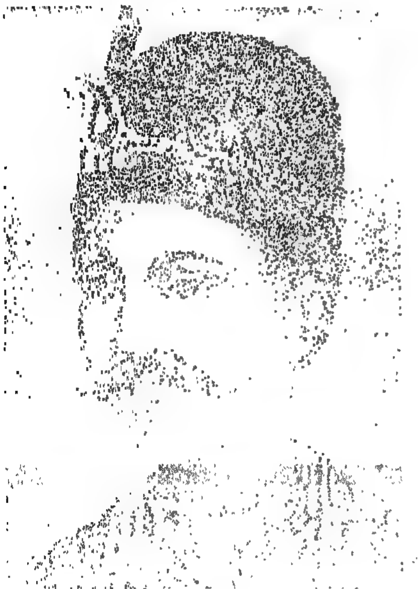
बहादुर शाह द्वितीय

का वर्णन नहीं किया जा सकता। बिना शत्रु-मित्र का विचार किए, नरसंहार हुआ। इसकी भयंकरता नादिर शाह से भी अधिक थी।

सम्राट बहादुर शाह के रिश्तेदार मिर्ज़ा इलाही बख्श की सहायता से बहादुर शाह को गिरफ्तार किया गया। ब्रिटिश जनरल हॉडसन ने बहादुर शाह के दो बेटों को गोली से मार दिया और सम्राट को निर्वासित कर रंगून भेज दिया गया, जहां 1862 में उसकी मृत्यु हो गई।

लखनऊ में 4 जून, 1857 को अवध की बेगम हज़रत महल ने अपने नाबालिग लड़के बिरजिस कादर को नवाब घोषित कर बगावत कर दी। अवध के ज़मींदारों, किसानों और सैनिकों ने उसकी मदद की। ब्रिटिश सेना क्रांतिकारियों का मुकाबला न कर सकी और सेना ने ब्रिटिश रेजीडेंसी में शरण ली।

क्रांतिकारियों ने रेज़ीडेंसी में आग लगा दी। ब्रिटिश रेज़ीडेंट हेनरी लॉरेंस की मृत्यु हुई। जनरल हेवलॉक व आउट्रम भी इसे दबाने में असफल रहे। बाद में सेनापति सर कॉलिन कैंपबल ने गोरखों की मदद से टक्कर ली और सफलता प्राप्त की।



तांत्या टोपे

5 जून, 1857 को कानपुर में विद्रोह हुआ, जिसका नेतृत्व नाना साहेब ने किया। तांत्या टोपे और अज़ीमुल्ला खां ने इस विद्रोह को संगठित किया। कानपुर के सतीचौरा नामक गंगा के घाट पर सभी अंग्रेज़ों को परिवार सहित नौकाओं में बिठाकर गोली से भून दिया गया।

झांसी में रानी लक्ष्मीबाई ने ब्रिटिश सेना से भयंकर टक्कर ली। सर ह्यूरोज़ द्वारा पराजित होने पर वह कालपी की ओर गई। उसने तांत्या टोपे की मदद से ग्वालियर पर कब्ज़ा किया। ग्वालियर का राजा सिंधिया राजभक्त बना रहा और उसने आगरा में शरण ली, लेकिन 17 जून, 1858 को रानी लक्ष्मीबाई बड़ी वीरता से सैनिक वेश में संघर्ष करती हुई वीरगति को प्राप्त हुई।

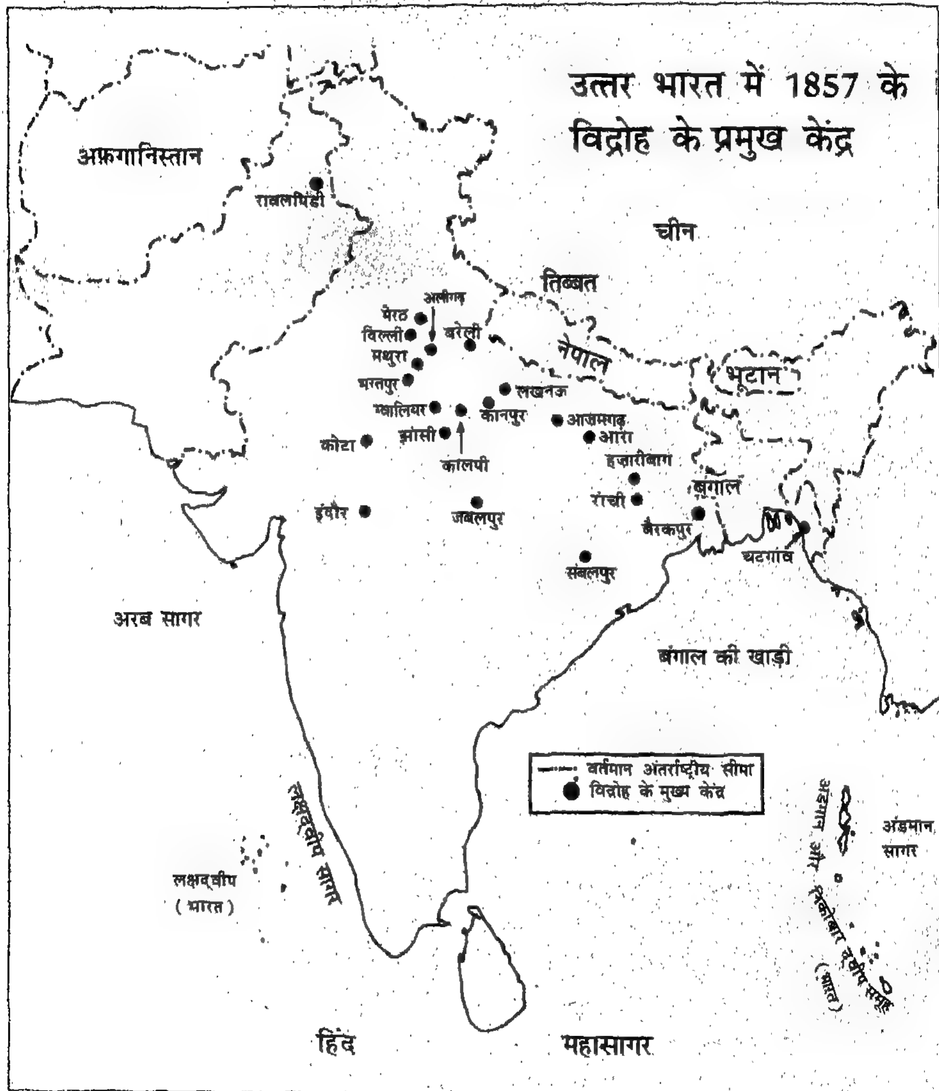


रानी लक्ष्मीबाई

बिहार में विद्रोह का नेतृत्व जगदीशपुर के अस्सी वर्षीय कुंवरसिंह ने किया। आरा के निकट ब्रिटिश सैनिकों को पराजित किया, परंतु 27 अप्रैल, 1858 को उनकी मृत्यु हो गई।

रुहेलखंड में विद्रोह का नेतृत्व अहमदुल्ला ने किया। अहमदुल्ला एक देशभक्त और सैनिक प्रतिभा का व्यक्ति था। यह मूलतः मद्रास का रहने वाला था, पर 1857 के शुरू में फैज़ाबाद आकर रहने लगा था। उसने खुलकर विद्रोह का प्रचार किया, लेकिन उसे पंवान के राजा जगन्नाथसिंह के भाई ने 50 हज़ार रुपए के लालच में धोखे से मरवा दिया।

वर्तमान हरियाणा और पंजाब के लोगों ने इस विद्रोह में बढ़-चढ़कर भाग लिया। यहां विद्रोह का



उत्तर भारत में 1857 के विद्रोह के प्रमुख स्थल

प्रारंभ दिल्ली से लगभग 300 सिपाहियों ने गुड़गांव पहुंच कर किया, गुडगांव का कलक्टर भाग गया। मेवात में सदरुद्दीन नामक एक किसान के नेतृत्व में विद्रोह हुआ। अहीरवाल के राव तुलाराम व उनके भतीजे राव गोपाल देव ने संघर्ष में भाग लिया। इसी भांति पलवल, फरीदाबाद, बहादुरगढ़, फर्रुखनगर के लोगों ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध बगावत की। 16 नवंबर, 1857 को नारनौल के समीप एक लड़ाई हुई, जिसमें 70 ब्रिटिश सैनिक मारे गए और 45 घायल हुए। उनका कमांडर कर्नल जीरार्ड व कैप्टन वैलेस मारे गए और क्रेजे, केनेडी और पियर्स घायल हुए। हॉडसन को दिल्ली से रोहतक विद्रोह दबाने के लिए भेजा गया। इसमें हिसार, हांसी, सिरसा के लोगों ने भाग लिया। पानीपत में बूअली कलंदर के इमाम के नेतृत्व में विद्रोह हुआ। बाद में इमाम को फांसी दे दी गई। अंबाला में साठवीं देशी पल्टन व पांचवीं देशी पल्टन ने भी विद्रोह किया, पर किसी भांति उस पर काबू पा लिया गया।

पंजाब प्रदेश में स्थान-स्थान पर बगावतें हुईं। फिरोज़पुर, पेशावर, होती मर्दान, जालंधर, फिल्लौर व अजनाला में देशी पल्टनों ने विद्रोह किए। 1856-57 और 1857-58 की पंजाब की प्रशासकीय रिपोर्टों के अनुसार 386 व्यक्तियों को फांसी हुई, 1998 को मारा गया और अनेक कैदी रखे गए। अंडमान जेल में जो पहला क्रांतिकारियों का जत्था भेजा गया, उसमें 206 पंजाब से थे।

सभी स्थानों पर स्थानीय राजाओं की मदद से और कूटनीति से अंग्रेज़ों ने देशी पल्टनों से हथियार डलवा दिए। स्थान-स्थान पर सैनिकों ने विद्रोह कर देशभक्ति का परिचय दिया। इंदौर के होल्कर ने अंग्रेज़ों का साथ दिया। परंतु उसके अनेक सैनिकों ने बगावत कर दी। ग्वालियर का राजा अंग्रेज़ों का भक्त बना रहा, परंतु उसके 20 हज़ार सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। महू, सागर, अलीगढ़, इटावा, बुलंदशहर, मुरादाबाद, इलाहाबाद, बनारस और बरेली में सैनिकों अथवा जनता के विद्रोह हुए।

यह सोचना नितांत असत्य और निर्मूल होगा कि 1857 का विद्रोह केवल उत्तर भारत तक सीमित रहा। यह कथन कि 'मद्रास प्रांत अप्रभावित रहा यद्यपि बेचैनी के कुछ महत्त्वहीन चिह्न फ़ौज से दृष्टिगत हुए' वास्तव में अनभिज्ञता का परिचायक है।

डा. वी.डी. दिवेकर ने 1993 में अपने प्रसिद्ध शोध ग्रंथ 'साउथ इंडिया इन 1857 : वार ऑफ इंडिपेंडेंस' में इसका शोधपूर्ण विवेचन किया है। नवीनतम खोजों और आधुनिक भारत के विभिन्न अभिलेखागारों तथा लंदन से प्राप्त सामग्री और तत्कालीन न्यायिक कार्यवाहियों के आधार पर यह विद्रोह समूचे वर्तमान महाराष्ट्र, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु और केरल में भी व्याप्त था। 1857 का विद्रोह न केवल उत्तर भारत में अपितु दक्षिण भारत में भी दूर तक फैला। यहां तक कि गोवा और पांडिचेरी भी इससे प्रभावित हुए बिना न रहे।

महाराष्ट्र में लगभग 20 स्थानों पर भारतीय सैनिकों और स्थानीय व्यक्तियों ने इसकी क्रांति को प्रज्ज्वलित किया। महाराष्ट्र में इसका प्रारंभ रंगा बापूजी गुप्ते ने किया, जो 1840 में सतारा के पूर्व राजा प्रताप सिंह के वकील के रूप में इंग्लैंड गया था और 14 वर्ष के पश्चात निराश लौटा। उसने वापस आकर अंग्रेज़ों के विरुद्ध सतारा, कोल्हापुर, बेलगांव और धारवाड़ में सेना में आम व्यक्ति भर्ती करना प्रारंभ किया। 10 जून, 1857 को सतारा में और 13 जुलाई को पंढरपुर में विद्रोह किया गया। सरकार ने कंपनी के शासन को उलटने का आरोप लगाया। अनेक लोग गिरफ्तार किए गए। उसे भी समुद्र पार निष्कासन की सज़ा दी गई। इसी संदर्भ में मानसिंह राजपूत को 20 जून, 1857 को खुलेआम फांसी की सज़ा दी गई, जिसने मरते समय कहा था 'अब अंग्रेज़ों का प्रभुत्व कम हो चुका है। हिंदू और मुसलमानों की संतानो उठो, भारतीय इतिहास के इस मोड़ पर केवल दर्शनार्थी मत बनो।' पेशवाओं की पूर्व राजधानी पूना



रंगा बापूजी गुप्ते

में भी विद्रोह के कई प्रयास हुए। नाना साहेब का वहां के निवासियों से निरंतर पत्र-व्यवहार होता रहा। 22 मई, 1857 को नगर की जामा मस्जिद में अंग्रेज़ों के विरुद्ध दिल्ली में भारतीय सैनिकों की विजय के लिए दुआएं की गईं। नाना साहेब के घोषणा-पत्र की प्रतिलिपि (मराठी भाषा में) महाविद्यालय और वाचनालय पूना के समीप चिपकाई गई। कोल्हापुर में 12 व 13 जून, 23 जून, 2 अगस्त को सैनिक विद्रोह हुए। 2 अगस्त को 27 वीं पैदल सैनिक पल्टन के व्यक्तियों ने रत्नागिरी के रास्ते में तीन यूरोपीय अफ़सरों को मार दिया। 18 अगस्त को कोल्हापुर के पैदल सैनिकों को निःशस्त्र कर दिया गया। बंबई की फ़ौजी पल्टनों में भी विद्रोह की तैयारी हुई और विद्रोह की तिथि 30 अगस्त तय की गई, जो बाद में 15 अक्टूबर कर दी गई। योजना के प्रमुख सैयद हुसैन व मंगल को पकड़कर सरेआम तोप से उड़ा दिया गया। इसी भांति नासिक, रत्नागिरी और बीजापुर में भी घटनाएं हुईं।

हैदराबाद, राजमहेंद्री, कुरनूल, गंटूर, कडप्पा और विशाखापट्टनम से नैलोर तक की समुद्र-पट्टी विद्रोह का प्रमुख क्षेत्र रहा। हैदराबाद के सोनाजी पंत ने एक पत्र रंगाराव पांगे के द्वारा नाना साहेब को भेजा था। परिणामस्वरूप 18 अप्रैल, 1858 को उनका घोषणा-पत्र और संदेश समूचे दक्षिण भारत में भेजा गया। यह घोषणा-पत्र देशमुखों, पटेलों, कुलकर्णियों, सिपाहियों, अफ़सरों और आम जनता के लिए था, जिसमें विद्रोह के लिए आह्वान था। सोनाजी पंत की मृत्यु हो जाने से *रंगाराव पांगे* ने स्थान-स्थान पर घूमकर विद्रोही भावना जगाई। अप्रैल 1859 में उन्हें गिरफ्तार कर अंडमान निर्वासित कर दिया गया। गंजम में राधाकृष्ण दंडसेन ने संघर्ष किया, जिन्हें फांसी की सज़ा हुई। विजय नगर और बंगलौर में किसानों के व्रिदोह हुए। अगस्त 1857 में विशाखापट्टनम की दीवारों पर ब्रिटिश सरकार के खिलाफ तेलुगु भाषा में पर्चे लगाए गए। चिंताभूपति और उसके भतीजे संन्यासी भूपति ने 1858 में गोलकुंडा क्षेत्र में विद्रोह किया। राजमहेंद्री में 11 क्रांतिकारियों को ब्रिटिश सरकार के खिलाफ षड्यंत्र में गिरफ्तार किया गया। यह विद्रोह मछलीपट्टम और गंटूर तक फैला।

कर्नाटक में मैसूर, कारवाड़, धारवाड़, जमाखिंडी, बीजापुर, शोरापुर, नर्गुण्ड, कोप्पल, सतारा और बेलगांव प्रमुख क्षेत्र रहे। मुख्य विरोध ब्रिटिश शिक्षा और धार्मिक नीति से प्रारंभ हुआ। बंगलौर में 1855 में नार्मल स्कूल खोला गया। मैसूर की 1858-59 की प्रशासकीय रिपोर्ट से पता चलता है कि वहां के लोगों ने उसे धर्म के लिए खतरे का स्रोत समझा। अनेक राजद्रोहात्मक पत्र निकाले गए। जून 1857 में रामचंद्र राव व दक्षिण के अन्य नेताओं ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध प्रचार किया। जुलाई में बंगलौर स्थित मद्रास सेना की 8वीं घुड़सवार सेना ने और अगस्त में बेलगांव में 20वीं पैदल सेना की पल्टन ने विद्रोह कर दिया। शोरापुर के राजा ने नाना साहेब को विद्रोह के लिए

संदेश भेजे। बाद में कारवाड़ में डिंगी पहाड़ियों के डिंगरोली जंगल में भारतीय और ब्रिटिश सेना में मुठभेड़ हुई। कई विद्रोहियों राघोबा फड़नवीस, शांता राम फड़नवीस और सिद्दि बेनोवे को जंजीरों में जकड़कर जंगल में फांसी दे दी गई।

तमिलनाडु में मद्रास, चिंगलपुट, उत्तरी अरकाट, सेलम, तंजौर, मदुरई, कोयंबटूर और तिरुनेलवेली विद्रोह के प्रमुख केंद्र रहे। दक्कन के विद्रोह का एक मुख्य केंद्र मद्रास रहा। जून 1857 में प्रथम मद्रास सैनिक पल्टन ने कूच करने से इनकार कर दिया।

जुलाई 1857 से मद्रास के निकट दक्षिण में चिंगलपुट विद्रोहियों का मुख्य केंद्र था। दो हिंदू मंदिर मनिपकम व पल्लवरम गुप्त कार्यवाहियों के केंद्र बने। अरनागिरि व कृष्णा, ज्योतिषियों के वेष में दो प्रमुख क्रांतिकारी नेता थे। जुलाई 1857 में दिल्ली के बादशाह बहादुर शाह के परिवार के सुल्तान बख्श भी इसमें जुड़ गए थे। 27 जुलाई, 1857 की रात्रि को चिंगलपुट में 500-600 व्यक्ति इकट्ठे हुए। इसके बाद ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह प्रारंभ कर दिए गए। नज़दीक के टेलीग्राम के खंभों के तार काट दिए गए। विद्रोह आसपास फैला। परंतु इस विद्रोह को कठोरता से दबा दिया गया। सैयद हामुद जलाल जो चिंगलपुट न्यायालय में मुंशी था, उसे भी बगावत में सहयोगी पाया गया।

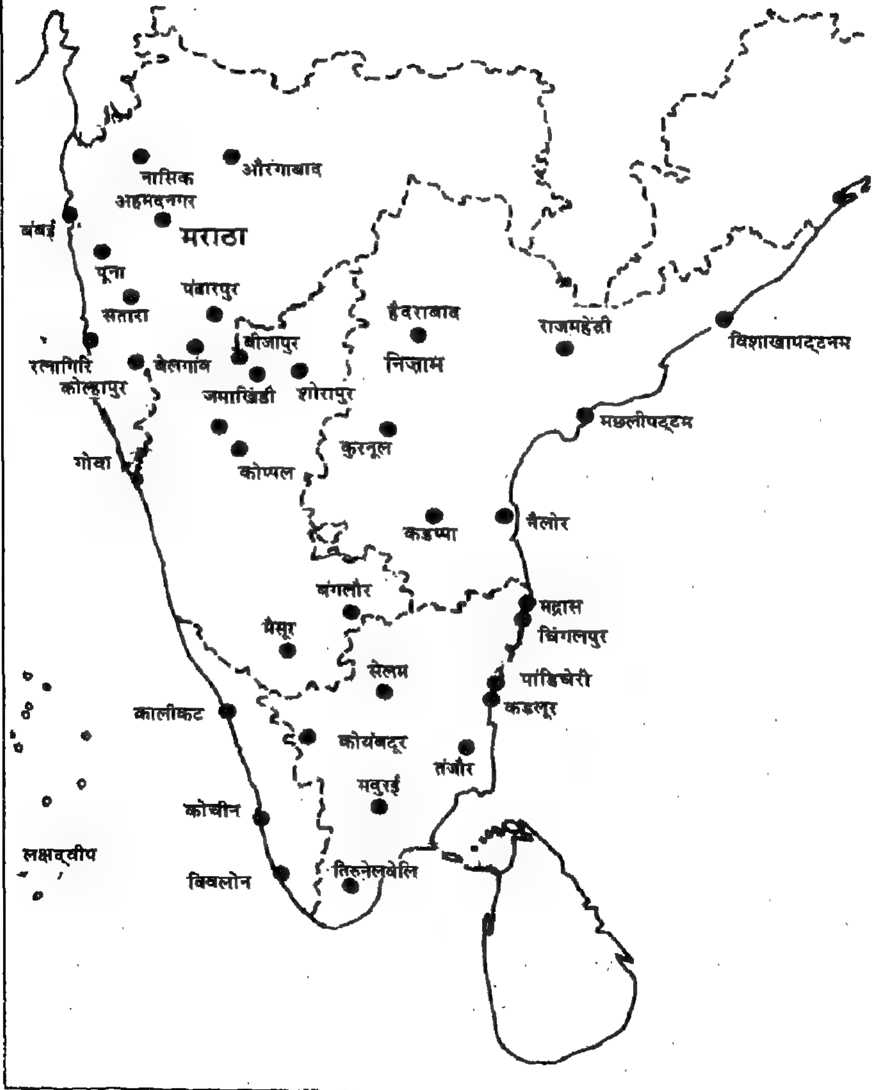
फ़रवरी 1858 में गुलाम गौस और शेख मन्नू ने ब्रिटिश विद्रोही कार्यवाही जारी रखी, वे गिरफ्तार कर लिए गए और उन्हें देश-निकाले की सजा दी गई।

उत्तरी अरकाट में सैयद कुशा ने मुंगानूर और वेल्लोर के जमींदारों से अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष की बात की, उसे गिरफ्तार कर लिया गया। जुलाई में नरसिंहदास, दामोदरदास और निर्गुणदास नाम से तीन बंगाली साधु वेश में गिरफ्तार किए गए। कडलोर में स्वतंत्रता की भावना और विद्रोह फैलाने वालों में सईद, शेख इमाम और मदुस्वामी गिरफ्तार किए गए। तंजौर में इसी भांति शेख इब्राहीम को मार्च 1858 में गिरफ्तार किया गया। वेल्लौर में नवंबर 1858 में कुछ सिपाहियों ने विद्रोह किया। कैप्टन हार्ट और जेलर स्टफर्ड को मार दिया गया। एक सिपाही को मृत्युदंड दिया गया। अगस्त 1857 में सेलम में एक भारी भीड़ ने बगावत की घोषणा की, जिसमें अधिकतर जुलाहे थे। सितंबर 1857 में सेलम में पुनः बेचैनी हुई। एक व्यक्ति कुंदास्वामी मुदाली ने यूरोपीय कर्मचारियों की हत्या कर दी। मदुरई में अनेक संदिग्ध व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया।

भारत के सुदूर दक्कन का क्षेत्र केरल भी इस विद्रोह की चिंगारियों से दूर नहीं रहा। किणलोन, कोचीन, कालीकट इसके प्रमुख स्थान थे। स्वतंत्रता संग्राम के संदेशवाहक जुलाई 1857 में नागोर व तंजौर से कोचीन पहुंचे, पर वे शीघ्र गिरफ्तार कर लिए गए। मालाबार में भी कुछ व्यक्ति राजद्रोह के आरोप में पकड़े गए। अगस्त में मालाबार से 10वें स्थानीय पैदल सैन्य दल के बंबई के नाम राजद्रोहात्मक पत्रों को पकड़ा गया। सितंबर 1857 में बानाजी कुदरत कुंजी मामा को उत्तेजक भाषा बोलने के कारण तेलीचैरी में गिरफ्तार कर आठ वर्ष का कारावास दिया गया। इसी भांति कुनी मोई को भी पकड़ा गया। केरल में बाद में विशेषकर त्रावणकोर में अन्य विद्रोह हुए, जिसमें सैनिक और स्थानीय नागरिकों ने मिलकर अनाज की दुकानों को खोलने के लिए मजबूर किया। इसमें 20 फ़ौजी गिरफ्तार किए गए। ये संघर्ष 1859 तक चलते रहे।

इन संघर्षों से पुर्तगालियों द्वारा कब्ज़ा किया गया गोवा, दमन, दीव और फ्रांसीसी पांडिचेरी भी अछूता न रहा। गोवा में दीपूजी राणा ने संघर्ष किया जो बाद में गिरफ्तार कर लिया गया। पांडिचेरी में फ्रांसीसी गवर्नर डुस्ट-डी उवराए ने ब्रिटिश मद्रास सरकार के गवर्नर हेरिस से यूरोपियों की रक्षार्थ विद्रोह से बचने के लिए शस्त्रों की प्रार्थना की। 29जून, 1857 को ब्रिटिश सरकार के आदेश से 200-300 फ़ौजी बंदूकें, 100-150 हथगोले, कारतूसों के बक्से, कुछ तलवारें और टोपियां भेजी गईं।

दक्षिण भारत में 1857 के विद्रोह के प्रमुख केंद्र



1857 का विद्रोह दक्षिण के विभिन्न स्थानों में व्याप्त था। इसमें नाना साहेब की विशेष भूमिका रही और उन्होंने 18 अप्रैल, 1858 में दक्कन के लिए एक घोषणा-पत्र भी भेजा। दक्कन के राज्यों के असंतुष्ट प्रमुखों, ज़मींदारों, स्थानीय सरदारों ने इस विद्रोह में भाग लिया। सैनिकों की संख्या यद्यपि उत्तरी भारत से कम थी, परंतु तुलनात्मक दृष्टि से कम न थी। उदाहरणतः 1857-58 के दौरान हुए सैनिकों के कोर्ट मार्शल अभियोग की संख्या बंगाल में 1954, बंबई में 1213 और मद्रास में 1044 थी। इस महान संघर्ष में सैकड़ों व्यक्ति शहीद हुए, हज़ारों को निर्वासित किया गया और बड़ी संख्या में व्यक्ति बंदी बनाए गए।

स्थानीय विद्रोही नेताओं में प्रसिद्ध सतारा के रंगा बापूजी गुप्ते, हैदराबाद के सोनाजी पंडित, रंगाराव पांगे, मौलवी सैयद अलाउद्दीन, कर्नाटक के भीमराव मुंडर्गी, छोटा सिंह, कोल्हापुर के अण्णाजी फड़नवीस, तात्या मोतिते, मद्रास के गुलाम गौस और सुल्तान बख्श, चिंगलपुट के अरणागिरि और कृष्णा, कोयंबटूर के मुलबागल स्वामी, केरल के विजय कुदारत कुंजी मामा और मुल्ला सली कोनजी मरकार थे। इस विद्रोह में महाराष्ट्र के पहाड़ी और जंगल में रहने वाले भीलों, कोली और गोंड, कर्नाटक में बेदर, आंध्र में कोया और सवारा ने भाग लिया था।

संक्षेप में यह विद्रोह राष्ट्रव्यापी था और इसमें सभी क्षेत्रीय, भाषाई, धार्मिक और जातीय संप्रदायों और वर्गों ने भाग लिया था।

विद्रोह की असफलता के कारण

1857 का विद्रोह यद्यपि समूचे भारत में फैला, परंतु संपूर्ण भारत की जनसंख्या और क्षेत्र को यह विद्रोह आंदोलित न कर सका। साढ़े पांच सौ से भी अधिक रियासतों में से कुछ गिने-चुने राजाओं ने इस विद्रोह में भाग लिया। इसके विपरीत लॉर्ड कैनिंग ने कहा कि ये शासक 'तूफान को रोकने में बांध' की तरह साबित हुए। पंजाब का अधिकतर भू-भाग, राजपूताना, कश्मीर शांत रहे। हैदराबाद के निज़ाम, कश्मीर का राजा गुलाब सिंह, पटियाला, नाभा और जींद के सिक्ख शासक, इंदौर के होल्कर, ग्वालियर के सिंधिया, भोपाल का नवाब, टीकागढ़ और टेहरी के राजाओं ने अपने पद तथा राज्य को बनाए रखने के लिए इस विद्रोह को दबाने में अंग्रेज़ों की मदद की। ग्वालियर के मंत्री सर दिनकर राव और हैदराबाद के मंत्री सालार जंग की राजभक्ति की बड़ी प्रशंसा की गई। 'लंदन टाइम्स' के विशेष प्रतिनिधि सर विलियम डब्ल्यू.एच. रसेल ने, जो विद्रोह के समय भारत में थे, लिखा –

'यदि समस्त भारतवासी उत्साह और हिम्मत से अंग्रेज़ों के विरुद्ध मिल जाते, तो वे शीघ्र पूरी तरह से नष्ट हो जाते। यदि पटियाला और जींद के राजा हमारे मित्र न होते और यदि सिख हमारी सेनाओं में भर्ती न होते और पंजाब में शांति न बनी रहती तो दिल्ली पर हमारा अधिकार करना असंभव होता।'

बड़े ज़मींदारों, साहूकारों और व्यापारियों ने भी सामान्यतः तत्कालीन कंपनी के शासन को समर्थन दिया। अंग्रेजी पढ़ा-लिखा शिक्षित वर्ग भी इस संघर्ष में तटस्थ रहा। अतः संपूर्ण देश के लोगों का मिल-जुलकर प्रयास न करना इसकी असफलता का कारण रहा।

विद्रोह यद्यपि विस्तृत था, परंतु उसके उद्देश्य सीमित थे। यह विद्रोह अंग्रेज़ों को देश से बाहर खदेड़ने के लिए किया गया, परंतु अंग्रेज़ों के जाने के बाद भारतीय शासन का क्या स्वरूप होगा, इसकी पूरी तस्वीर क्रांतिकारियों के सम्मुख न थी। विनायक दामोदर सावरकर ने लिखा है, 'यदि लोगों के सम्मुख सुस्पष्ट रूप से एक नया आदर्श रखा गया होता, जो इतना मोहक होता कि उनके हृदय को आकृष्ट कर सकता तो क्रांति का विकास और अंत भी उतना ही महान और सफलतापूर्ण होता जितना कि उसका प्रारंभ... जहां तक विध्वंसात्मक पक्ष का संबंध है, विद्रोह को सफल तरीके से चलाया गया, किंतु जब

सृजन का समय उपस्थित हुआ तो उदासीनता, पारस्परिक भय और अविश्वास का उदय हो गया। अतः भावी उद्देश्य स्पष्ट न होने के कारण वे पुनः आपसी झगड़ों में लग गए।'

विद्रोह की असफलता के कई प्रमुख कारणों में से एक था श्रेष्ठ और देशव्यापी नेतृत्व की कमी। मुगल सम्राट बहादुर शाह एक वृद्ध, निराशापूर्ण और दुर्बल व्यक्ति था। वास्तव में उसे ज़बरदस्ती भारत का सम्राट घोषित किया गया था। रानी ज़ीनत महल और उसके बेटों ने दुश्मन के साथ मिलकर उसे कमज़ोर कर दिया था। नाना साहेब, तांत्या टोपे, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, कुंवरसिंह, बख्त खान और अज़ीमुल्ला खां—क्रांति के नेता यद्यपि अपने इरादों के पक्के थे, परंतु उनका नेतृत्व न तो अखिल भारतीय स्तर का ही था और न ही उनमें परस्पर तालमेल था। इसके विपरीत वे एक-दूसरे को संदेह और अविश्वास की दृष्टि से देखते थे। स्वामी विवेकानंद ने 1857 के इस विद्रोह की असफलता का कारण नेताओं की उदासीनता माना है।

सैनिक दृष्टि से भारतीय सैनिकों ने देशभक्ति, धार्मिक जोश और निःस्वार्थ भावना से विद्रोह किया था, परंतु उनमें अनुशासन का सर्वथा अभाव, सैनिक संगठन की कमी, आधुनिक शस्त्रों की कमी और योग्य सेनापतियों का अभाव था। भारतीय सेनाएं बर्छी, तीर, कमान, गंड़ासे और तलवारों से लड़ रही थीं, जबकि अंग्रेज़ सेना नवीनतम बंदूकों और राइफ़लों से लैस थी। अंग्रेज़ों के पास प्रभावकारी तोपखाना था। इसके साथ उनके पास विनाशकारी समुद्री शक्ति भी थी। ब्रिटिश शासकों के पास भारतीय विद्रोह को दबाने के लिए सभी सामरिक सुविधाएं प्राप्त थीं।

1857 के विद्रोह की एक बड़ी कमज़ोरी इसका निश्चित समय से पूर्व प्रारंभ हो जाना था। भारतीय सैनिकों में जोश तो था, परंतु होश की कमी थी। जी.बी. मालेसन ने अपनी पुस्तक 'इंडियन म्यूटनी' में लिखा—'यदि पूर्व निश्चय के अनुसार, एक तारीख को सारे भारत में स्वाधीनता का युद्ध शुरू होता तो भारत में एक भी अंग्रेज़ जीवित न बचता।'

अंग्रेज़ों के सौभाग्य से विश्व की परिस्थितियां भी शीघ्र ही उनके अनुकूल हो गई थीं। क्रीमिया के युद्ध में रूस को पराजित किया जा चुका था। चीन भी प्रसिद्ध अफ़ीम युद्ध में हार गया था। समुद्री मार्ग पर भी अंग्रेज़ों का प्रभाव था। 1,12,000 सैनिक यूरोप के भिन्न-भिन्न स्थानों से भारत भेजे गए। 3,10,000 सैनिकों की अतिरिक्त भारतीय सेना का यहां पर ही गठन किया गया। क्रांतिकारियों को इस प्रकार की सहायता की कोई संभावना न थी। लॉर्ड डलहौज़ी की रेल, तार और डाक की व्यवस्था क्रांति को दबाने में बहुत उपयोगी रही। अंग्रेज़ों के लिए यातायात की बड़ी सुविधा हो गई थी। विद्रोह के समाचार नर्मदा के पार न पहुंचने पाएं, इसकी व्यवस्था की गई थी। जी. टी. रोड पर कड़ा नियंत्रण रखा गया था। सितंबर के मध्य में अचानक दिल्ली पर अंग्रेज़ों का प्रभुत्व होना भी क्रांतिकारियों में एक निराशा का वातावरण बनाने वाला साबित हुआ। एक-एक करके सभी क्रांतिकारी पकड़ लिए गए, अनेक क्रांतिकारी फांसी पर लटका दिए गए या फिर वे किसी गुप्त स्थान को चले गए। इससे अंग्रेज़ों को मनमानी करने का अवसर मिला।

असफलता का एक और कारण लॉर्ड कैनिंग के साहस और उदार नीति को भी कहा जा सकता है। उसने बड़े धैर्य से क्रांतिकारियों पर नियंत्रण करने का प्रयत्न किया। अतः कुछ विद्वानों ने इतने अत्याचारों के बाद भी उसे 'दयालु कैनिंग' कहा है।

वास्तव में विद्रोह की विफलता का कारण भारतीयों की वीरता अथवा साहस की भावना का अभाव न होकर राष्ट्रीय एकता की भावना की कमी, नेतृत्व की कमी और परस्पर फूट थी।

1857 के विद्रोह का स्वरूप

1857 के विद्रोह के बारे में अनेक इतिहासकारों, प्रशासकों और विद्वानों ने लिखा है। इसके स्वरूप के संबंध में विद्वानों में परस्पर विरोधी मत हैं। चार्ल्स रेक्स ने अपनी पुस्तक 'नोट्स ऑन द रिवोल्ट इन द नॉर्थ-वैस्टर्न प्रोविंसिस ऑफ इंडिया' जो कि 1858 में प्रकाशित हुई थी, में इसे वस्तुतः एक सैनिक विद्रोह माना जिसने कुछ क्षेत्रों में जन-विद्रोह का रूप ले लिया। इसी विचार का समर्थन किशोरी चंद्र मित्र, शंभु चंद्र मुखोपाध्याय, हरीश चंद्र मुखर्जी और सर सैयद अहमद खां ने भी किया, जिन्होंने इस विद्रोह को एक सैनिक विद्रोह कहा।

तत्कालीन अंग्रेज़ों ने सामान्यतः इसे मुसलमानों का कृत्य बतलाया। रॉबर्ट्स, श्रीमती कूपलैंड ने इसे मुस्लिम विद्रोह कहा। न केवल यूरोपीय बल्कि कुछ मुसलमानों ने भी इस तथ्य को माना है कि वे इस विद्रोह में वरिष्ठ सहयोगी थे। जी. बी. मालेसन और टेलर ने भी इस विचार का समर्थन करते हुए कहा है कि यह दो समुदायों – हिंदुओं और मुसलमानों का संयुक्त प्रयास था।

कुछ इतिहासकारों ने इसे और व्यापक रूप देने का प्रयत्न किया। सर जे. केयी ने जो उस समय कंपनी के राजनीति और गुप्त विभाग के सचिव थे और जिन्होंने 1857 के संघर्ष पर तीन भागों में 2000 पृष्ठ का ग्रंथ लिखा है, इसे श्वेतों के विरुद्ध काले लोगों का संघर्ष कहा है। एल.ई.आर. रीज ने इसे धर्मांधों का ईसाइयों के विरुद्ध युद्ध कहा। टेलबोएस व्हीलर ने इस विद्रोह को एशियाई स्वभाव का परिचायक बतलाया। टी.आर. होम्ज़ ने इसे और विस्तृत कर सभ्यता और बर्बरता के बीच संघर्ष कहा। यह सभी निष्कर्ष भावनात्मक हैं और तथ्यों पर आधारित नहीं हैं। इन्हें ब्रिटिश अथवा यूरोपीय जनमत का समर्थन प्राप्त करने का प्रयास मात्र कहा जा सकता है।

कैंब्रिज के एक सुप्रसिद्ध ब्रिटिश इतिहासकार पर्सिवल स्पीयर ने इसे प्राचीन पुरातनवादी भारत का अंतिम प्रयास बतलाया है। उसके अनुसार, यह पुराने रजवाड़ों द्वारा पूर्व स्थापित ज़मींदार परिवारों का प्रयास मात्र था।

जॉन ब्रूस नॉर्टन ने अपनी पुस्तक 'टॉपिक्स फॉर इंडियन स्टेट्समैन' में इसे मात्र सैनिकों का विद्रोह नहीं, बल्कि जन-विद्रोह माना है। बहुत से अंग्रेज़ी लेखकों, जैसे–डफ, मालेसन, केयी और चार्ल्स बॉल ने भी इस मत का समर्थन किया और 1857 के विद्रोह को अंग्रेज़ों को भारत से बाहर निकालने का एक सामूहिक अभियान कहा। डॉ. एस. बी. चौधरी का कथन है कि विभिन्न स्थानों पर जनता ने पहले विद्रोह किया और बाद में सेना ने। डिज़रेली ने इस विद्रोह के वास्तविक रूप की पहचान की और यह घोषणा की कि यह एक 'राष्ट्रीय विद्रोह' था, न कि सैनिक विद्रोह। आज अधिकांश भारतीय इसे जनता का विद्रोह मानते हैं और कभी-कभी तो वे इससे आगे बढ़ते हुए यह कहते हैं कि यह भारत का प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम था।

सर्वप्रथम विनायक दामोदर सावरकर ने इस विद्रोह को राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए आयोजित युद्ध कहा। पट्टाभि सीतारमैया के अनुसार भी 1857 का महान आंदोलन भारत का पहला स्वतंत्रता-संग्राम था। अशोक मेहता ने भी अपनी पुस्तक 'द ग्रेट रिबेलियन' में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यह एक राष्ट्रीय विद्रोह था। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भी लिखा है कि यह केवल विद्रोह नहीं था, यद्यपि इसका विस्फोट सैनिक विद्रोह के रूप में हुआ था, क्योंकि यह विद्रोह शीघ्र ही जन-विद्रोह के रूप में परिणित हो गया था। बैंजमिन डिज़रेली ने भी ब्रिटिश संसद में इसे एक राष्ट्रीय विद्रोह कहा था। सुरेंद्रनाथ सेन लिखते हैं कि, 'युद्ध धर्म के नाम पर प्रारंभ हुआ था, स्वातंत्र्य युद्ध में जाकर समाप्त हुआ, क्योंकि इस बात में कोई संदेह नहीं कि विद्रोही विदेशी शासन से मुक्ति चाहते थे और वे पुनः पुरातन शासन व्यवस्था

स्थापित करने के इच्छुक थे, जिसका प्रतिनिधित्व दिल्ली का बादशाह करता था।'

जिन विद्वानों ने इसे स्वतंत्रता-संग्राम माना है, उन्होंने अपने मत के समर्थन में तर्क दिया है कि इस संग्राम में हिंदू और मुसलमानों ने कंधे-से-कंधा मिलाकर समान रूप से भाग लिया और इन्हें जनसाधारण की सहानुभूति प्राप्त थी। अत: इसे केवल सैनिक विद्रोह या सामंतवादी प्रतिक्रिया अथवा मुस्लिम षड्यंत्र नहीं कहा जा सकता। सैनिकों ने विद्रोह आरंभ अवश्य किया था और अंत तक वे ही लड़ते रहे, किंतु उनके साथ लाखों अन्य लोगों ने भी भाग लिया। इस कथन को प्रमाणित करने के लिए कहा जाता है कि विद्रोह काल में मरने वालों में जनसाधारण की संख्या अधिक थी। सामंतों या सैनिकों ने तो केवल अपने स्वार्थों से प्रेरित होकर विद्रोह में भाग लिया था, जबकि जनसाधारण का तो एक ही स्वार्थ था – विदेशियों को भारत से खदेड़ना। अनेक स्थानों पर तो जनता ने ही सैनिकों को विद्रोह के लिए प्रोत्साहित किया तथा जिन लोगों ने या नरेशों ने अंग्रेज़ों का पक्ष लिया, उनका सामाजिक बहिष्कार किया गया।

विद्रोह के स्वरूप के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें समझनी होंगी। किसी भी क्रांति का स्वरूप केवल उस क्रांति के आरंभ करने वालों के लक्ष्यों से निर्धारित नहीं हो सकता, बल्कि इससे निर्धारित होता है कि उस क्रांति ने अपनी क्या छाप छोड़ी।

अत: 1857 के विद्रोह का स्वरूप निर्धारित करते समय हमें यह देखना होगा कि इस संघर्ष में भाग लेने वालों का दृष्टिकोण क्या था। इसमें कोई संदेह नहीं कि वे अंग्रेज़ों को काफ़िर और फिरंगी कहते थे। सारे देश में अंग्रेज़ विरोधी भावनाएं थीं। सभी विद्रोहियों तथा जनसाधारण का एक ही लक्ष्य था – अंग्रेज़ों को भारत से निकालना। अंग्रेज़ों के विरुद्ध सर्वव्यापी रोष था। यदि हम तत्कालीन साहित्य पर दृष्टि डालें तो स्पष्ट हो जाता है कि उस समय का साहित्य भी अंग्रेज़ विरोधी भावना प्रदर्शित करता है। जिन लोगों ने विद्रोह में भाग लिया अथवा विद्रोहकारियों को शरण एवं सहायता दी, उनकी प्रशंसा में गीतों की रचना की गई। जिन्होंने अंग्रेज़ों का साथ दिया, उन्हें कायर कहा गया।

जनता की इन भावनाओं को राष्ट्रीय न कहा जाए तो और क्या कहा जा सकता है? भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में क्या देश की समस्त 40 करोड़ जनता ने भाग लिया था? क्या उस समय भी कोई अंग्रेज़भक्त नहीं था? ये सभी बातें तो भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में भी मिलती हैं, किंतु मूल बात तो यह है कि 1857 के संघर्ष में नि:संदेह जनभावना अंग्रेज़ों के विरुद्ध थी। विद्रोहियों को संगठित करने वाला एकमात्र तत्त्व विदेशी शासन को समाप्त करने की भावना थी। अत: इस बात में कोई संदेह नहीं कि 1857 का विद्रोह विदेशी शासन को समाप्त करने के लिए हुआ था।

1857 के विद्रोह के संपूर्ण घटनाचक्र को देखते हुए यह विदित होता है कि यह भारतीयों का एक ब्रिटिश विरोधी देशभक्तिपूर्ण परंतु असंगठित स्वतंत्रता का प्रयास था। इस विद्रोह के दूरगामी परिणामों को भी ओझल नहीं किया जा सकता। 1857 के विद्रोह के बाद भी उसका भय सदैव अंग्रेज़ी शासन को सताता रहा।

यह उल्लेखनीय है कि मुसाई सिंह (जन्म 1836, उत्तर प्रदेश, मिर्ज़ापुर ज़िले के कोउ तहसील के एक परगने के राज्य भदोही का विद्रोही) 1857 के गदर के लिए दंडित अंडमान स्थित व्यक्तियों में अंतिम जीवित व्यक्ति था, जिसे 50 वर्षों के बाद मई 1907 में मुक्त किया गया।

अशोक मेहता ने लिखा है–'यह समाज रूपी ज्वालामुखी पर्वत का ऐसा विस्फोट था, जिसमें से बहुत-सी शक्तियों को निकलने का श्रेय प्राप्त हुआ। इस ज्वालामुखी के फटने के पश्चात संपूर्ण सामाजिक

COPY OF TELEGRAM

तार की प्रति

जे. & पी.
1381
1907

प्रेषक

वायसराय

1319/07

दिनांक शिमला प्रथम मई 1907

लन्दन कार्यालय में 2.16 सांय प्राप्त हुआ

व्यक्तिगत........ मुसाई सिंह के अन्डमान से छोड़े जाने के सम्बन्ध में।

.... वह अन्डमान के गदर अपराधियों में से अन्तिम जीवित व्यक्ति है। गदर की 50वीं वर्षगांठ पर उसकी मुक्ति बहुत ही उचित समय होगा।

मुसाई सिंह की रिहाई का तार

दृश्य बदल चुका था। विद्रोह के चिह्न गंभीर रूप से चमकते रहे।'

1857 की घटनाएं भारतीयों के मस्तिष्क में निरंतर कौंधती रहीं। उन्होंने उसकी स्मृतियों को निरंतर जागृत रखा। वह दीपक की लौ की भांति वीरता और देशभक्ति का पथ आलोकित करती रही। आगामी वर्षों में भारत के देशभक्त एवं क्रांतिकारी 1857 के सेनानियों को कभी न भूले। इसका प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ कि इससे भारतीय राजनीति में राष्ट्रवाद का जन्म व विकास हुआ। 1857 के विद्रोह ने राष्ट्रीय जागरण को बढ़ाया।

अभ्यास प्रश्न

1. 1857 में भारतीय सिपाहियों के विद्रोह के क्या कारण थे ?
2. 1857 के विद्रोह की प्रमुख घटनाओं का वर्णन कीजिए।
3. 1857 के विद्रोह में विदेशी शासन के खिलाफ असंतोष किस सीमा तक उत्तरदायी था ? क्या इसे भारतीय स्वतंत्रता का प्रथम युद्ध कह सकते हैं ?
4. 1857 के विद्रोह की असफलता के कारणों का वर्णन कीजिए।
5. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए –
   (क) चर्बीयुक्त कारतूस
   (ख) विलय नीति

परियोजना कार्य

- भारत के मानचित्र पर 1857 के विद्रोह के मुख्य केंद्र दिखाइए।

5
अध्याय

1857 के बाद

1857 का विद्रोह भारतीय इतिहास की एक युग परिवर्तनकारी घटना थी। यह एक युग की समाप्ति और एक नए युग का प्रारंभ था। इसके द्वारा शासकीय ढांचों में आधारभूत परिवर्तन हुए। संवैधानिक दृष्टि से मुगल साम्राज्य हमेशा के लिए समाप्त हो गया। भारत में एक शताब्दी से शासन करने वाली ईस्ट इंडिया कंपनी की भी समाप्ति हो गई। भारत में इंग्लैंड की महारानी विक्टोरिया यानी ब्रिटिश क्राउन का सीधा शासन स्थापित हो गया। शीघ्र ही यह परिवर्तन 1858 में बेहतर सरकार चलाने के लिए एक अधिनियम और महारानी विक्टोरिया की घोषणा से प्रकट हुआ।

महारानी विक्टोरिया की घोषणा और ईस्ट इंडिया कंपनी की समाप्ति

महारानी विक्टोरिया की घोषणा ने शासक और शासितों के संबंधों को एक नवीन मोड़ दिया। 1 नवंबर, 1858 को यह शाही घोषणा भारत के प्रत्येक ज़िला मुख्यालय पर पढ़कर सुनाई गई। कुछ लोगों ने इसे एक महान अधिकार-पत्र के रूप में लिया। सामान्यतः सभी ने इसका स्वागत किया।

महारानी विक्टोरिया की इस घोषणा के पीछे मुख्यतः चार उद्देश्य थे। प्रथम, भारतीय जनता को यह बताना कि अब ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन समाप्त हो गया है और इंग्लैंड का सीधा शासन प्रारंभ हो गया है। इस घोषणा के माध्यम से इंग्लैंड की सरकार अपने शासन के सिद्धांतों का स्पष्टीकरण करना चाहती थी। इसके द्वारा भारतीय जनता को कुछ आश्वासन दिए गए, जिनका उद्देश्य भारतीय जनता के प्रति सद्भावना, सहिष्णुता और समानता के भाव प्रकट करना था।

महारानी विक्टोरिया की घोषणा के द्वारा 1858 के अधिनियम को व्यावहारिक रूप प्रदान किया गया। लॉर्ड कैनिंग की भारत में पुनर्नियुक्ति की गई और उसे शासन का सर्वोच्च अधिकारी बनाया गया। अब उसे गवर्नर जनरल के साथ-साथ वायसराय भी कहा जाने लगा। साथ ही ईस्ट इंडिया कंपनी के तमाम नागरिक और सैनिक अधिकारियों की नियुक्ति को पहले की भांति मान्यता दे दी गई। महारानी विक्टोरिया

की घोषणा भारतीय रियासतों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थी। ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ हुई संधियों, समझौतों को स्वीकार कर लिया गया।

दूसरे, ब्रिटिश शासन काल में क्षेत्रीय विस्तार न करने का आश्वासन दिया गया। ब्रिटिश सरकार ने रियासतों के अधिकारों, सम्मानों व पदों के प्रति अपनी आस्था प्रकट की। अनेक राजाओं को विभिन्न उपाधियां दी गईं। इसके अलावा गोद लेने की प्रथा को स्वीकार किया गया। अंग्रेज़ों की इस नीति ने भारतीय रियासतों में अंग्रेज़ों के लिए आधार का काम किया। इस घोषणा ने भारतीय जनता पर भी बड़ा असर किया। अब धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की बात कही गई, सभी के साथ समान व्यवहार करने का आश्वासन दिया गया और समान ऊंचे पदों पर योग्यता को आधार माना गया।

तीसरे, प्राचीन परंपराओं के प्रति सम्मान और संरक्षण का आश्वासन दिया गया। हिंसात्मक कार्यों में लगे अपराधियों को छोड़कर सबको क्षमादान करने की घोषणा की गई। जनहित कार्यों को प्रोत्साहन देने का भी आश्वासन दिया गया।

उपरोक्त सभी आश्वासनों के आधार पर लगा कि कंपनी की अपराधपूर्ण शताब्दी समाप्त हो गई। सैद्धांतिक रूप से यह घोषणा महत्त्वपूर्ण थी, पर व्यावहारिक दृष्टि से यह केवल शब्दों का चमत्कार मात्र था। इससे भारतीय जनजीवन को उन्नत करने में कोई लाभ न हुआ, बल्कि व्यवहार में सरकार की नीति आक्रामक, हिंसात्मक, तर्क विरोधी, पक्षपातपूर्ण और सतत हस्तक्षेप की चलती रही। परंतु इस घोषणा ने भारतीय राजाओं को अत्यधिक प्रभावित किया। उन्होंने इस घोषणा से बड़ी राहत महसूस की। साथ ही इस घोषणा से शासकीय दबदबा भी बढ़ा। ईस्ट इंडिया कंपनी शासन की समाप्ति की दृष्टि से इसके महत्त्व को स्पष्ट करते हुए एक भारतीय लेखक ने लिखा है –

'क्रांति को समाप्त करने का जितना श्रेय अंग्रेज अफसरों या सैनिकों को दिया जा सकता है, यदि उससे अधिक नहीं तो उसके समान ही श्रेय विक्टोरिया के घोषणा-पत्र को भी देना पड़ेगा।'

सेना का पुनर्गठन

1857 के विद्रोह के दमन के साथ ही ब्रिटिश शासन को जिसकी सर्वाधिक आवश्यकता महसूस हुई वह थी सेना का पुनर्गठन। बंगाल सेना के 1,28,000 में से 1,20,000 सैनिक मर गए या घायल हो गए थे। केवल 11 ऐसी रेजीमेंट थीं, जिन्होंने बगावत नहीं की थी। लेकिन पुनर्गठन से पूर्व ही अंग्रेज़ों को एक और बगावत का सामना करना पड़ा, जिसे 'श्वेत विद्रोह' कहा जाता है। इसमें भारतीय सेना के यूरोपीय सैनिकों ने भाग लिया। इनके असंतोष का मुख्य कारण यह था कि बिना उनकी इच्छा के उनकी सेनाओं को ईस्ट इंडिया कंपनी से हटाकर सीधे ब्रिटिश शासन को सौंप दिया गया था। अत: श्वेत सैनिकों ने विद्रोह और प्रदर्शन किए। परिणामत: लॉर्ड कैनिंग ने लगभग 10,000 यूरोपीय सैनिकों को सेवामुक्त कर दिया। श्वेत सैनिकों द्वारा उत्पन्न इस अशांति ने भी लॉर्ड कैनिंग का ध्यान सेना के पुनर्गठन की ओर शीघ्रता से दिलाया।

ब्रिटिश सरकार के सैनिकों के पुनर्गठन के नवीन आधार थे – प्रथम, यूरोपीय सैनिकों की एक विशेष अनुपात में भर्ती की जाए। दूसरे, कुछ महत्त्वपूर्ण स्थान ब्रिटिश सैनिकों के लिए सुरक्षित रखे जाएं। तीसरे, विभिन्न जातियों और वर्गों के सैनिकों को मिलाकर रखा जाए, ताकि वे आपस में लड़ते रहें और उनमें एकता की भावना पैदा न हो। भारत मंत्री वुड का मत था कि 'भारत में ऐसी सेना होनी चाहिए जो वास्तव में भारतीय न हो।' चौथे, सेना का भारतीय जनता के साथ संपर्क न रखा जाए और भारतीय समाचार-पत्र भी सैनिकों तक कम-से-कम पहुंचें। पांचवें, जहां तक संभव हो, तोपखाने में भारतीयों को स्थान न दिया जाए। छठे, यूरोपीय सैनिकों की अधिक भर्ती की जाए।

उपरोक्त सैनिक नीति के आधार पर लॉर्ड कैनिंग ने सेना का पुनर्गठन किया। प्रथम, सेना में भारतीयों के मुकाबले यूरोपियों का भाग बढ़ा दिया गया। बंगाल की सेना में अब यह अनुपात एक और दो का तथा मद्रास और बंबई की सेनाओं में दो और पांच का था। 1861 में इस दृष्टि से कटौती की गई। भारत में ब्रिटिश सेना की संख्या 65,000 और भारतीय सैनिकों की संख्या 1,40,000 कर दी गई। दूसरे, तोपखाने पर पूर्णतः यूरोपीय सैनिकों का नियंत्रण कर दिया गया। तीसरे, 1857 से पूर्व स्थानीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए यूरोपीय सैनिकों की नियुक्ति की जाती थी। यह एक विवादास्पद विषय था। 1860 में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने एक कानून द्वारा यह तय किया कि भविष्य में स्थानीय यूरोपीय सैनिकों को भर्ती नहीं किया जाएगा। इस समय तक जो भी ऐसे सैनिक थे, उन्हें शेष सेना के साथ मिला दिया गया। चौथे, कुछ राजभक्त रेजीमेंटों को छोड़कर बंगाल सेना को समाप्त कर दिया गया। पांचवें, सैनिक पुलिस समाप्त कर दी गई। इस प्रकार से लॉर्ड कैनिंग ने सैनिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए।

भारतीय विधान परिषद् अधिनियम (1861)

1858 के अधिनियम के द्वारा भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का सीधा शासन स्थापित हो गया, लेकिन भारत की आंतरिक शासन व्यवस्था लगभग उसी प्रकार की थी। साथ ही केंद्रीय विधान परिषद् में भी अनेक प्रकार के दोष थे, न उसका संगठन ही संतोषजनक था और न ही उसकी शक्तियां निश्चित थीं। सभी महत्त्वपूर्ण समस्याएं केंद्रीय विधान परिषद् में विचार के लिए रखी जाती थीं। ब्रिटिश सरकार और गवर्नर जनरल के बीच पत्र-व्यवहार भी बहुत बढ़ गया था। 1857 के विद्रोह के बाद यह महसूस होने लगा था कि केंद्रीय विधान परिषद् में भारतीयों को स्थान दिया जाए। सर सैयद अहमद खां ने यह कहा था–'भारतीय विधान परिषद् में यदि एक भी भारतीय होता तो इतनी गलतियां न होतीं।' कई महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर जैसे आयकर पर, भारत की केंद्रीय सरकार और प्रांतीय सरकारों में भी कटुता पैदा हो गई थी। साथ ही केंद्रीय विधान परिषद् में कोई भी गैर-कानूनी सदस्य न था और जो भी सदस्य थे, उन्हें प्रायः भारतीय समस्याओं की जानकारी न थी।

अतः इन सभी कारणों को ध्यान में रखते हुए 1861 में भारतीय विधान परिषद् अधिनियम बनाया गया। इसमें गवर्नर जनरल की कार्यपालिका परिषद् में एक और सदस्य बढ़ा दिया गया, जो विधि वृत्ति का व्यक्ति होना था। अतः सदस्यों की संख्या अब पांच हो गई। दूसरे, कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए विभागीय प्रणाली शुरू की गई। तीसरे, विधि निर्माण के लिए अतिरिक्त सदस्यों की संख्या कम-से-कम 6 और अधिक-से-अधिक 12 कर दी गई। चौथे, ये सदस्य केवल कानूनी मामलों में ही अपने विचार व्यक्त कर सकते थे। इन्हें कार्यपालिका के कार्य में हस्तक्षेप का अधिकार न था। साथ ही प्रशासन अथवा वित्त संबधी अधिकार भी नहीं थे। इस संबंध में गवर्नर जनरल को अनेक अधिकार दिए गए थे। पांचवें, प्रांतों में भी अतिरिक्त सदस्यों की 4 से 8 तक संख्या निश्चित की गई। छठे, प्रांतीय और केंद्रीय विषय में किसी प्रकार का भेदभाव न रखा गया।

अतः उपरोक्त अधिनियम, 1858 के पश्चात का एक महत्त्वपूर्ण संवैधानिक अधिनियम था। वास्तव में इसे आधुनिक काल में भारतीय इतिहास में प्रतिनिधित्व प्रणाली का प्रारंभ कहा जा सकता है। इसके दूरगामी परिणाम हुए। इससे देश में लोगों को विधि निर्माण में स्थान दिया जाने लगा। इसने बंबई और मद्रास की सरकारों को कानून बनाने के संबंध में अधिकार प्रदान किए। इसने विधान परिषद् के क्षेत्र में विकेंद्रीयकरण की नीति की आधारशिला रखी, जिसके परिणामस्वरूप 1937 में प्रांतों में आंतरिक स्वायत्तता प्राप्त हो सकी।

भारतीय रियासतों के प्रति पुरस्कार और दंड की नीति

1857 के संघर्ष में अनेक भारतीय रियासतों ने अंग्रेज़ों का साथ दिया था। लॉर्ड कैनिंग ने इन रियासतों के प्रति कृतज्ञता प्रकट की थी। उसने कहा था – 'इन्होंने तूफ़ान के आगे बांध की तरह काम किया। वरना यह तूफ़ान एक ही लहर में हमें बहा ले जाता।' यह सर्वविदित है कि ग्वालियर, हैदराबाद, नाभा और जींद के शासकों ने पूरी तरह से अंग्रेज़ों की मदद की थी। ब्रिटिश सरकार इस अवस्था को कायम रखना चाहती थी। अतः उन्होंने राज्य हड़पने की पूर्व नीति में परिवर्तन किया। ब्रिटिश सरकार ने उन्हें अपने एक हितैषी के रूप में खड़ा किया।

उपरोक्त परस्पर सहयोग और मैत्री का भाव महारानी विक्टोरिया की घोषणा में देखा जा सकता है, जिसका संक्षिप्त वर्णन अन्यत्र किया गया है। महारानी विक्टोरिया की घोषणा में उन्हें तरह-तरह के आश्वासन दिए गए। सामान्यतः वफ़ादार राजाओं, नवाबों, ज़मींदारों को पुरस्कृत करने और विद्रोहियों को सज़ा देने की नीति अपनाई गई। हैदराबाद के निज़ाम, ग्वालियर के सिंधिया, भोपाल के शासक, नेपाल के राणा को सम्मानित किया गया। पटियाला, नाभा, जींद और कपूरथला के शासकों को अति विश्वसनीय बताया गया। इन्हें भूमि, सनद, उपाधियां, तलवारें और अन्य भेंटें प्रदान की गईं। पटियाला के महाराजा नरेंद्रसिंह की अत्यधिक वफ़ादारी के लिए बहुत सम्मान दिया गया। गोद लेने की प्रथा की पुनः स्वीकृति दी गई। पं. जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है – 'अवध के उन ताल्लुकदारों को, जिन्होंने अंग्रेज़ों का साथ दिया था, शीघ्र ही ब्रिटिश साम्राज्य के चहेते पुत्र बना दिया गया। अनेक राजाओं को 'सर' की उपाधि दी गई।'

इसी भांति विद्रोही राजाओं को कड़ी यातनाएं और सज़ा दी गई। उदाहरण के लिए हरियाणा क्षेत्र में तीन छोटी-छोटी रियासतों पटौदी, दुजाना और लोहारु को छोड़कर जिन्होंने अंग्रेज़ों का साथ दिया था, सभी महत्त्वपूर्ण रियासतें दादू, फर्रुखनगर, वल्लभगढ़, बुढ़िया और कलसिया हड़प कर ली गईं। अवध को 1877 में आगरा प्रेसीडेंसी में मिलाकर उत्तर पश्चिम प्रांतों का भाग और बाद में यूनाइटेड प्रोविंसिस ऑफ आगरा व अवध का भाग बना दिया। जिन विद्रोहियों ने विद्रोहों में बढ़-चढ़कर भाग लिया था, उनको फांसी अथवा अन्य कठोर दंड दिए गए।

वस्तुतः भारतीय रियासतों के प्रति अंग्रेज़ों की नीति ब्रिटिश साम्राज्य की नीति के एक अंग के रूप में रही। आगामी भारत के गवर्नर जनरलों अथवा वायसरायों ने अपने-अपने ढंग से रियासतों के प्रति नीति स्पष्ट की, परंतु सभी ने ब्रिटिश शासन की सर्वोच्चता को प्रमुखता दी थी। देखने में ब्रिटिश शासन ने भूमिगत विस्तार, विलय और विजय की नीति त्याग दी थी, परंतु उन्हें कुशासन के नाम पर दंडित किया जाता रहा। इस भांति भारतीय रियासतों का अपना स्वतंत्र स्वरूप, शक्ति और स्थान जाता रहा। ब्रिटिश क्राउन समूचे भारत की रियासतों के सर्वोच्च स्वामी बन गया। वे उत्तराधिकार के प्रश्न को हल करने के लिए शासकों पर गवर्नर जनरल, पालिटिकल डिपार्टमेंट, रेज़ीडेंट और एजेंट के रूप में नियंत्रण करने लगे। वे समय-समय पर आंतरिक मामलों में भी हस्तक्षेप करते और अपना दबदबा बनाए रखते थे। वे अंग्रेज़ रियासतों के उत्तराधिकारियों को चुनने, मंत्रियों को नियुक्त करने, हटाने में भी रुचि लेते थे। उनकी नवीन नीति थी कि राजाओं को कुप्रशासन के लिए दंडित तो किया जाए, परंतु प्रदेश विलय न किए जाएं। उदाहरण के तौर पर 1874 में बड़ौदा के मल्हार राव गायकवाड़ पर कुशासन और अंग्रेज़ों के रेज़ीडेंट को ज़हर देने का आरोप लगाया गया और उस पर एक बनावटी मुकद्दमा चलाया गया। परिणामस्वरूप राजा को गद्दी से हटा दिया गया और गायकवाड़ का एक अन्य वंशज सिंहासन पर बैठा दिया गया।

1876 में ब्रिटिश संसद ने एक महत्त्वपूर्ण अधिनियम 'रायल टाइटल्स' पास किया। इससे महारानी विक्टोरिया को भारत में समस्त ब्रिटिश प्रदेश और भारतीय रियासतों सहित भारत की 'सम्राज्ञी' की उपाधि से विभूषित किया गया। अंग्रेज़ी साम्राज्य की शक्ति का प्रदर्शन करने और भारतीय राजाओं में राजभक्ति बढ़ाने के लिए भारत में शानदार शाही दरबार लगाने की प्रथा भी शुरू की गई।

'बांटो और राज करो' की नीति

1857 के विद्रोह में पहली बार हिंदू-मुसलमानों ने कंधे-से-कंधा मिलाकर भाग लिया। अंग्रेज़ सरकार इस बढ़ते संबंध से सतर्क और परेशान हुई और उसने अलगाव की नीति को बढ़ाने की ओर विशेष ध्यान दिया। 1857 के संघर्ष के पश्चात प्रारंभ में अंग्रेज़ों ने मुसलमानों के प्रति घृणा की नीति अपनाई। दिल्ली की जामा मस्जिद और फतेहपुरी मस्जिद मुसलमानों की नमाज़ के लिए बंद कर दी गईं, जिसे बाद में नमाज़ के लिए खोला गया। सर अल्फ्रेड लायल के अनुसार 'ब्रिटिश मुसलमानों को अपना दुश्मन मानने लगे थे।' ब्रिटिश शासन के आ जाने से अनेक मुसलमान, राजनीतिक व आर्थिक लाभ के पदों से वंचित हो गए। सेना, प्रशासनिक सेवाओं और राजदरबार में उनका वर्चस्व समाप्त हो गया।

प्रारंभ में मुसलमानों के प्रति अंग्रेज़ों का व्यवहार संदेह और दमन का रहा। भारत के पूर्व गवर्नर जनरल लॉर्ड एलनबरो ने इस संदर्भ में अपने विचार व्यक्त किए थे, जिसमें लिखा था– 'मैं इस विश्वास से आंखें नहीं मूंद सकता कि यह कौम (मुस्लिम) मूलतः हमारी दुश्मन है और इसलिए हमारी सच्ची नीति हिंदुओं से मित्रता की है।' 'बांटो और राज करो' की साम्राज्यवादी नीति भारत में अंग्रेज़ों की राजनीति का आधार बन गई थी। अतः अंग्रेज़ों ने इन दोनों प्रमुख समुदायों को बांटे रखने को अपना आधार बनाया। वस्तुतः 'बांटो और राज करो' की नीति लंदन के इंडिया आफ़िस से लेकर कलकत्ता और दिल्ली के वायसराय भवनों तक और नीचे भारत के प्रत्येक ज़िले में ज़िलाधिकारियों की नीति बन गई थी।

वर्नाकुलर प्रेस का दमन

भारत के राष्ट्रीय जागरण में भारतीय समाचार-पत्रों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। यद्यपि भारतीय समाचार-पत्र कुछ लोगों ने पहले भी शुरू किए थे, परंतु राजा राममोहन राय को भारतीय पत्रकारिता का अग्रदूत कहा जाता है। 1821 में उन्होंने बंगाली साप्ताहिक 'संवाद कौमुदी' और 1822 में फ़ारसी में 'मिरात-उल-अखबार' प्रारंभ किए। पत्रों के साथ-साथ ब्रिटिश शासन के विरुद्ध प्रेस की स्वतंत्रता की लड़ाई भी प्रारंभ हो गई थी। भविष्य में कंपनी के शासन के भय से 1823 में अनुज्ञप्ति नियम पारित किया गया, परंतु कंपनी के काल में समाचार-पत्रों की संख्या निरंतर बढ़ती गई।

1857 के विद्रोह में इन समाचार-पत्रों ने सक्रिय भूमिका निभाई थी। इन्होंने अंग्रेज़ों के अत्याचारों का वर्णन किया था और उसका विरोध करने की प्रेरणा दी थी। इसमें अनेक प्रसिद्ध अखबार 'सुल्तान-उल-अखबार', 'सादिक-उल-अखबार', 'तिलस्मे-लखनऊ', 'सराजुल अखबार', 'दिल्ली उर्दू अखबार' और 'अखबार-उल-ज़फर' उल्लेखनीय हैं। लॉर्ड कैनिंग ने 1857 में स्वीकार किया 'मुझे संदेह है कि इस बात को लोग अच्छी तरह समझते और जानते हैं या नहीं कि भारत देश की जनता के हृदय में प्रेस ने किस खतरनाक हद तक राजद्रोह का विष फैलाया है। स्पष्ट है कि इसमें देशी पत्रों का हाथ है।' वस्तुतः देशी पत्रों ने, खासकर उर्दू और फ़ारसी अखबारों ने ब्रिटिश विरोधी भावनाओं को जगाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। अतः सरकार ने देशी समाचार-पत्रों के दमन की नीति अपनाई। 1857 के पश्चात 1867 के पंजीकरण अधिनियम के अंतर्गत मेटकाफ़ द्वारा प्रेस संबंधी स्वतंत्रता नष्ट कर दी गई थी।

इस संदर्भ में 1878 में सर्वाधिक दमनकारी नियम लॉर्ड लिटन का वर्नाकुलर प्रेस अधिनियम (The Vernacular Press Act, 1878) पारित हुआ। लॉर्ड लिटन के काल में 600 अखबार प्रचलित थे, जिनमें अधिकतर देशी भाषाओं के थे। इन समाचार-पत्रों से ब्रिटिश नौकरशाही के कान खड़े हुए और भावी कठिनाइयों को देखते हुए उसने इस संबंध में एक नियम बनाया। वास्तव में इस नियम बनाने के पीछे कुछ ऐसे कारण थे, जिन्हें दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। भारत में ब्रिटिश शासन इस देश का विभिन्न ढंग से आर्थिक शोषण कर रहा था।

प्रथम आर्थिक निष्कासन के द्वारा भारत उत्तरोत्तर कंगाल हो रहा था, जबकि ब्रिटिश साम्राज्य की आर्थिक समृद्धि निरंतर बढ़ रही थी। दूसरे, लॉर्ड लिटन ने ब्रिटिश साम्राज्य की गरिमा और वैभव को प्रकट करने के लिए दिल्ली दरबार करने की योजना रखी थी, जिस पर व्यय होने वाली विपुल धनराशि वाले समाचार जो देशी समाचार-पत्रों में प्रकाशित हो रहे थे, जनाक्रोश को बढ़ा रहे थे। तीसरे, लॉर्ड लिटन ने अपने युग में हुए अकाल के बारे में ढुलमुल नीति अपनाई थी। चौथे, लॉर्ड लिटन के भारतीय हथियार नियम की चर्चा भारतीय समाचार-पत्रों में ज़ोर-शोर से हुई थी। अतः इनसे अंग्रेज़ सरकार भयभीत हो गई थी।

22अक्टूबर, 1877 की एक टिप्पणी में लॉर्ड लिटन ने वर्नाकुलर समाचार-पत्रों के प्रति अपने विचार व्यक्त किए। वह उन समाचारों के विरुद्ध एक सुरक्षा वाल्व चाहता था। अनेक सरकारी अधिकारियों ने भी इन पत्रों के प्रतिरोध में अपनी भावनाएं स्पष्ट कीं। लिटन को लगता था कि तत्कालीन प्रेस संबंधी कानून पर्याप्त नहीं हैं। उनकी इच्छा थी कि आयरलैंड में बने कानून के आधार पर भारत में प्रेस अधिनियम बने। 14मार्च, 1878 को गवर्नर जनरल की कौंसिल में वर्नाकुलर प्रेस बिल रखा गया। किसी भी प्रकार के आंदोलन या उत्तेजना से बचने के लिए यह बिल सभी औपचारिकताएं पूरी करते हुए एक ही बैठक में पारित कर दिया गया।

इस अधिनियम के द्वारा स्थानीय सरकारों की आज्ञा से मजिस्ट्रेटों को यह अधिकार दिए गए कि वे किसी भी प्रकार की कटुता या सरकार के प्रति घृणा की भावना पैदा करने वाले प्रकाशक या छापने वाले से सुरक्षा धनराशि या एक शर्तनामा भरने को कहे। दूसरे, यदि कोई देशी समाचार-पत्र इस अधिनियम की कार्यवाही से बचना चाहे तो उसे अपने पत्र की ईक्ष्य प्रति (Proof) सरकारी सेंसर (Censor) को पहले से देनी होगी। तीसरे, मजिस्ट्रेट के निर्णय के विरुद्ध कोई अपील भी नहीं की जा सकती थी। चौथे, स्थानीय सरकारें किसी भी वर्नाकुलर समाचार-पत्र को चेतावनी दे सकती थीं और उन पर नियंत्रण रखकर उनकी सुरक्षा धनराशि हड़प सकती थीं। पांचवें, यह अधिनियम केवल वर्नाकुलर पत्रों पर ही लागू होना था, अंग्रेज़ी समाचार-पत्रों को इसकी परिधि से मुक्त रखा गया।

स्वाभाविक रूप से वर्नाकुलर प्रेस अधिनियम का भारत के प्रत्येक क्षेत्र में तीव्र विरोध हुआ। विभिन्न संस्थाओं जैसे बंबई एसोसिएशन, पूना सार्वजनिक सभा और कलकत्ता मिशनरी कांफ्रेंस द्वारा उसका प्रबल विरोध हुआ। इसे 'गला घोंटने वाला कानून' कहा गया। अनेक समाचार-पत्रों को बंद कर दिया गया। 'अमृत बाज़ार पत्रिका' जैसा पत्र जो पहले बंगाली में प्रकाशित होता था, अब अंग्रेज़ी में प्रकाशित होने लगा। इससे परस्पर कटुता और विरोध की भावना बढ़ी। इसका सबसे बड़ा परिणाम यह हुआ कि देश में राजनीतिक चेतना आई। भारत में प्रथम बार आधुनिक रूप से विरोध के ढंग अपनाए गए, जैसे– जन-प्रदर्शन, जन-सभाएं, हस्ताक्षर अभियान, विरोधी समितियों का गठन, स्मृति-पत्र देना और समाचार-पत्रों

में लेख देना। इस संबंध में एक भारतीय इतिहासकार ने लिखा 'समाचार-पत्र अधिनियम के द्वारा भारत ने विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता खो दी... इसके बदले में उसने राजनीतिक और राष्ट्रीय एकता प्राप्त की, जो किसी भी स्तर पर एक महान उपलब्धि थी– एक ऐसी उपलब्धि जिसने विदेशी शासन के विरोध और उसकी सफलता में राष्ट्रीय आंदोलन का मार्ग प्रशस्त किया।'

प्रेस के संदर्भ में अंग्रेज़ों की दमनकारी नीति 20वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में निरंतर चलती रही।

अंग्रेज़ों की नस्लीय भेदभाव की नीति

1857 के विद्रोह के पश्चात भी अंग्रेज़ों में जातीय उच्चता की भावना और अहंकार एवं भारतीयों के प्रति घृणा, तिरस्कार और अलगाव की भावना बढ़ी। ब्रिटिश नौकरशाही अवसर आने पर भारतीयों को नीचा दिखाने से न चूकती थी। भारतीयों को अब भी निम्न समझा जाता था। अब भी भारतीय यूरोपीय क्लबों, होटलों, पार्कों, स्नानगृहों में नहीं जा सकते थे।

अंग्रेज़ों ने गोरी चमड़ी की श्रेष्ठता का ढकोसला बनाए रखा। वे यूरोपियों के अलावा समस्त एशियावासियों को अपने से निम्न समझते थे। भारतीयों को भी असभ्य और असंस्कृत एवं जंगली मानते थे। 'नेटिव' शब्द का प्रयोग केवल गैर-यूरोपीय और मुख्यतः एशियावासियों के लिए किया जाता था। नस्लीय श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिए वे शारीरिक अंगों की श्रेष्ठता के सिद्धांत को भी बघारते थे, वे गोरे लोगों का भारतीयों पर स्वाभाविक रूप से अधिकार का सिद्धांत भी प्रचलित करते थे। वे इसे 'व्हाइट मेंस बर्डन' की संज्ञा देते थे।

निष्कर्ष रूप से समय-समय पर भारतीयों को इस अपमानजनक स्थिति का मुकाबला करना पड़ता था। शासक और शासित के संबंधों में भारी दरार पैदा हो गई थी। अंग्रेज़ों ने भारतीयों से सामाजिक दृष्टि से मिलना-जुलना बहुत कम कर दिया और उससे पारस्परिक द्वेष और घृणा बढ़ी। भारतीय भी अंग्रेज़ों की क्रूर करतूतों, अत्याचारों और निर्मम हत्याओं को नहीं भूले। रसेल ने, जो उस समय 'लंदन टाइम्स' के पत्रकार के रूप में 1858-59 तक भारत यात्रा पर था, अपनी डायरी में लिखा 'विद्रोह से दो जातियों के बीच घृणा और दुर्भावना पैदा हुई।' पत्र में एक कार्टून में भारतीयों को एक अर्धपशु के रूप में चित्रित किया गया, जिसमें वह आधा गोरिल्ला और आधा नीग्रो दिखाया गया है और लिखा है कि इसे बल-प्रयोग के द्वारा ही नियंत्रित रखा जा सकता है।

प्रतियोगी परीक्षाएं

1857 के पश्चात ब्रिटिश नागरिक सेवाओं को भारतीयों के लिए और अधिक कठोर बनाया गया। यद्यपि 1853 से ही नागरिक सेवाओं में भर्ती होने के लिए प्रतियोगी परीक्षाएं आरंभ हो गई थीं, परंतु 1857 तक किसी भी भारतीय की ऊंचे पद पर नियुक्ति न हुई थी। 1858 के नियम में पुनः प्रतियोगिता का समर्थन किया गया, परंतु 1860 के नियम में खुली प्रतियोगिता की आयु घटाकर 23 वर्ष के स्थान पर 22 वर्ष कर दी गई थी और चुने हुए छात्रों के एक वर्ष इंग्लैंड में प्रोबेशन पर रहने की बात कही गई थी। 1866 में यह आयु पुनः घटाकर 21 वर्ष कर दी गई और इंग्लैंड में प्रोबेशन दो वर्ष का कर दिया गया।

प्रतियोगी परीक्षाएं किसी भी भारतीय के लिए बड़ी कठिन थीं। इतनी छोटी आयु में यह व्यवस्था बड़ी खर्चीली और सामाजिक रीतियों के विपरीत थी। परीक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी था। अतः प्रारंभ में भारतीयों को कोई सफलता न मिली। 1860 में आठ स्थानों के लिए 154 प्रतियोगी थे, जबकि 1865 में 52 स्थानों के लिए 284 प्रतियोगी थे और 1870 में 42 स्थानों के लिए 325 प्रतियोगी थे। इस प्रतियोगिता में पहले सफल प्रतियोगी 1864 में सत्येंद्रनाथ टैगोर थे। इसी भांति 1869 में तीन भारतीय सुरेंद्रनाथ बैनर्जी, बिहारी लाल गुप्ता व रमेश चंद्र दत्त सफल हुए थे। 1870 में

सात भारतीय छात्रों में से केवल एक को सफलता मिली थी। 1862 से 1875 तक इस प्रतियोगिता परीक्षा में केवल 50 भारतीय छात्रों ने परीक्षा दी, जिसमें केवल 10 सफल हुए। सामान्यत: इन चुने हुए भारतीयों के प्रति ब्रिटिश अधिकारियों का रुख सख्त और असंतोषजनक रहा। वे भारतीयों को ऊंचे पदों पर देखकर प्रसन्न न थे। उनका मत था कि जो भी अभी तक चुने गए हैं, उन्हें कुछ मुआवज़ा देकर सेवामुक्त कर दिया जाए।

सैद्धांतिक रूप से भारतीय प्रशासन में भारतीयों को सेवाओं में स्थान देने की बात बहुत पहले से समय-समय पर कही गई थी। परंतु यथार्थ में उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान न दिए गए। 1870 में ब्रिटिश पार्लियामेंट के एक अधिनियम में कहा गया कि इन पदों पर कम-से-कम 20 प्रतिशत भारतीय प्रतियोगिता के बिना भी नियुक्त होने चाहिएं, परंतु व्यवहार में कुछ नहीं किया गया। इसी भाँति 1874 में एक नियम बना, जिसके अंतर्गत कहा गया कि अधीनस्थ नागरिक सेवाओं में योग्य व्यक्तियों को उन्नति देकर उच्च अनुबद्ध (कावनेंटेड) सेवा में जाने का मौका दिया जाए, जो अभी तक केवल यूरोपियों का ही एकाधिकार था। परंतु 1875 तक इस नियम के अंतर्गत किसी भारतीय को नियुक्त न किया गया। वास्तव में अंग्रेज़ों की नीति भारतीयों को उच्च स्थान न देने की थी। उनकी नीति थी – प्रथम, महत्त्वपूर्ण पदों पर बड़ी मात्रा में केवल ब्रिटिश अधिकारी ही नियुक्त हों। दूसरे, भारतीयों को साधारणत: न्यायिक सेवाओं के लिए ही उच्च स्थान दिए जाएं। तीसरे, यह भी आवश्यक नहीं कि उच्च भारतीय अधिकारियों को भी इंग्लैंड से आने वाले अंग्रेज़ों के समान भत्ता दिया जाए।

स्वाभाविक रूप से अंग्रेज़ों की इस नीति की तीव्र प्रतिक्रिया हुई। दादाभाई नौरोजी ने इसे न केवल भारत की आर्थिक हानि बतलाया, बल्कि भारतीय योग्यता और अनुभव का भी नुकसान बतलाया। रमेश चंद्र दत्त जैसे प्रमुख व्यक्ति ने इसकी आलोचना की।

1877 में भारतीयों को उचित स्थान देने की बजाए खुली प्रतियोगिता में बैठने की आयु पुन: घटाकर 21 वर्ष के स्थान पर 19 वर्ष कर दी गई। इसका सीधा अर्थ था कि वे भारतीयों को जानबूझकर नागरिक सेवाओं से वंचित रखना चाहते थे।

1879 में वैधानिक नागरिक सेवा (Statutory Civil Service) की योजना रखी गई। इसमें भारतीयों की नियुक्ति प्रतियोगिता के स्थान पर छंटनी के द्वारा होती थी, जो भारत में स्थानीय सरकारों द्वारा छांटे जाते थे, लेकिन उनकी स्वीकृति भारत मंत्री से होती थी। इसमें यह निश्चित किया गया कि इस तरह की नियुक्तियों की संख्या कावनेंटेड सेवाओं में एक साल में हुई नियुक्तियों का 1/6 से ज़्यादा नहीं होनी चाहिए। इसमें छांटे गए लोगों को वेतन तो कम दिया जाता था, लेकिन स्थान की दृष्टि से वे कावनेंटेड नागरिक सेवा के समान होते थे। कुछ सदस्य अनकावनेंटेड नागरिक सेवा में भी लिए जाते थे। इस नीति के अंतर्गत संपूर्ण देश से 45 व्यक्तियों की नियुक्ति की गई, जो विभिन्न स्थानीय सरकारों द्वारा नामज़द किए गए। साधारणत: नामज़द लोग उच्च परिवारों के और राजभक्त होते थे।

सरकारी नौकरी के क्षेत्र में इस भेदभाव की नीति का यह परिणाम हुआ कि भारतीयों के उच्च सेवा के लिए अवसर कम ही रहे। निम्न पदों में भारतीयों के प्रति भेदभाव की नीति चलती रही। आगे भी अंग्रेज़ों की यह नीति चलती रही। परंतु इसका एक लाभ अवश्य हुआ। इसने भारतीयों में जागृति पैदा की और इसी के लिए श्री सुरेंद्रनाथ बैनर्जी के नेतृत्व में एक देशव्यापी आंदोलन हुआ।

यूरोपीय संवैधानिक तरीकों का प्रवेश

1757 से 1857 तक भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन था, परंतु 1857 के विद्रोह के पश्चात सीधे

ब्रिटिश शासन का भारत में राज्य स्थापित हो गया। अब कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स का स्थान भारत कौंसिल के 15 सदस्यों ने ले लिया। अतः शासन का केंद्र सीधे ब्रिटिश पार्लियामेंट, भारत मंत्री और उसकी कौंसिल के हाथों में आ गया। साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। ब्रिटिश सरकार ने भारतीय रीति-रिवाजों, विविधताओं, प्रवृत्तियों, आकांक्षाओं, प्रकृति, स्थानीय समस्याओं को उपेक्षित कर ब्रिटिश ढंग की पद्धतियों को मनमाने ढंग से लागू किया। 'बांटो और राज करो', जातीय भेदभाव, कठोर और पक्षपातपूर्ण कानून प्रणाली, अलगाव और टकराव की नीति, आर्थिक विषमताओं, सामाजिक उपेक्षाओं और कटुताओं पर बल दिया। अब हिंदू और मुसलमानों में परस्पर कटुता बढ़ाना, सेना और उच्च सेवाओं में भेदभाव स्थापित करना उनकी नीति का आधार बन गए।

कंपनी के काल में भारत में बहुराष्ट्र की बात कही गई थी, परंतु अब भारत कोई राष्ट्र भी है, इसको भी मानने से इनकार कर दिया गया। भारतीय रियासतों में सर्वोच्चता के सिद्धांत को प्रमुखता देते हुए उनका सहयोग प्राप्त करना और अंग्रेजी पढ़े-लिखे वर्ग को महत्त्व देने की नीति अपनाई गई।

अपनी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए भारत में अंग्रेज़ों ने 1861 के इंडिया कौंसिल ऐक्ट से प्रारंभ कर 1892, 1909, 1919 और 1935 में समय-समय पर अनेक संवैधानिक कानून बनाए। सभी संवैधानिक प्रक्रियाओं में अंग्रेज़ों ने भारत में लोकतंत्र की स्थापना और भारत को एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाने की बात कही।

तत्कालीन दस्तावेज़ों और महत्त्वपूर्ण ब्रिटिश प्रशासकों के पत्र-व्यवहार से ब्रिटिश मनोवृत्ति का पता चलता है। उन्हें लगता था कि भारत में ब्रिटिश संसदीय प्रणाली लागू करने के बहुआयामी और गंभीर परिणाम हो सकते थे। भारत के संदर्भ में यह प्रणाली विघटनकारी, कठिन और अंग्रेज़ी साम्राज्य के लिए घातक लगती थी। भारत स्थित ब्रिटिश अधिकारियों का कहना था कि उन्होंने भारत को तलवार के बल पर जीता था और उसी के बल पर वे राज कर सकते हैं, परंतु ब्रिटिश युवा और भारत के अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतीयों का दबाव भी उन पर काम कर रहा था। बाद में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण शासन का मूल स्वरूप अधिनायकवादी होते हुए भी उसका बाहरी स्वरूप धीमे-धीमे लोकतंत्र की ओर बढ़ता हुआ बनाया गया।

अतः संक्षेप में ब्रिटिश संवैधानिक पद्धति ब्रिटिश साम्राज्यवादी प्रवृत्ति की परिचायक थी, उसका लोकतांत्रिक स्वरूप उसकी मजबूरी थी। वह न विशुद्ध ब्रिटिश संसदीय प्रणाली पर आधारित थी और न ही भारतीय जनजीवन की भावनाओं को अभिव्यक्त करती थी। उसकी पद्धति 'बांटो और राज करो' व परस्पर वैमनस्य और अलगाव पर आधारित थी। वह समय और संयोग की उपज थी और उसके पीछे 1861-1935 तक भारत में लगभग 100 साल का अनुभव था।

दस-वर्षीय जनगणना, वंशीय और भाषावार सर्वेक्षण

भारत के वर्तमान इतिहास को वैज्ञानिक और तथ्यात्मक तरीकों से समझने में दस साला जनगणना पद्धति, समय-समय पर लिखे गए वंशीय ग्रंथ और सर्वेक्षण महत्त्वपूर्ण हैं। भाषागत सर्वेक्षण भारत के आर्थिक,

यदि विश्व के संदर्भ में देखें तो नियमित रूप से जनगणना अमेरिका में 1790 में, इंग्लैंड और फ्रांस में 1801 में, जर्मनी राज्यों में 1830 के दशक में, इटली में एकीकरण के बाद, कनाडा में 1871 में, ब्राजील में 1890 में, रूस में 1897 में, चीन में अधूरी जनगणना 1912 से और जापान में 1920 से हुई।

सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक जीवन की विशिष्ट जानकारियां देते हैं। इस संदर्भ में पाश्चात्य विद्वानों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

किसी भी देश की जनगणना से उसके आर्थिक विकास की प्रगति, सामाजिक संरचना और धार्मिक स्वरूप की जानकारी मिलती है। इससे हमें ऐसे आंकड़े प्राप्त होते हैं, जिससे वर्तमान की वस्तुस्थिति और भविष्य की योजनाएं बनाई जा सकती हैं, लोगों की अवस्था, परिवर्तन की प्रक्रिया और दिशा, जनगणना की वृद्धि, पुरुष और स्त्री अनुपात, मृत्यु और जन्म की दर, शिक्षा, स्वास्थ्य, अकाल जैसी अनेक जानकारियां मिलती हैं। इतिहास की दृष्टि से इसको बहुत महत्त्वपूर्ण स्रोत कहा जा सकता है।

भारत में यद्यपि फुटकर जनगणना 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में होती रही। प्रारंभिक दस साला जनगणना 1872 से हुई, परंतु इसमें भारत के संपूर्ण भागों का प्रतिनिधित्व न हुआ। लगभग 20 प्रतिशत भारत का भाग इससे छूट गया। 1881 से नियमित और वैज्ञानिक ढंग से जनगणना का कार्य प्रारंभ हुआ और तभी से यह क्रम निरंतर चला आ रहा है, परंतु 1881 की जनगणना में हैदराबाद और राजपूताने को नहीं जोड़ा गया। आज़ादी से पूर्व भारत की कुल जनसंख्या 1891 में 23.67 करोड़, 1901 में 23.63 करोड़, 1911 में 25.21 करोड़, 1921 में 25.14 करोड़, 1931 में 25.90 करोड़ और 1941 में 31.67 करोड़ थी। 1940 तक जनसंख्या वृद्धि की कोई समस्या न रही, परंतु इसके बाद इसकी तेज़ी से वृद्धि हुई।

दस साल की जनगणना का अध्ययन करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इसमें दिए गए आंकड़ों एवं विवरणों को पूर्णतः सत्य नहीं कहा जा सकता। इसका उपयोग सावधानी और सतर्कता से करना आवश्यक है। प्रत्येक जनगणना करते समय सरकार द्वारा कुछ नीति निदेशक तत्त्व दिए जाते हैं, जिससे तत्कालीन सरकार के उद्देश्यों और मंतव्यों का भी पता चलता है। उदाहरण के लिए 1871 में प्रत्येक व्यक्ति से जानकारी लेते हुए 16 प्रश्न किए गए। जबकि 1881 की जनगणना में केवल 12 प्रश्न थे, इसके विपरीत 1941 की जनगणना में 22 प्रश्न पूछे गए, सामान्यतः व्यक्ति से नाम, लिंग, आयु, धर्म, मातृभाषा, जन्मस्थान, शिक्षा और व्यवसाय से संबंधित प्रश्न पूछे जाते रहे हैं। आज़ादी से पूर्व के आंकड़े भारत में औपनिवेशिक सरकार द्वारा अपने हितों को ध्यान में रखकर संकलित कराए गए थे, अतः आज़ादी के बाद के आंकड़े अपेक्षाकृत ज़्यादा प्रामाणिक हैं।

जनगणना की भांति जातीय, वंशीय और भाषावार सर्वेक्षण भी भारत के सामाजिक, धार्मिक और शैक्षणिक जीवन पर प्रकाश डालते हैं। इस दृष्टि से अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण प्रयास किए हैं। अनेक वर्षों के परिश्रम के पश्चात भारत के विभिन्न भागों का सर्वेक्षण करके अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की विश्लेषणात्मक व्यवस्था की गई। इसके व्यवस्थित रूप से सर्वेक्षण की प्रक्रिया सर हर्बट रिज़ले द्वारा 'एथनोग्रेफिक सर्वे ऑफ इंडिया' के उद्घाटन से 1900 में शुरू हुई, परंतु कई महत्त्वपूर्ण रचनाएं, जैसे-आर. बी. रसेल की 'ट्राइब्स एंड कास्ट ऑफ दी सैंट्रल प्रोविंसिस ऑफ इंडिया, सर डेनिजिल इब्टसन, मैकलेगन और एच. के रोज़ की 'ए ग्लॉसरी ऑफ दी

· उदाहरण के लिए यदि हरियाणा क्षेत्र के गज़ेटियर को लें, तो 1947 तक ज्ञात होता है कि अंबाला के ज़िला गज़ेटियर 1883-1884, 1892-1893, 1904, 1912, 1923-1924 में बार-बार प्रकाशित हुए। इसी भांति हिसार का ज़िला गज़ेटियर 1883-1884, 1892, 1904, 1912, 1915, 1935 में कई बार प्रकाशित हुआ। यही क्रम देश के अन्य ज़िलों का रहा। निःसंदेह गज़ेटियर इतिहास जानने का एक प्रमुख स्रोत हैं।

ट्राईब्स एंड कास्ट ऑफ दी पंजाब एंड नार्थ-वेस्ट फ्रंटीयर प्रोविंसिस', उल्लेखनीय हैं। इस तरह के अन्य ग्रंथ भारत के विभिन्न श्रेणी के लोगों के जीवन पर प्रकाश डालते हैं। इसी भांति भाषावार क्षेत्रों का सर्वेक्षण भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें डॉ. ग्रियर्सन का 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया' उल्लेखनीय है।

गज़ेटियर

सामान्यतः गज़ेटियर को भौगोलिक जानकारी देने वाला स्रोत माना जाता है। वस्तुतः किसी भी साम्राज्य, प्रांत या ज़िले का गज़ेटियर उक्त स्थान का सूचनाकोष या इंडैक्स होता है। यह उक्त ज़िले की विस्तृत ऐतिहासिक, पुरातात्त्विक, राजनीतिक, आर्थिक, समाजशास्त्रीय, व्यापारिक और आंकड़ागत जानकारी देता है। गज़ेटियर में वहां की जनता और भूमि का विस्तृत विवरण होता है। विदेशी और निरंकुश सत्ता के कारण इसमें जनमत अथवा प्रतिनिधि संस्थाओं की जानकारी नगण्य होती है।

सामान्यतः 19वीं शताब्दी के मध्य तक इस संदर्भ में कोई गंभीर कार्य नहीं किया गया। 1869 में लॉर्ड मेयो के आदेश से डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर ने गज़ेटियर तैयार करने की विशाल योजना बनाई, जो बाद में 'इंपीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया' के रूप में सामने आई। प्रत्येक ज़िले के गज़ेटियर आवश्यकतानुसार विभिन्न वर्षों में प्रकाशित, संशोधित और परिवर्धित हुए। मुख्य रूप से 1883-1884 तक सभी प्रमुख नगरों के गज़ेटियर तैयार करने का पहला क्रम पूरा हो गया।

अभ्यास प्रश्न

1. 1858 के अधिनियम के संवैधानिक महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
2. भारत में अंग्रेज़ों द्वारा अपनाई गई 'बांटो और राज करो' की नीति के विषय में विचार प्रकट कीजिए। उनकी यह नीति भारत में अलगाववाद की प्रवृत्ति को बढ़ाने में किस प्रकार उत्तरदायी सिद्ध हुई?
3. अंग्रेज़ों को सेना के पुनर्गठन की आवश्यकता क्यों पड़ी? इसके लिए उनकी नीति क्या थी?
4. 1861 के भारतीय परिषद् अधिनियम की मुख्य धाराओं की विवेचना कीजिए। इसके गुण व दोष क्या थे?
5. 1857 के बाद भारतीय राज्यों के प्रति अंग्रेज़ों की नीति पर विचार व्यक्त कीजिए। क्या पूर्वनीति में बदलाव लाने की आवश्यकता थी?
6. भारत में अंग्रेज़ों द्वारा नस्लीय भेदभाव की नीति पर विचार प्रकट कीजिए।
7. 1878 के वर्नाकुलर प्रेस अधिनियम एवं उसके प्रभाव पर विचार व्यक्त कीजिए।
8. गज़ेटियर एवं जनगणना क्या है ? देश के इतिहास-लेखन में इसकी क्या भूमिका है?

परियोजना कार्य

- 'बांटो और राज करो' की नीति पर सामूहिक चर्चा का आयोजन कीजिए।



अध्याय

कुछ प्रमुख सशस्त्र विद्रोह

सशस्त्र विद्रोह

देश की परतंत्रता की मुक्ति के लिए सशस्त्र क्रांतिकारियों की भूमिका एक सर्जन की भांति थी, जो चीर-फाड़ यानी बम-पिस्तौल अथवा हिंसात्मक मार्ग से देश का इलाज करना चाहते थे। इनके क्रियाकलापों को किसी भी प्रकार से कम बताना देश की युवा शक्ति का अपमान होगा। कुछ अंग्रेज़ प्रशासकों और ब्रिटिश साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने इन्हें क्रांतिकारी की बजाए चोर, डाकू और हत्यारे कहकर पुकारा है, जो उचित नहीं है। वस्तुतः ये क्रांतिकारी ब्रिटिश शासकों के कुकृत्यों के विरुद्ध संघर्ष करके उन्हें भगाना चाहते थे और देश में जागृति लाना चाहते थे। ये क्रांति के माध्यम से देश को स्वतंत्र कराना चाहते थे। निश्चय ही इनकी देशभक्ति का मार्ग सर्वाधिक कठिन था। इनके पकड़े जाने पर सरकार कठोर से कठोर सज़ाएं देती, देश से निर्वासित करती अथवा मृत्युदंड देती थी। ऐसे अनेक क्रांतिकारियों ने देश के लिए फांसी के फंदे चूमकर देशभक्ति एवं त्याग का परिचय दिया।

आधुनिक भारत का इतिहास अनेक क्रांतिकारी गतिविधियों से परिपूर्ण है, जिसमें कुछ उल्लेखनीय घटनाएं अथवा व्यक्तियों के कार्य निम्नलिखित हैं-

वहाबी आंदोलन

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मुसलमानों में भी सामाजिक व राजनीतिक जागरण और नवचेतना का विकास हुआ। वहाबी आंदोलन ने ब्रिटिश सत्ता के प्रति एक महान चुनौती प्रस्तुत की। यह आंदोलन स्वभावतः पुनरुत्थानवादी व क्रियाकलापों से सामाजिक था। राजनीतिक दृष्टि से यह अंग्रेज़ों को भारत से बाहर करने के उद्देश्य से प्रेरित था। ब्रिटिश सरकार ने वहाबियों को गद्दार और विद्रोही कहा है। इसका मुख्य उद्देश्य मुसलमानों में सामाजिक बुराइयां दूर कर, इस्लाम का पुनरुत्थान और भारत के मुसलमानों में जागृति पैदा करना था। इसके द्वारा इस विश्वास को जगाया गया कि शीघ्र ही अल्लाह द्वारा एक मसीहा आएगा, जो समस्त राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक बुराइयों को दूर कर इस्लाम को शुद्ध और गौरवमय स्थिति प्रदान करेगा। इस आंदोलन के द्वारा

मुसलमानों में व्याप्त कुरीतियों की ओर ध्यान दिलाया गया और इस बात पर भी बल दिया गया कि इस्लाम धर्म में मान्य चार प्रमुख न्याय शास्त्रों में तालमेल होना चाहिए। इसी की वजह से भारतीय मुसलमान परस्पर बंटे हुए हैं। भारत में मुख्यतः इसका उद्देश्य 'दारुल हरब' (काफ़िरों का देश) को, 'दारुल इस्लाम' (मुसलमानों का देश) बनाना था। शुरू में यह आंदोलन पंजाब में सिक्खों के विरुद्ध था, लेकिन पंजाब विलय के बाद यह अंग्रेज़ों के विरुद्ध हो गया।

मूलतः यह आंदोलन अरब देश में मोहम्मद-इब्न-अबल-ए-वाहिब (1703-1787) द्वारा प्रारंभ हुआ था। यह एक धार्मिक आंदोलन था। इसका मुख्य उद्देश्य अरब में कबीलावाद को समाप्त कर इस्लाम का प्रसार करना था, परंतु रूढ़िवादी मुस्लिम जगत में इसे अधिक महत्त्व नहीं दिया गया, बल्कि इसका विरोध किया गया।

भारत में मुसलमानों में आई सामाजिक-धार्मिक गिरावट और राजनीतिक शक्ति के मुसलमानों के हाथ से निकल जाने से इस आंदोलन को प्रमुखता मिली। भारत में इसका उद्देश्य इस्लामिक-सामाजिक व्यवस्था के साथ इस्लाम राज्य की स्थापना था। शाह वली उल्लाह (1702-62) पहले भारतीय मुसलमान नेता थे, जिन्होंने मुसलमानों की दुरावस्था पर चिंता व्यक्त की थी। बाद में शाह अब्दुल अज़ीज़ और सैयद अहमद बरेलवी (1786-1831) ने इसे भारत में वहाबी आंदोलन का रूप दिया। सैयद अहमद ने इसे एक धर्मयुद्ध बतलाते हुए भारत के प्रमुख नगरों और महत्त्वपूर्ण स्थानों की यात्रा की। उसने अपनी गतिविधि का केंद्र भारत के उत्तर-पश्चिम सीमांत में सिथाना (Sithana) नामक स्थान को बनाया। उसने ढाका से पेशावर तक एक मज़बूत संगठन का ताना-बाना बुना। भारत में इसका प्रमुख केंद्र पटना था। 1831 में सैयद अहमद बरेलवी की मृत्यु के बाद पटना के अली बंधु—विलायत अली और इनायत अली इसके प्रमुख नेता बन गए। इसके अतिरिक्त हैदराबाद, मद्रास, बंगाल, उत्तर-पश्चिम प्रांत में इसके अनेक केंद्र थे। 1857 के विद्रोह में इन लोगों के योगदान की कोई जानकारी नहीं मिलती। परंतु अंग्रेज़ों को यह डर बना रहा कि वे भारत के उत्तर-पश्चिम से अफ़गानों अथवा रूसियों से मिलकर उनके लिए संकट खड़ा कर सकते हैं।

वस्तुतः इस सशस्त्र आंदोलन का रहस्योद्घाटन 1857 के बाद हुआ। 1860 के पश्चात अंग्रेज़ सरकार ने इनके विरुद्ध कई व्यापक सैनिक अभियान चलाए और इनके आक्रमणों को सफल नहीं होने दिया। इनके सैनिक ठिकानों को बिखरा दिया गया। इसके अनेक नेता पकड़े गए। अंबाला और पटना में मुकद्दमे हुए। अनेकों को पकड़ लिया गया और कठोर सज़ाएं दी गईं। 1870 के पश्चात यह आंदोलन पूरी तरह दबा दिया गया।

इसके प्रभाव की दृष्टि से कई निष्कर्ष दिए जा सकते हैं। यह सशस्त्र आंदोलन पूर्णतः मुस्लिम समुदाय के पुनरुत्थान के लिए और ब्रिटिश राज्य के विरुद्ध भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना के लिए था। अतः यह दूसरे समुदायों द्वारा प्रोत्साहित न हो सका। यह आंदोलन पूर्णतः न धार्मिक था और न ही राजनीतिक। इसकी प्रेरणा सांप्रदायिक थी, न कि देशभक्तिपूर्ण। अतः इसने भारत में अलगाव की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया और समाज को बांटने में सहायता की। इसने मुसलमानों में स्वतंत्रता और शासन करने की भावना को भी जागृत रखा।

संथालों का विद्रोह (1855-1856)

1757 की प्लासी की लड़ाई के पश्चात अंग्रेज़ों के अनेक सशस्त्र संघर्ष वनवासियों अथवा जनजातियों के साथ भी हुए। राष्ट्रीय अभिलेखागार से प्राप्त अनेक गुप्त दस्तावेज़ इस संबंध में पर्याप्त जानकारी देते हैं। भारत के प्रत्येक वनांचल में शीघ्र ही टकराव की स्थिति पैदा हो गई थी। इन वनवासियों ने अंग्रेज़ों के शासन को कठिनाई में डाल दिया और इसका चलना

दूभर कर दिया। कुछ स्थानों पर ब्रिटिश सरकार द्वारा वनवासियों के सिर काट कर लाने के लिए भारी इनाम भी रखे गए। इन संघर्षों को अंग्रेज़ों ने बलवे, दंगे, धार्मिक झगड़े और किसानों की बगावतें नाम दिए। इन संघर्षों में संथालों का संघर्ष अद्वितीय है।

संथाल जनजाति जागरूक और स्वतंत्रताप्रिय रही है। इन्होंने पहले मुस्लिम आक्रमणकारियों से भी टक्कर ली थी। मूलतः ये आधुनिक छोटा नागपुर के दक्षिण में बसे हुए थे। अनेक वर्षों से वहां भूमि जोत रहे थे। 1793 की भूमि के स्थाई बंदोबस्त से अब यह भूमि ज़मींदारों की हो गई थी। बाद में यह राजमहल की पहाड़ियों में गांवों में रहने लगे थे। इन्होंने बड़े परिश्रम से यहां की भूमि को उपजाऊ बनाया था, परंतु इस भूमि पर भी ज़मींदारों ने अपने दावे किए। ये साहूकार के भारी ब्याज़ से भी दबे हुए थे। इसके साथ ही नील की खेती से इनका अंग्रेज़ों से टकराव बढ़ गया था। शीघ्र ही ये पुलिस के दमन और अत्याचारों के शिकार हो गए। इतना ही नहीं इन दिनों पूर्वी क्षेत्र में रेल निर्माण हो रहा था। रेलवे अधिकारी और कर्मचारी इनसे मनमानी करते और इनकी महिलाओं की बेइज़्ज़ती भी करते थे।

उपरोक्त सभी अत्याचारों ने भयंकर असंतोष का रूप ले लिया, जो 1855-1856 में एक सशस्त्र विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ, जिसमें भागलपुर, मानभूम, राजमहल की जनजातियों ने भाग लिया। राजमहल के भगनाडिही गांव के चुलू संथाल के चार पुत्रों–सिद्धू, कान्हू, चांद और भैरो ने इसका नेतृत्व किया। 30 जून, 1855 को लगभग 400 गांवों के दस हज़ार संथाल धनुष, बाण, भाले, तलवार और कुठार लेकर भगनाडिही गांव में एकत्रित हुए और उन्होंने सिद्धू, कान्हू के नेतृत्व में स्वतंत्रता की घोषणा की – 'अब हमारे ऊपर कोई सरकार नहीं है, थानेदार नहीं है, हाकिम नहीं है, संथाल राज्य स्थापित हो गया है।' इनके आक्रमण के मुख्य केंद्र महाजन, ज़मींदार व भूमिकर अधिकारियों के घर, रेलवे स्टेशन, डाकघर, पुलिस और अंग्रेज़ अधिकारियों की फैक्ट्रियां थे।

सशस्त्र क्रांति का सूत्रपात एक छोटी-सी घटना से हुआ–दीसी नामक स्थान में ब्रिटिश सरकार का एक थानेदार रहता था, जो दो संथाल कैदियों को ले जा रहा था। सिद्धू और कान्हू ने इन दोनों संथाल कैदियों को छुड़ाने का प्रयत्न किया, पर थानेदार ने जोश में आकर सिद्धू और कान्हू को ही गिरफ्तार करना चाहा। इससे संथालों की भीड़ उत्तेजित हो गई और थानेदार को तत्काल मार दिया गया।

संथालों में सिद्धू और कान्हू को राजा तथा चांद और भैरो को सेनापतियों के रूप में माना जाने लगा। संथालों की लगभग 60,000 की विशाल सेना बनाई गई। ज़िले को 1500-2000 की टुकड़ियों में बांटा गया। स्थान-स्थान पर अंग्रेज़ों की बस्तियों पर आक्रमण किए गए। उनका नारा था – ज़मींदार, महाजन, पुलिस और सरकारी कर्मचारियों का नाश हो। संथालों की सेना ने कई टुकड़ियों के रूप में स्थान-स्थान पर आक्रमण किए। एक टुकड़ी ने फुदकीपुर नामक गांव पर आक्रमण करके अनेक अंग्रेज़ों को मार दिया। दूसरी टुकड़ी ने साहबगंज में अनेक अंग्रेज़ों का सफाया किया। भागलपुर का कलक्टर जो उस समय राजमहल में था, उसे भी घेर लिया गया। उसने किसी प्रकार छिपकर अपनी जान बचाई।

ब्रिटिश सरकार ने संथालों के सशस्त्र विद्रोह का कठोरता से दमन करने का निश्चय किया। कैप्टन फगान के नेतृत्व में पैलापुर नामक स्थान पर आक्रमण के लिए पांच सौ सैनिक भेजे गए। इसमें कान्हू सहित संथालों के कई प्रमुख नेता मारे गए और अंग्रेज़ों को इस विद्रोह को दबाने में सफलता मिली।

संथाल सेनाओं का संघर्ष अंग्रेज़ी सेनाओं से पकौड़ और महेशपुर में हुआ। 15 जुलाई को महेशपुर संघर्ष में संथालों की भारी हानि हुई। लगभग 200 संथाल सैनिक मारे गए। सिद्धू ने अपनी सेना को

बड़हैत की ओर बढ़ाया। अंग्रेज़ों ने विश्वासघातियों की मदद से संथालों के कई नेता गिरफ्तार कर लिए। सिद्धू को भी बड़हैत में किसी विश्वासघाती की मदद से पकड़ लिया गया।

क्रांति के दमन के लिए ब्रिटिश सेना ब्रिगेडियर जनरल लॉयड के अधीन रखी गई। कर्नल बर्ड को यहां 'स्पेशल कमांड' में नियुक्त किया गया। 15 अगस्त को सरकार ने एक घोषणा के द्वारा संथालों को दस दिनों के अंदर आत्मसमर्पण करने का आदेश दिया, अन्यथा कड़ी सज़ा देने की चेतावनी दी। नवंबर में सरकार ने इस क्षेत्र में मार्शल लॉ भी लागू कर दिया। धीरे-धीरे संघर्ष शिथिल होता गया। संथालों की इस सशस्त्र क्रांति में लगभग 10,000 संथाल लड़ाई में मारे गए। यह सशस्त्र क्रांति भारत में ब्रिटिश राज्य के लिए लावे की तरह साबित हुई।

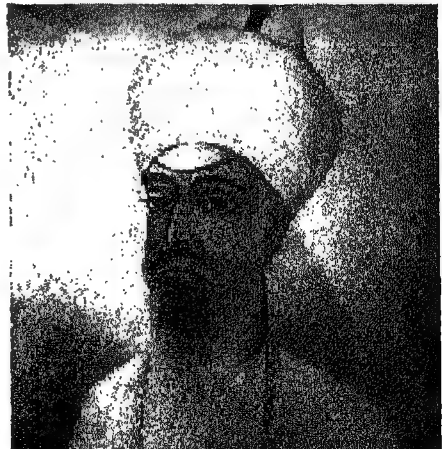
इस क्रांति के पश्चात इस क्षेत्र का शासन सीधे भारत के गवर्नर जनरल के अधीन कर दिया गया। इसे संथाल परगना के नाम से मशहूर किया गया और संथालों को विशेष सुविधाओं के बहाने इसे एक बहिर्गत क्षेत्र (एक्स्क्लूडेड एरिया) घोषित कर दिया गया। अब ब्रिटिश शासन ने सैनिक अभियान, पुलिस दमन के साथ-साथ ईसाई मिशनरियों का भी सहारा लिया। भारतीय जनता से इन वनवासियों को अलग कर दिया गया, परंतु इस क्षेत्र में ईसाई पादरियों को जाने की छूट दे दी गई और उन्हें प्रोत्साहन दिया गया। उनमें देशभक्ति, भ्रातृभाव, राष्ट्रीयता के भाव नष्ट करने के प्रयत्न किए गए।

यहां उल्लेखनीय है कि यह सोचना गलत होगा कि अंग्रेज़ों के अत्याचारों एवं षड्यंत्रों की वजह से ब्रिटिश सरकार का विरोध समाप्त हो गया, बल्कि यह निरंतर चलता रहा।

कूका आंदोलन

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पंजाब में देशभक्ति और क्रांतिकारी भावना को जगाने में कूका आंदोलन अथवा नामधारी मिशन का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस आंदोलन के मूल प्रेरक भाई बालकसिंह के शिष्य भाई रामसिंह (1824-1885) थे, जो अत्यंत सीधे-सादे व समर्पित व्यक्ति थे। इनके पिता सरदार जस्सासिंह रामगढ़िया मिस्ल से संबंध रखते थे और गरीब परिवार से थे। भाई रामसिंह ने प्रथम आंग्ल-सिक्ख युद्ध से पूर्व सिक्ख सेना में भाग लिया था, परंतु महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात पंजाब की तेज़ी से बिगड़ी हुई दशा से वे क्षुब्ध थे, विशेषकर अंग्रेज़ों द्वारा पंजाब का अन्यायपूर्ण विलय और इसके पश्चात किसानों, श्रमिकों और दस्तकारों की दुरावस्था से। वह महंतों के कार्यकलापों से भी परेशान थे, जो धर्मार्थ जागीरों को बचाने के लिए अंग्रेज़ों के पिट्ठू और राजभक्त बन गए थे। इसके साथ ही ब्रिटिश सरकार ने मुसलमानों में और हिंदू-सिक्खों में परस्पर कटुता उत्पन्न करने के लिए पंजाब में गो-हत्या पर प्रतिबंध हटा दिए थे। रानी जिंदा, दीवान मूलराज, भाई महाराजसिंह, महाराजा दलीपसिंह के प्रति अंग्रेज़ों के दुर्व्यवहार ने उन्हें अंग्रेज़ों का विरोधी बना दिया था। 1857 के विद्रोह ने समस्त भारत के वातावरण को ही गरमा दिया था।

ऐसे ही प्रतिकूल वातावरण में भाई रामसिंह अपने गुरु बालकसिंह से आशीर्वाद लेने हजरू नामक स्थान पर गए और वापस लौटने पर उन्होंने अपने गांव भैणी



भाई रामसिंह

(ज़िला लुधियाना) में रहते हुए अंग्रेज़ सरकार के विरोध का निश्चय किया। प्रारंभ में उन्होंने अपने अनुयायियों के जीवन को पवित्र, सरल और नियमित बनाने का प्रयत्न किया। घरों में चंडी पाठ, नामजप, आसा दीवार, गुरुवाणी पढ़ने, गरीबों को लंगर देने और गाय की पूजा को महत्त्व दिया। अपने अनुयायियों को श्वेत पगड़ी, श्वेत वेश-भूषा, श्वेत ऊन की माला और स्वदेशी वस्त्रों का प्रयोग करने को कहा। उन्होंने सात्विक भोजन और रहन-सहन पर ज़ोर दिया। साथ ही सामाजिक कुरीतियों, जैसे – दहेज-प्रथा, विवाह के प्रसंग पर अत्यधिक खर्च, कन्या-वध को छोड़ने को कहा। स्थान-स्थान पर अपने प्रवचनों द्वारा अपने अनुयायियों में अटूट श्रद्धा और आत्मविश्वास पैदा किया।

भाई रामसिंह ने अपने अनुयायियों में आत्मविश्वास के साथ आत्मनिर्भरता पर बल दिया और सरकार पर निर्भरता छोड़ने को कहा। उन्होंने सरकारी शिक्षा, न्याय, रेल, डाकघर व्यवस्था का बहिष्कार किया। इस अर्थ में वह पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने सरकार से असहयोग की नीति अपनाई। उन्होंने अपने प्रभाव क्षेत्र को 22 भागों में बांटा और उसमें सूबेदार और नायक सूबेदार नियुक्त किए। अपने कार्य के लिए प्राय: सरकारी सड़कों और मार्गों का उपयोग नहीं किया। अपने स्वतंत्र गुप्तचर विभाग की भी स्थापना की।

शीघ्र ही भाई रामसिंह व उनके सैकड़ों अनुयायियों के ये शांतिपूर्ण प्रयास ब्रिटिश सरकार, रूढ़िवादी महंतों, ईसाई मिशनरियों और कुछ मुस्लिमों के लिए परेशानी पैदा करने लगे। इनकी ब्रिटिश सरकार व अधिकारियों से शिकायतें होने लगीं।

इस संदर्भ में पहली महत्त्वपूर्ण घटना 5अप्रैल, 1863 को हुई, जब सियालकोट के चीफ़ कमिश्नर मेकनोबे से, जो ईसाइयों के पक्षपाती थे, शिकायत की गई कि भाई रामसिंह अपने 400 अनुयायियों के साथ रात्रि को सैनिक कवायद कराता है और वह किसी भी अधिकारी के आदेश को नहीं मानता। एक अन्य शिकायत में भाई रामसिंह के 13अप्रैल, 1863 के अमृतसर के समागम का तीव्र विरोध किया गया। पंजाब के लैफ्टिनेंट गवर्नर मैकल्युड ने भी इसे गंभीरता से लिया और समागम के दिन भारी पुलिस की व्यवस्था की गई। उनके विरोधियों ने बार-बार भाई रामसिंह की गतिविधियों पर प्रतिबंध लगाने की मांग की। परिणामस्वरूप 1863 में भाई रामसिंह को उनके ही गांव भैणी में नज़रबंद रखा गया और निगरानी के लिए पुलिस चौकियां तैनात की गईं। अंबाला क्षेत्र के कमिश्नर आर. जी. टेलर ने 1867 में भावी विद्रोह की आशंका से उन्हें गिरफ्तार करने को भी कहा, परंतु उन्हें 1863-1867 तक नज़रबंद रखा गया।

पंजाब में गो-हत्या पर सिक्ख मिस्लों के काल से ही प्रतिबंध था। 1754 में जब लाहौर से कुछ नामधारी सिक्ख अमृतसर हरमंदिर साहेब के दर्शन के लिए गए, वहां सरदार जस्सासिंह अहलूवालिया को कुछ यात्रियों ने गो-हत्या की बढ़ती हुई घटनाओं से परिचित कराया। इस पर जस्सासिंह ने कुछ साहसी व्यक्तियों को भेजकर बूचड़खाने को बंद करवा दिया। महाराजा रणजीतसिंह व उनके उत्तराधिकारियों ने भी इसका पालन किया। पंजाब में ब्रिटिश सरकार की स्थापना से गो-हत्या की घटनाएं बढ़ गईं। नामधारी सिक्खों ने अप्रैल 1871 से इन बूचड़खानों पर आक्रमण प्रारंभ कर दिए थे। लाहौर क्षेत्र के कमिश्नर डब्ल्यू. सी. डेविस ने गो-हत्या पर प्रतिबंध लगाना स्वीकार न किया। इससे अंग्रेज़ों को हिंदू, सिक्ख और मुसलमानों के बीच कटुता पैदा करने में सफलता मिल रही थी। रायपुर मलौध दुर्ग में गो-हत्या के प्रश्न पर नामधारियों ने संघर्ष किए। समूचे पंजाब में इससे रोष की लहर दौड़ी। संघर्ष की चरम सीमा 15जनवरी, 1872 को हुई, जब मलेरकोटला रियासत के बूचड़खाने पर आक्रमण किया गया। लुधियाना के कमिश्नर कांवन ने 68 निशस्त्र नामधारियों को गिरफ्तार कर लिया। अगले दिन लुधियाना के परेड ग्राउंड पर 50 को तोप से उड़ा दिया गया। 'सत श्री अकाल' कहते

ही सबका बलिदान हो गया। इनमें तेरह वर्ष का एक बालक बिशनसिंह भी था।

जब लुधियाना के कमिश्नर कावन ने नामधारियों के विरुद्ध गंदी गालियां दीं, तो क्रोध से उस बालक ने दोनों हाथों से कावन की दाढ़ी पकड़ ली। उसकी हत्या कर दी गई, अगले दिन शेष कूकाओं को फांसी की सज़ाएं दी गईं। एक साथ बिना किसी मुकद्दमे व गवाही के 68 कूकाओं का बलिदान भारत के स्वतंत्रता-संग्राम के इतिहास में अद्भुत था। कूका आंदोलन के बलिदानियों की चर्चा ब्रिटिश पार्लियामेंट तक हुई, परंतु इसके दोषी ब्रिटिश अधिकारियों को दंड नहीं दिया गया। इसके विपरीत भाई रामसिंह को 1818 के बंगाल रेग्युलेशन तृतीय के अंतर्गत भारत से निर्वासित कर बर्मा भेज दिया गया। जहां 1885 में 61 वर्ष की आयु में उनकी मृत्यु हो गई।

नामधारी आंदोलन इसके बाद भी चलता रहा। कूकाओं की गूंज भारत के भावी क्रांतिकारियों के लिए प्रेरणा बन गई। कूका आंदोलन संघर्ष के असीम बलिदान एवं स्वाभिमान का ज्वलंत उदाहरण बना।

वासुदेव बलवंत फड़के

1857 के विद्रोह के पश्चात वासुदेव बलवंत फड़के (1845-1883) पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने सशस्त्र क्रांति द्वारा अंग्रेज़ों को भारत से निकालकर स्वराज्य स्थापना का स्वप्न देखा। कांग्रेस की स्थापना से दो साल पहले ही उन्होंने देश की आज़ादी के लिए अपना बलिदान दे दिया। फड़के का जन्म 1845 में महाराष्ट्र के कुलावा ज़िले के शिरढोण ग्राम में हुआ था। इनके पिता श्री बलवंतराव तथा मां सरस्वती देवी थीं।

अंग्रेज़ शासन के विरुद्ध संघर्ष की भावना इन्हें विरासत में मिली थी। इनके पितामह श्री अनंतराव फड़के ने 1818 में पेशवा की ओर से अंग्रेज़ों के खिलाफ संघर्ष किया था। इन्होंने क्लर्क की नौकरी की। 1869 में इनके जीवन में एक परिवर्तनकारी घटना हुई, जब इनकी मां सरस्वती बाई के अत्यधिक बीमार होने पर इन्हें ऑफिस से छुट्टी न मिली। जब



वासुदेव बलवंत फड़के

छुट्टी मिली तब तक मां दम तोड़ चुकी थी। युवा मन विद्रोह के लिए आतुर हो गया।

कुछ समय पश्चात स्वराज्य प्राप्ति के संघर्ष के लिए इन्होंने अपने मन को पूरी तरह से तैयार कर लिया। 1876-77 में पड़े भयंकर अकाल ने इनके संकल्प को और भी दृढ़ किया। इन्हें लगा कि भारत के कष्टों और व्याधियों का एकमात्र कारण विदेशी शासन है। उन्होंने महाराष्ट्र में बढ़ते हुए किसानों के असंतोष का अनुभव किया। 1880 के अकाल कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार लगभग 8 लाख लोग अकाल से मर गए थे। इसके बावजूद ब्रिटिश सरकार भूमिकर वसूल करने के क्रूर तरीकों का प्रयोग कर रही थी। कीमतें बढ़ती जा रही थीं। जो ज्वार कुछ दिन पहले एक रुपए में सत्रह से बीस सेर तक मिलती थी, वह केवल एक रुपए में पांच या छ: सेर ही मिल रही थी। भारतीय उद्योग नष्ट हो रहे थे, जनता भूखी मर रही थी। फड़के ने अपनी '*आत्मकथा*' में इन सब समस्याओं का एकमात्र हल 'स्वराज्य' बताया।

उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य को सशस्त्र क्रांति के द्वारा समाप्त करने की शपथ ली और योजना को

व्यावहारिक रूप देना शुरू किया। स्वयं बंदूक चलाना सीखा। सड़क पर चलते हुए लोगों को अंग्रेज़ों के विरुद्ध भड़काना शुरू किया। स्थान-स्थान पर भाषण दिए। उन्होंने पहले अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों का सहयोग प्राप्त करने की कोशिश की। लेकिन वहां से सहयोग न मिलने पर उन्होंने अशिक्षित समाज को संगठित किया। साधारण भोले-भाले किसानों में देशप्रेम के प्राण फूंक दिए। देशव्यापी सशस्त्र आंदोलन की योजना रखी। देश के धनिकों से शस्त्रों के लिए आर्थिक सहयोग देने के लिए आश्वासन लिया। आवश्यक सहयोग न मिलने पर सरकारी और गैर-सरकारी खज़ानों को लूटने की भी योजनाएं बनाईं।

फड़के की 'आत्मकथा' के अनुसार योजना बनी कि भारत के प्रत्येक प्रांत में कुछ व्यक्ति भेजे जाएं और देश में एक साथ सशस्त्र विद्रोह किए जाएं। डाक-तार और रेलवे व्यवस्था रोक दी जाए। जेलों से सभी कैदी छुड़वा लिए जाएं और भारत में गणराज्य की स्थापना की जाए। फड़के ने मई 1879 में ब्रिटिश सरकार को चेतावनी दी कि वह गरीब किसानों और दलितों के लिए सस्ते अनाज की व्यवस्था करे, बेकारों को नौकरी दे, टैक्सों का बोझ कम करे और यूरोपीय अधिकारियों के वेतन कम करे। योजना का आरंभ हुआ धनेरी नामक गांव में लूटमार से। स्थान-स्थान पर शस्त्रों के लिए खज़ाने लूटे जाने लगे। सरकारी खज़ाने लूटने की भी योजना बनी।

अंग्रेज़ सरकार चौकन्नी हुई। फड़के के सहयोगियों को तरह-तरह के कष्ट दिए जाने लगे। सरकार को शीघ्र ही फड़के के बारे में पता चला। 21जुलाई, 1879 की रात्रि को उन्हें अचानक गिरफ्तार कर लिया गया। उन्हें गिरफ्तार करने में निज़ाम सरकार ने सहयोग दिया।

नवंबर 1879 में फड़के पर मुकद्दमा चलाया गया। स्वतंत्रता के इस दीवाने को 'डाकुओं के गिरोह का नेता' और 'महारानी विक्टोरिया के खिलाफ विद्रोही' बताया गया। फड़के के विरुद्ध अदालत में हुई कार्यवाहियों ने देश में एक नया उत्साह और कौतूहल पैदा किया। फड़के को जब अदालत में लाया जाता तो हज़ारों की संख्या में लोग उन्हें देखने आते और उनकी जय बोलते। इतना ही नहीं अनेक यूरोपीय भी इस उत्साही युवक को देखकर आश्चर्यचकित होते। एक बार एक यूरोपीय महिला ने उन्हें पूना के रेलवे स्टेशन पर एक फूलों का गुलदस्ता भेंट किया और सफलता की कामना की। आखिर वासुदेव फड़के को देश-निर्वासन की सज़ा दी गई। इन्होंने भागने का प्रयास किया, पर पकड़ लिए गए। 17फ़रवरी, 1883 को अदन जेल में इनका बलिदान हुआ। देश की जनता को उनकी मृत्यु के एक महीने बाद इसकी जानकारी दी गई।

वासुदेव बलवंत फड़के आने वाले अनेक क्रांतिकारियों के लिए प्रेरणा के स्रोत बन गए। क्रांति का जो बीज उन्होंने बोया वह शीघ्र ही वटवृक्ष बन गया। वे आगामी क्रांतिकारियों के मार्गदर्शक बन गए। फड़के के बाद आने वाले क्रांतिकारियों ने भी इस मार्ग को अपनाया। उन्होंने उनसे शस्त्र इकट्ठे करना, सरकारी खज़ाने लूटना, युवकों को सैनिक शिक्षा देना, देशभक्ति की भावना पैदा करना सीखा। वास्तव में वे भारतीय इतिहास में सशस्त्र राष्ट्रवाद के जनक कहे जा सकते हैं। चापेकर बंधुओं ने उनसे प्रेरणा ली।

अभ्यास प्रश्न

1. वहाबी आंदोलन के स्वरूप एवं महत्व का वर्णन कीजिए।
2. 1855 के संथाल विद्रोह के कारणों पर विचार व्यक्त कीजिए और उसके दूरगामी प्रभावों पर प्रकाश डालिए। अंग्रेज़ों द्वारा इस विद्रोह को कैसे दबाया गया?
3. कूका आंदोलन क्या है ? इसके कार्यक्रमों पर विचार प्रकट कीजिए।
4. वासुदेव बलवंत फड़के के जीवन एवं कार्यों पर निबंध लिखिए।

अध्याय

उन्नीसवीं सदी में भारत में सामाजिक और धार्मिक जागरण

स्वाधीनता-संग्राम के जन-जागरण में भारतीय इतिहास में अनगिनत व्यक्तियों और संस्थाओं का योगदान है। 19वीं शताब्दी में हुए आंदोलनों ने भारतीयों को सामाजिक और धार्मिक चेतना से आंदोलित किया। जिस प्रकार फ्रांस की क्रांति में वहां के दार्शनिकों और चिंतकों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, उसी भांति भारत की आजादी में यहां के चिंतकों, दार्शनिकों और समाज सुधारकों का योगदान रहा। 19वीं शताब्दी को भारतीय इतिहास में सांस्कृतिक और बौद्धिक जागरण का काल कह सकते हैं।

राष्ट्रीय जागरण की प्रमुख धाराएं सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक हैं। पाश्चात्य शिक्षा और विचार के प्रभाव, अनेक सुधारकों के प्रादुर्भाव, ईसाइयत के प्रचार, भारतीय साहित्य और पत्र-पत्रिकाओं के योगदान ने अनेक सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों को जन्म दिया।

राजा राममोहन राय

19वीं शताब्दी के प्रारंभ में इस सांस्कृतिक जागरण के अग्रदूत राजा राममोहन राय (1774-1833) और उनके द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज था। डॉ. नंदलाल चटर्जी ने राजा राममोहन राय को प्रतिक्रिया और प्रगति का मध्य बिंदु कहा है। इनका जन्म 22 मई, 1774 को बंगाल के राधानगर गांव में रमाकांत के घर में हुआ। उत्तराधिकार के रूप में इन्हें 'राय' की उपाधि



राजा राममोहन राय

प्राप्त हुई। शिक्षा प्राय: पटना में हुई, जहां इन्होंने इतिहास, धर्म, दर्शन और भाषाओं का अध्ययन किया। 16 वर्ष की आयु में इनकी आस्था मूर्तिपूजा में नहीं रही और इन्होंने फ़ारसी में 'तोहफ़त-उल-मुवाहेदीन' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें मूर्तिपूजा का खंडन और एकेश्वरवाद की प्रशंसा की। पुस्तक की रचना पर क्रोधित होकर इनके पिता ने इन्हें घर से निकाल दिया। चार वर्ष तक इन्होंने भारत के विभिन्न स्थानों की यात्रा की। पिता द्वारा बुलाए जाने पर वे वापस घर लौटे और विवाह किया। 24 वर्ष की आयु में इन्होंने अंग्रेजी, हिब्रू, ग्रीक, फ्रेंच और लैटिन आदि भाषाओं का अध्ययन किया। कुछ रूढ़िवादी ब्राह्मणों की प्रेरणा से 1799 में इन्हें फिर घर से निकाल दिया गया। बारह वर्ष का कठोर समय इन्होंने अपने दो स्थानीय मित्रों के साथ बिताया। प्रारंभ में टैक्स कलेक्टर की नौकरी की। पिता की मृत्यु पर घरवालों से इनका मेल-मिलाप हुआ और ये परिवार के उत्तराधिकारी बने।

1815 में उन्होंने 'आत्मीय सभा' की स्थापना की। 1820 में उन्होंने बाइबिल के आधार पर एक किताब भी लिखी। इनके एक ईसाई मित्र ने इन्हें ईसाई बनाने का भी प्रयत्न किया, पर सफलता न मिली। 20अगस्त, 1828 को राजा राममोहन राय ने 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की। उसका उद्देश्य हिंदू समाज की बुराइयां दूर करना, ईसाइयत के प्रभाव को रोकना और सब धर्मों में आपसी एकता स्थापित करना था। ब्रह्म समाज का स्वरूप भारतीय था और इसे 'अद्वैतवादी हिंदुओं की संस्था' कहा जा सकता है। इसका उद्देश्य हिंदू धर्म को रूढ़ियों से मुक्त कर नया रूप देना था। यह मूर्तिपूजा के बहिष्कार, अवतारवाद के विरोध, ईश्वर की एकता और जीवात्मा की अमरता में विश्वास करता था। एक रूसी विद्वान के अनुसार, 'ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने ब्रह्म समाज की गतिविधियों में हर तरह से रुकावटें डालीं और बुद्धिवादियों को गुमराह करने की कोशिश की।'

राममोहन राय बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। उन्होंने सामाजिक क्षेत्र में भी अपनी योग्यता को प्रदर्शित किया। तत्कालीन समाज में प्रचलित सती-प्रथा का उन्होंने डट कर विरोध किया। वास्तव में सती-प्रथा के विरोध की प्रेरणा उन्हें उस समय हुई, जब 1811 में उनके भाई जगमोहन की मृत्यु पर उनकी भाभी को ज़बरदस्ती सती करा दिया गया। इस प्रथा को बंद करने के लिए उन्होंने समाजव्यापी आंदोलन चलाया और ब्रिटिश गवर्नर जनरल लॉर्ड विलियम बैंटिक को कानून बनाने में सहयोग दिया। इसके अतिरिक्त अन्य सामाजिक कुरीतियों, जैसे – बहुविवाह, बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, छुआछूत और जाति-प्रथा की जटिलता को रोकने के उन्होंने भरसक प्रयत्न किए और विध वा-विवाह, अंतर्जातीय विवाह, स्त्री-शिक्षा और महिलाओं को संपत्ति में उत्तराधिकार का हिस्सा दिलाने के लिए प्रयत्न किए। बाद में यही ब्रह्म समाज का सामाजिक कार्यक्रम बन गया।

राममोहन राय ने आह्वान किया कि भारतीय तब तक उन्नति नहीं कर सकते, जब तक वे पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान को आत्मसात न कर लें। वास्तव में वह न तो अतीत की प्रत्येक बात को ठीक समझते थे, और न ही पश्चिम को जैसा-का-तैसा अपनाने को कहते थे। वह तर्क और बुद्धि के आधार पर बात मानने को कहते थे। राजा राममोहन राय ने अंग्रेज़ी भाषा के अध्ययन पर बल दिया। कलकत्ता में हिंदू कॉलेज की स्थापना की।

समाचार-पत्रों की आज़ादी के प्रति भी उन्होंने जन-जागरण किया। स्वयं कई पत्र निकाले। राजनीतिक समानता और कानूनी सुधारों के प्रति चेतना जगाई। उन्होंने सेना में भारतीयों को ऊंचे पद देने और उसके भारतीयकरण की मांग की। बंगाल में ज़मींदारों से पीड़ित कृषकों की हालत सुधारने के लिए जनमत को जगाया। भूमिकर हमेशा के लिए निर्धारित करने को कहा। भारतीय वस्तुओं पर निर्यात-कर हटाने को

कहा। उन्होंने धन का निष्कासन (Economic Drain) दूर करने के लिए यूरोपीयों को स्थाई रूप से भारत में बसने को कहा।

राममोहन राय अंतर्राष्ट्रीयता के भी पुजारी थे। उन्होंने विभिन्न देशों की संसदों में से एक-एक सदस्य लेकर एक अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस बनाने का सुझाव दिया। पासपोर्ट प्रणाली को हटाने का सुझाव दिया। वह विश्व में स्वतंत्रता, समानता और प्रजातंत्र के समर्थक थे।

विद्वान लेखक सत्येंद्रनाथ मजूमदार के अनुसार वे प्रथम हिंदू थे जो विलायत गए। उन्होंने ब्रह्म समाज के माध्यम से अपने धर्म, परंपरा, विश्वास का त्याग न करके यूरोप की सभ्यता से सामंजस्य स्थापित करने को कहा। परिणामस्वरूप जहां तमाम यूरोप में ईसाइयत की संख्या तेज़ी से बढ़ती जा रही थी, वहां भारत में शासकों का धर्म होने पर भी उसकी प्रगति नाममात्र की थी। वास्तव में राममोहन राय ने अपने विचारों को उपनिषदों एवं वेदों पर आधारित कर हिंदू धर्म की श्रेष्ठता को स्थापित किया और अनेक कुरीतियों पर कटु प्रहार कर समाज में तर्क व स्वतंत्रता की भावना एवं बौद्धिक जागरण लाए। वह उस महान सेतु के समान थे, जिस पर चढ़कर भारतवर्ष अपने अथाह अतीत से अज्ञात भविष्य में प्रवेश कर सकता था।

देवेंद्रनाथ टैगोर और ब्रह्म समाज

राममोहन राय के पश्चात ब्रह्म समाज का नेतृत्व रवींद्रनाथ टैगोर के पितामह महर्षि देवेंद्रनाथ टैगोर (1817-1905) ने किया। 1839 में उन्होंने 'तत्त्वबोधिनी सभा' बनाई, जो 1842 में ब्रह्म समाज में मिला दी गई। उनके प्रभाव से ईश्वर चंद्र विद्यासागर और अक्षय कुमार दत्त जैसे विचारक भी ब्रह्म समाज के सदस्य बने। उन्होंने बंगला भाषा में 'तत्त्वबोधिनी' नामक एक पत्रिका भी प्रकाशित की। उन्होंने और उनके अनुयायी अक्षय कुमार दत्त ने ब्रह्म समाज से ईसाइयत के प्रभाव को दूर करने की कोशिश की। दत्त ने कहा कि 'मुझे डर है कि कहीं वे 'हिंदू' शब्द ही न भूल जाएं और अपने को विदेशी नाम से पुकारें।' 1846 में जब देवेंद्रनाथ के पिता का देहांत हुआ और ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते उन्हें मृत्यु संस्कार करने को कहा, तब उन्होंने इसे मूर्तिपूजा का अनुष्ठान कहकर करने से मना कर दिया। इससे उनकी लोक निंदा हुई। 1905 में उनका देहांत हो गया।

इन्हीं दिनों केशव चंद्र सेन (1838-1884), जिनकी आयु केवल 19 वर्ष की थी, ब्रह्म समाज के संपर्क में आए। केशव चंद्र सेन 'जॉन दी बैप्टिस्ट', ईसा मसीह और सेंट पॉल के जीवन से बहुत प्रभावित थे। अतः शीघ्र ही उनका देवेंद्रनाथ से टकराव हो गया। 1866 में ब्रह्म समाज क्रमशः 'ब्रह्म समाज' और 'आदि ब्रह्म समाज' में बंट गया। 1870 में केशव चंद्र सेन इंग्लैंड गए। उन्होंने वहां 6 महीने के प्रवास में लगभग 70 व्याख्यान दिए। स्थान-स्थान पर ईसाई मिशनरियों ने उनका स्वागत किया। कइयों को लगा कि वे ईसाई बनेंगे। केशव चंद्र सेन ने अनेक सामाजिक सुधारों – अंतर्जातीय विवाह, स्त्री-शिक्षा और विधवा-विवाह पर बल दिया। उन्होंने इसके साथ ही बाल-विवाह, बहुविवाह, जाति-प्रथा की कटु आलोचना की। अल्पायु में ही उन्होंने अपनी पुत्री का विवाह कूच-बिहार के अल्पायु राजकुमार से कर दिया। वह यद्यपि स्वयं बाल-विवाह के विरोधी थे, पर यह कहकर कि 'ईश्वर का आदेश है कि यह विवाह हो जाना चाहिए,' विवाह की स्वीकृति दे दी। इस घटना से उनकी प्रतिष्ठा को धक्का लगा। अतः इससे ब्रह्म समाज एक बार पुनः दो भागों में बंटा। केशव चंद्र सेन का समाज 'आदि ब्रह्म समाज' व शेष 'साधारण ब्रह्म समाज' कहलाया। 1884 में उनकी मृत्यु पर मैक्समूलर ने कहा था कि 'भारत ने अपना श्रेष्ठतम पुत्र खो दिया है।'

ब्रह्म समाज ने राजा राममोहन राय, देवेंद्रनाथ टैगोर, केशव चंद्र सेन जैसे समाज सुधारकों के नेतृत्व



केशव चंद्र सेन

में अनेक धार्मिक और सामाजिक सुधारों को दिशा दी। जहां उन्होंने पुरानी रूढ़ियों व अंधविश्वासों को छोड़ने को कहा, मूर्तिपूजा, अवतारवाद को त्यागने को कहा, वहीं धर्म ग्रंथों के मूल तत्त्व, मानवीय दृष्टिकोण, तर्क और बुद्धि पर आधारित चिंतन को प्रोत्साहित किया। समाज सुधार में भी उन्होंने अनेक कुरीतियों को त्यागने और महिलाओं की दशा में सुधार करने पर बल दिया तथा जातिवाद और छुआछूत का विरोध किया।

अत: यह कहना गलत न होगा कि ब्रह्म समाज से भारतीय जनजीवन में जागृति आई। ईसाइयत की आंधी को रोका गया। भारतीयों को पाश्चात्य दर्शन और शिक्षा के अध्ययन के लिए प्रेरित किया गया। इससे प्रेरणा लेकर स्थान-स्थान पर नई-नई संस्थाओं का जन्म हुआ। हेनरी डिरोजियो (1809-1839), ईश्वर चंद्र विद्यासागर और महादेव गोविंद रानाडे ने प्रयत्न किए, परंतु यह कहना पड़ेगा कि ब्रह्म समाज इतना प्रभावी न हो सका। आंतरिक झगड़ों से उसके बार-बार टुकड़े होते गए। यह अधिकतर पढ़े-लिखे वर्ग को ही प्रभावित कर सका।

ईश्वर चंद्र विद्यासागर

19वीं शताब्दी के समाज सुधारकों और शिक्षाविदों में ईश्वर चंद्र विद्यासागर का स्थान प्रमुख व्यक्तियों में से है। राजा राममोहन राय की भांति उन्होंने समाज सुधार और शिक्षा के क्षेत्र में अदम्य साहस और कठोर परिश्रम का परिचय दिया। इनका जन्म 1820 में एक अत्यंत गरीब परिवार में हुआ था। परिश्रम और कठोर साधना से वे संस्कृत कॉलेज में प्रधानाचार्य बन गए। वे भारत के प्राचीन साहित्य और पाश्चात्य ज्ञान के महान पंडित थे।

ईश्वर चंद्र विद्यासागर का सामाजिक क्षेत्र में अतुल योगदान था। उन्होंने महिलाओं की सामाजिक दशा सुधारने के लिए बड़े प्रयत्न किए। उन्होंने भारत की हिंदू विधवाओं की दीन-हीन दशा देखकर विधवा पुनर्विवाह के लिए आंदोलन चलाया। 1855 में इसके लिए एक पत्रक भी प्रकाशित किया। उन्होंने समूचे देश में इसके लिए आंदोलन चलाया और 1856 में इसको कानूनी मान्यता दिलवाई। इस कानून के अंतर्गत पहला विधवा-विवाह उनकी ही देखरेख में हुआ। उन्होंने 1856-1860 के बीच लगभग 25 विधवाओं के पुनर्विवाह कराए। इसके अलावा उन्होंने बाल-विवाह और बहुविवाह का विरोध किया।

ईश्वर चंद्र विद्यासागर ने शिक्षा और भाषा की उन्नति के लिए भरसक प्रयास किए। उन्होंने संस्कृत भाषा के प्रचार और प्रसार के लिए महत्त्वपूर्ण प्रयास किए। उन्होंने संस्कृत कॉलेज में गैर-ब्राह्मणों को भी प्रवेश दिया। उन्होंने बंगला भाषा में स्वयं एक वर्णमाला 'वर्ण परिचय' तैयार की और बंगला साहित्य में गद्य शैली के विकास व शिक्षा के विस्तार के लिए एक कॉलेज की स्थापना की। उनके द्वारा अनेक स्कूल खुलवाए गए। उन्होंने महिलाओं में उच्च शिक्षा को बढ़ावा दिया। इसके लिए 1849 में कलकत्ता में बैथुन स्कूल की स्थापना की। इस स्कूल का मुख्य उद्देश्य महिला-शिक्षा को प्रोत्साहन

देना था। शीघ्र ही उनका बैथुन स्कूल महिला शिक्षा का केंद्र बन गया, परंतु इसके लिए ईश्वर चंद्र विद्यासागर को कठोर संघर्ष और सामाजिक बहिष्कार भी सहना पड़ा था। सरकारी निरीक्षक रहते हुए उन्होंने लड़कियों के लिए 35 विद्यालय स्थापित किए थे।

ईश्वर चंद्र विद्यासागर एक महान शिक्षाविद्, सुधारक के साथ अत्यंत दयावान और सहृदयी व्यक्ति थे। उनके व्यक्तिगत जीवन की अनेक घटनाओं से अनेक लोगों ने प्रेरणा ली। वे दीनहीनों की आर्थिक मदद, विद्यार्थियों की अध्ययन में सहायता और महिलाओं की प्रगति में सदैव तत्पर रहते थे। वे एक महान मानवतावादी व्यक्ति थे।

बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय

प्रसिद्ध राष्ट्रगीत 'वंदेमातरम्' के रचयिता, बंगला के महान उपन्यासकार बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय (1838-1894) ने भारतीय जनजीवन में, विशेषकर बंगाली समाज में एक नई सोच और चेतना जागृत करने का कार्य किया। इनका जन्म 26जून, 1838 को चौबीस परगना के कांठालपाड़ा में हुआ था। इनके पिता यादव चंद्र चट्टोपाध्याय धार्मिक विचारों के थे और घर में साधु-संतों का आना-जाना रहता था। इनकी शिक्षा कांठालपाड़ा, मेदिनीपुर, हुगली और कलकत्ता में हुई। बंकिम बचपन से पढ़ाई-लिखाई में निपुण थे। मैकॉले द्वारा अंग्रेज़ी माध्यम से शिक्षा नीति के अंतर्गत 1857 में स्थापित कलकत्ता विश्वविद्यालय के वे पहले स्नातक थे। अंग्रेज़ी साहित्य के साथ-साथ उन्होंने वैदिक और प्राचीन संस्कृत साहित्य का सूक्ष्म अध्ययन किया।

बंकिम चंद्र बी. ए. पास करते ही डिप्टी मजिस्ट्रेट के पद पर नियुक्त हो गए और कुछ काल बाद डिप्टी कलेक्टर के पद पर पहुंच गए। वे 1891 तक सरकारी नौकरी करते रहे। जैसौर, तेगुआ (कांथी), खुलवा और जहाज़पुर स्थानों पर नौकरी करते हुए उन्हें बंग-जीवन के दर्शन हुए, इसके अलावा अंग्रेज़ी शासन की मनोवृत्ति पता चली तथा अनेक कटु अनुभव हुए।

उन्होंने बंगला भाषा में अपनी रचनाओं से भारतीयों में नवजागरण किया। 1872 में 'बंगदर्शन' नाम से एक मासिक-पत्रिका बहरामपुर से निकाली। बंकिम चंद्र के सभी उपन्यास, लेख इसी पत्रिका में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए, जो बाद में पुस्तक के रूप में भी प्रकाशित हुए।

उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा बंगाल में सामाजिक चेतना जागृत की। उन्होंने अपने विभिन्न पत्रों के माध्यम से बंगाल में प्रचलित विधवा-विवाह, बाल विवाह, बहुविवाह और जातिच्युत होने के भय का वर्णन किया। उन्होंने जातीय नियमों की जटिलता का विरोध किया। उन्होंने नारी व्यथाओं, नारी यातनाओं और नारी संघर्ष का सजीव चित्रण कर समाज में चेतना जागृत की।

उन्होंने सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जागरण में यथेष्ठ योगदान दिया। वे राजनीतिक परिवर्तन से पूर्व सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जागरण को महत्त्व देते थे। हिंदू धर्म की श्रेष्ठता बताते हुए उन्होंने ज्ञान और कर्म के महत्त्व पर प्रकाश डाला। उन्होंने ईश्वर की अनन्य भक्ति, अनासक्त भाव से कर्म, इंद्रिय संयम, अहंकार रहित ज्ञान और दान का स्वरूप जैसे अनेक विषयों की चर्चा की है। उन्होंने देश की उन्नति के लिए अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार उपयोगी बताया, परंतु इसका उपयोग बड़ी सावधानीपूर्वक करने को कहा। वे विज्ञान और तकनीक में पाश्चात्य सहायता प्राप्त करने के समर्थक थे, परंतु उसके अंधानुकरण के घोर विरोधी थे। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से देशभक्ति और राष्ट्रप्रेम की भावना जगाई। 'आनंदमठ' उनका विश्वविख्यात उपन्यास माना जाता है। इसमें उद्धृत 'वंदेमातरम्' आज़ादी का नाद, मूलमंत्र और प्रेरणा-स्रोत बन गया।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय ने अपनी विविध रचनाओं के माध्यम से सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना जागृत की और भारतीय जनमानस में राष्ट्रीयता का भाव पैदा किया।

रामकृष्ण और विवेकानंद

रामकृष्ण परमहंस (1834-1886) बंगाल के एक अत्यंत गरीब, अनपढ़ संत पुरुष थे। बचपन से ही ईश्वर भक्ति की इनमें अद्भुत लगन थी। अनेक बार भक्ति करते-करते वे अत्यंत विह्वल होकर संज्ञाहीन हो जाते थे। रोमारोलां ने इसकी भाव विह्वलता का वर्णन करते हुए लिखा कि 'यदि वह यूरोप में होते, तो उनकी बड़ी दुर्दशा होती। ज़रूर ही मानसिक चिकित्सा का रोगी मानकर पागलखाने में भेज दिया जाता।' सात वर्ष की आयु में ही इनके पिता का देहांत हो गया था। कुछ काल बाद कलकत्ता में गंगा के पूर्वी तट पर दक्षिणेश्वर में काली महादेवी का एक मंदिर बनवाया गया और तभी से वे काली के अनन्य भक्त हो गए। रामकृष्ण की भेंट प्रसिद्ध भैरवी और तोतापुरी जैसे संतों से हुई। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने इस्लाम और ईसाई धर्म के द्वारा भी ईश्वर का साक्षात्कार किया। निष्कर्ष रूप में उनका विचार था कि संसार के सभी धर्म सच्चे रूप में ईश्वर तक पहुंचने के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। रामकृष्ण परमहंस ने सभी धर्मों की एकता, ईश्वर की अनन्य भक्ति, मानव-सेवा और आध्यात्मिक जीवन को महत्त्व दिया।



रामकृष्ण परहमहंस

रामकृष्ण परमहंस के परम शिष्य स्वामी विवेकानंद (1863-1902) हुए। रवींद्रनाथ टैगोर ने लिखा है, 'यदि कोई भारत को समझना चाहता है, तो उसे विवेकानंद को पढ़ना चाहिए।' रामधारी सिंह दिनकर का कथन है, 'रामकृष्ण, विवेकानंद एक ही जीवन के दो अंश, एक ही सत्य के दो पक्ष हैं। रामकृष्ण अनुभूति थे, विवेकानंद उनकी व्याख्या बनकर आए थे।' रामकृष्ण, हिंदूधर्म की यदि गंगा थे, तो विवेकानंद उस गंगा के भगीरथ थे। इन दोनों का मिलन रहस्यवाद और बुद्धिवाद का मिलन कहा गया है।

विवेकानंद का जन्म 12 जनवरी, 1863 को कलकत्ता में हुआ। उन्होंने भारतीय दर्शन के साथ स्टुअर्ट मिल, हरबर्ट स्पेंसर, शैली, हेगेल और वर्ड्सवर्थ की रचनाओं को भी ध्यान से पढ़ा था। वह फ्रांस की क्रांति, नेपोलियन के रोमांचकारी जीवन और ईसा मसीह के जीवन से अत्यधिक प्रभावित थे। तत्कालीन धार्मिक और बौद्धिक नेताओं से उनकी भेंट हुई। नवंबर 1880 में रामकृष्ण से उनकी प्रथम भेंट हुई और शीघ्र ही विवेकानंद उनके भक्त बन गए। रामकृष्ण ही एकमात्र व्यक्ति थे, जिन्होंने विवेकानंद के इस प्रश्न, 'क्या आपने ईश्वर को देखा है?' का उत्तर 'हां' में दिया था। शायद रामकृष्ण परमहंस से विवेकानंद की भेंट न हुई होती, तो वे दुनिया के सबसे बड़े नास्तिकों में होते।

विवेकानंद 1891 में बिना किसी को साथ लिए नामहीन, अनजान भिखारी की भांति, यात्रा पर निकल



स्वामी विवेकानंद

पड़े। उन्होंने भारत की यात्रा कर यहां की गरीबी, भुखमरी और दयनीय दशा का प्रत्यक्ष अनुभव और दर्शन किया। साथ ही उन्हें भारत की विशालता और विविधता का भी ध्यान आया। अत: दो वर्ष तक भारत के विभिन्न क्षेत्रों की यात्रा करते हुए उन्हें भारत की समस्याओं का ज्ञान हुआ। 1893 में शिकागो में हो रहे सर्वधर्म सम्मेलन में उन्होंने भाग लिया। वहां 'भाइयो और बहनो' के आत्मीयता से पूर्ण शब्दों का उच्चारण कर उन्होंने संसार की जनता को मोह लिया।

1897 में उन्होंने अपने गुरु के नाम पर रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। उन्होंने हिंदू संस्कृति का उद्घोष किया और यहां के धर्म और संस्कृति की विशेषता बताई। उन्होंने समाज में भारत के गौरवपूर्ण अतीत के प्रति गर्व की भावना जाग्रत की। साथ ही अंधविश्वासी और कट्टरपंथी न बनने को कहा। विवेकानंद ने अपने जीवन दर्शन में पूर्व एवं पश्चिम के समन्वय की बात कही। साथ ही ईसाइयत के कुप्रचार का भंडाफोड़ किया। विवेकानंद ने वेदांत का प्रचार और सर्वधर्म की एकता में विश्वास व्यक्त किया।

स्वामी विवेकानंद ने सामाजिक दृष्टि से भी समाज सेवा और नारी सम्मान को महत्त्व दिया। छुआछूत का कटु विरोध किया। उन्होंने एक बार कहा था, ''हम में से अधिकतर अभी न वेदांती हैं न पुराणपंथी और न ही तान्त्रिक। असल में हम हैं 'छुआछूतपंथी'। रसोई घर हमारा मंदिर है, पकाने के बर्तन हमारा उपास्य देवता है और 'मत छुओ, मैं पवित्र हूं' हमारा मंत्र है। अगर यह एक शताब्दी तक और चलता रहा तो हम सब पागलखाने में होंगे।''

स्वामी विवेकानंद राष्ट्रीयता के पोषक थे। उन्होंने भारतवासियों में आत्मविश्वास की भावना पैदा की, दुर्बलता को पाप बताया और शक्ति की पूजा का आह्वान किया। कुछ वर्षों के लिए सभी देवी-देवताओं की पूजा छोड़कर भारत मां की पूजा करने को प्रेरित किया। देश के नवयुवकों से कहा, 'उठो, जागो और तब तक न रुको जब तक लक्ष्य की प्राप्ति न हो।' उन्होंने पश्चिम के अंधानुकरण की कड़ी आलोचना की। उन्होंने एक स्थान पर कहा—

'वीरो, साहस का अवलंबन करो, गर्व से कहो कि मैं भारतवासी हूं। प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है, तुम चिल्लाकर कहो कि अज्ञानी भारतवासी, ब्राह्मण भारतवासी, दलित भारतवासी मेरा भाई है... भारतीय समाज मेरे बचपन का झूला, जवानी की फुलवाड़ी और वृद्धावस्था की काशी है।'

इतना ही नहीं स्वामी विवेकानंद की आध्यात्मिक पुत्री सिस्टर निवेदिता ने बंगाल के अनेक क्रांतिकारियों और समाज सेवियों को प्रत्यक्ष रूप से सहयोग भी दिया।

स्वामी विवेकानंद ने वेदांत के आधार पर धर्म और अध्यात्म को सर्वोच्च स्थान दिया। वे समाज सुधार एवं राजनीतिक पुनरुत्थान से पूर्व धार्मिक अभ्युत्थान को आवश्यक मानते थे। उनका निश्चित मत था कि भारत की आत्मा धर्म और अध्यात्म में निवास करती है। उन्होंने कहा था–

'यदि कोई हिंदू आध्यात्मिक नहीं है, तो मैं उसे हिंदू नहीं कहता। भारत की तितर-बितर फैली हुई आध्यात्मिक शक्तियों को एकत्रित करके उसकी राष्ट्रीय एकता स्थापित की जानी चाहिए।'

वे अध्यात्म को राष्ट्र का मेरुदंड मानते थे। उनका विचार है कि हम अपने प्राचीन पूर्वजों से चली आई, इस अमूल्य विरासत, अध्यात्म को पकड़कर कदापि ढीला न होने दें। वे धर्म को तर्क और अनुभूति के आधार पर आंकने को कहते हैं।

'किसी बात पर यह सोचकर विश्वास न करो कि तुमने उसको किसी पुस्तक में पढ़ा है, किसी बात पर इसलिए विश्वास मत करो कि किसी ने ऐसा कहा है, अपितु तुम स्वयं सत्य की खोज करो।'

वे धार्मिक चेतना और सामाजिक प्रगति को एक दूसरे से जुड़ा हुआ मानते हैं, इसलिए उन्होंने धार्मिक अंधविश्वासों, रूढ़िवादिता, खोखले रीति-रिवाजों को दूर करने पर बल दिया। उन्होंने जाति-प्रथा की जटिलता, छुआछूत और अन्य कुरीतियों को समाप्त करने और नारी सम्मान, नारी शिक्षा के उत्थान के लिए प्रेरणा दी।

सामाजिक सुधारों में वह लोगों की अज्ञानता, अनाथों की सहायता और गरीबों की कठिनाइयों को दूर करने को प्राथमिकता देते थे। उनका विचार था कि गिरे हुए की सेवा ही सबसे बड़ा धर्म है। वे शिक्षित भारतीयों को संबोधित करते हुए कहते थे –

'जब तक भारत में करोड़ों लोग भूख और अज्ञान से ग्रसित होकर जीवन व्यतीत कर रहे हैं, तब तक मैं प्रत्येक उस व्यक्ति को देशद्रोही समझूंगा, जो उनके खर्च से शिक्षित होने के बाद उनके प्रति तनिक भी ध्यान नहीं देता।'

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि स्वामी विवेकानंद के विचारों का देश-विदेश में बड़ा प्रभाव हुआ। सुभाष चंद्र बोस ने लिखा है कि 'उनमें बुद्ध का हृदय और शंकराचार्य की बुद्धि थी तथा वह आधुनिक भारत के निर्माता थे।' गांधी जी ने कहा है कि 'स्वामी विवेकानंद के लिए किसी परिचय की ज़रूरत नहीं, उनका नाम ही प्रेरणा है।' रवींद्रनाथ टैगोर ने उन्हें 'सृजन की प्रतिभा' कहा। अमेरिका में विवेकानंद अपने युग में 'तूफ़ानी हिंदू' के नाम से प्रसिद्ध हुए। अतः निश्चित ही भारत के नवजागरण में विवेकानंद का बहुत बड़ा योगदान है।

स्वामी दयानंद और आर्य समाज

राजा राममोहन राय ने जहां ईसाइयत के विरुद्ध पहले मोर्चे पर लड़ाई लड़ी, जो रक्षा के बंधन का मोर्चा था,



स्वामी दयानंद सरस्वती

वहां स्वामी दयानंद (1824-1883) ने आक्रमण प्रारंभ कर दिया, क्योंकि वास्तविक रक्षा का उपाय तो आक्रमण की नीति ही है। स्वामी दयानंद का जन्म गुजरात के टंकारा नामक स्थान पर एक ब्राह्मण परिवार में 1824 में हुआ। इनके बचपन का नाम मूलशंकर था। एक बार शिवरात्रि के पर्व पर उन्होंने एक चूहे को शिवलिंग से खाद्य सामग्री ले जाते देखा। उन्हें लगा कि जो भगवान अपनी रक्षा नहीं कर सके, वह अन्य की रक्षा कैसे करेंगे। बस यही घटना उनके जीवन की परिवर्तनकारी घटना साबित हुई। स्वामी पूर्णानंद से उन्होंने संन्यास की दीक्षा ली और अब वे दयानंद कहलाने लगे। उन्होंने मथुरा जाकर स्वामी विरजानंद से ज्ञान प्राप्त किया, जिसमें उन्होंने संसार को वेदों का ज्ञान देने को कहा। 1872 में कलकत्ता में इनकी भेंट ब्रह्म समाजी नेता केशव चंद्र सेन से भी हुई, जिसमें केशव चंद्र ने उन्हें संस्कृत बोलने की बजाए हिंदी में व्याख्यान देने का सुझाव दिया। 10अप्रैल, 1875 को उन्होंने 'आर्य समाज' की स्थापना की और उसमें 28 नियमों का समावेश किया।

बाद में दिल्ली, पंजाब का दौरा करते हुए लाहौर में आर्य समाज की स्थापना की गई और केवल दस नियम बना दिए गए। जोधपुर में कुछ विरोधियों ने इनको कांच पीसकर पिला दिया, जिस कारण 30अक्टूबर, 1883 को दीवाली के दिन इनका देहावसान हुआ।

स्वामी दयानंद ने धार्मिक अंधविश्वास, राजनीति, शिक्षा, समाज सुधार – सभी ओर आक्रामक रुख अपनाया। 'सत्यार्थ प्रकाश' के माध्यम से जहां वेदों की महत्ता को संसार के सम्मुख रखा, वहां वाममार्ग, देवी भागवत, मूर्तिपूजा तथा बौद्ध, जैन, ईसाई और मुस्लिम–विभिन्न संप्रदायों एवं मतों के अंधविश्वासों और रूढ़ियों का खंडन किया। अपने जीवन का उद्देश्य 1867 में हरिद्वार कुंभ के अवसर पर पाखंड-खंडनी पताका फहराकर स्पष्ट किया। उन्होंने अंधविश्वास और अज्ञान को हटाने के लिए शिक्षा पर विशेष बल दिया। उन्होंने निराकार परमेश्वर की सत्ता को महत्त्व दिया और मूर्तिपूजा, अवतारवाद और बाहरी दिखावे का डटकर विरोध किया। ईसाई मिशनरियों के क्रियाकलापों की कटु आलोचना की और पारंपरिक भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रति स्वाभिमान पैदा किया।

शिक्षा के क्षेत्र में स्वामी दयानंद व उनके अनुयायियों का विशेष योगदान है। उनके बाद स्थान-स्थान पर डी.ए.वी. स्कूलों, कॉलेजों, गुरुकुलों एवं कन्या पाठशालाओं की स्थापना हुई। एक ओर पाश्चात्य शिक्षा शैली पर लाला हंसराज ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया, वहीं भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति पर आधारित गुरुकुलों की स्थापना स्वामी श्रद्धानंद ने की।

स्वामी दयानंद ने आश्रम व्यवस्था को महत्त्व दिया और वर्ण व्यवस्था को गुण व कर्म के अनुसार ही मानने को कहा। छुआछूत-प्रथा का विरोध किया और नारी के प्रति सम्मान को बढ़ावा दिया। बाल-विवाह, कन्या-वध, पर्दे की प्रथा जैसी कुरीतियों का विरोध किया।

राष्ट्रीय जागरण में स्वामी दयानंद ने स्वदेशी, स्वधर्म, स्वभाषा और स्वराज्य पर बल दिया। संभवतः वे स्वराज्य के पहले संदेशवाहक थे। स्वामी दयानंद ने बताया कि 'कोई कितना ही कहे परंतु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि व उत्तम होता है।' एनी बेसेंट ने कहा था कि 'दयानंद पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने भारतीयता का नारा लगाया।' दयानंद ने विदेशी शासन की कटु आलोचना की और इसका कारण आपस की फूट, अशिक्षा, बाल-विवाह, वेदों का कुप्रचार और देशभक्ति का अभाव बताया। स्वामी दयानंद ने भारत की दासता को अपना मूल रोग बताया। अंग्रेज़ सरकार उनकी आक्रामक वाणी से इतनी आतंकित हुई कि लॉर्ड नार्थब्रुक (1872-1876) ने स्वामी दयानंद के पीछे गुप्तचर छोड़ दिए और उसकी सूचना ब्रिटिश सरकार को भी दी गई। स्वामी

दयानंद ने भारतीय रियासतों के पतन का मूल कारण उनका भोग-विलासी जीवन बताया। वस्तुतः स्वामी दयानंद की प्रेरणा से देशभक्ति और राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत नवयुवकों की एक शृंखला खड़ी हुई। लाला हंसराज, पं. लेखराज और स्वामी श्रद्धानंद जैसे व्यक्ति इसी श्रेणी में आते हैं। लाला लाजपतराय ने लिखा कि 'स्वामी जी ने देशभक्ति और देश सेवा का बीज हमारे हृदय में बोया।' बाल गंगाधर तिलक, अरविंद घोष, सुभाष चंद्र बोस, लाजपतराय और श्यामजी कृष्ण वर्मा जैसे अनेक नेता उनके विचारों से प्रभावित हुए।

इसमें संदेह नहीं कि स्वामी दयानंद ने सोए भारत के नवयुवकों को झकझोर कर खड़ा किया। स्वदेश प्रेम और स्वाभिमान की भावना जगाई, पर इसके साथ यह कहना भी गलत न होगा कि उन्होंने एक नूतन अंधविश्वास को भी जन्म दिया कि वेदों में त्रिकाल ज्ञान सन्निहित है। आर्यावर्त की सीमाएं विंध्याचल पर्वत पर आकर समाप्त हो गईं और यह दक्षिण भारत में नहीं फैला। साथ ही इनके अनुयाइयों ने सिद्धांतों के मंडन के स्थान पर दूसरे मतों के खंडन करने की प्रवृत्ति ज़्यादा विकसित की।

ज्योतिबा फुले

19वीं शताब्दी के उपरोक्त सामाजिक और धार्मिक सुधार आंदोलनों ने जहां मुख्यतः उत्तर भारत में हलचल मचाई, वहीं पश्चिम और दक्षिण भारत में कथित निम्न जातियों में भी चेतना जगाई। जाति-प्रथा की जटिलता का विरोध और समानता के सिद्धांत ने इन आंदोलनों को बढ़ावा दिया। अंग्रेज़ों द्वारा प्रदत्त कानून में समानता, रेल, तार, डाक व्यवस्था, शिक्षा, साहित्य और समाचार-पत्र – सभी ने इनमें चेतना जगाई।

इन निम्न कहलाने वाली जातियों के संघर्ष में ज्योतिराव गोविंदराव फुले (1827-1890) का नाम महत्त्वपूर्ण है। इनका जन्म माली परिवार में हुआ था। ऐसा कहा जाता है कि इनके पूर्वज पेशवाओं को पुष्प और फूल-मालाएं भेजते थे। अतः इन्हें फुले कहा जाता था।

ज्योतिराव बचपन से ही अत्यंत शीलवान थे। स्कॉटिश मिशन स्कूल में पढ़ते हुए उन्हें मानव अधिकारों और कर्तव्यों की जानकारी मिली। वे शिवाजी और जॉर्ज वाशिंगटन के जीवन से प्रेरित हुए। उन्होंने टॉमस पेन की 'राइट्स ऑफ मैन' पुस्तक पढ़ी थी और वासुदेव बलवंत फड़के से निर्भयता का पाठ। उनको अध्ययन से लगा कि सभी धर्मों में कुछ समानताएं हैं।

उन्होंने पिछड़ी जातियों में जागृति लाने के लिए प्रयत्न किए। उनको सामाजिक न्याय और आत्मसम्मान दिलाने के लिए कई कार्य किए। उन्होंने नारी शिक्षा के लिए प्रयत्न किए। 1851 में पूना में एक कन्या विद्यालय खोला। उन्होंने विधवा पुनर्विवाह के लिए प्रयास किए। उन्होंने 1873 में 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की। इसका उद्देश्य समाज में पिछड़े और उपेक्षित वर्ग को सामाजिक न्याय दिलाना था। उन्होंने कई विद्यालय और अनाथालय भी खोले। ज्योतिराव ने कई ग्रंथ भी प्रकाशित किए, जैसे– 'धर्म तृतीय रत्न', 'इशारा' और 'शिवाजी की जीवनी'। 1872 में उन्होंने एक पुस्तक 'गुलामगीरी' भी लिखी। इन ग्रंथों के द्वारा इन्होंने ब्राह्मणों के प्रभुत्व को चुनौती दी।

इन्होंने हंटर कमीशन के सम्मुख अपना आवेदन किया, जिसमें बतलाया गया कि ईसाई मिशनरियों का उद्देश्य न ही देशभक्ति पूर्ण है और न केवल शिक्षा तक सीमित है।

शीघ्र ही ज्योतिराव अपने समाज सुधार कार्यों से प्रसिद्ध हो गए थे। इन्हें 1876 में पूना नगर पालिका का सदस्य भी बनाया गया। 1888 में इन्हें लोग 'महात्मा' कहने लगे। जन-समाज में ये ज्योतिबा फुले

के नाम से विख्यात हुए। 28 नवंबर, 1890 को इनका देहांत हो गया।

सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों का प्रभाव

उपरोक्त प्रमुख आंदोलनों के अतिरिक्त विभिन्न प्रांतों में ऐसे अनेक आंदोलन, संप्रदाय और व्यक्ति हुए जिन्होंने समाज में चेतना जगाई—मुसलमानों में अलीगढ़ और देवबंद आंदोलन, सिक्खों में सिंह सभा और बाद में गुरुद्वारा सुधार आंदोलन हुए और दक्षिण में थियोसोफिकल सोसायटी बनाई गई। इसी प्रकार हिंदू समाज में प्रार्थना समाज, राधास्वामी मत, सनातन धर्म सभा, देव समाज, पारसियों में रहनुमाई भाजदयासन समाज (1851) आदि थे। इसी भांति गोपाल हरि देशमुख, के. टी. तेलंग, गोपाल गणेश आगरकर, आर. जी. भंडारकर, दादाभाई नौरोजी, नौरोजी फिरदौनजी, अन्ना दुरै और स्वामी रामतीर्थ जैसे विभिन्न व्यक्तियों ने धार्मिक और सामाजिक सुधारों में योगदान दिया।

19वीं शताब्दी में हुए प्रायः इन सभी सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों के क्रियाकलापों को ध्यान से देखने पर कुछ बातें समान दिखाई देती हैं। प्रथम, प्रायः सभी सुधारकों ने अपने चिंतन में मानव की तर्कबुद्धि, विवेक और स्वतंत्र विचारों पर बल दिया। अतः तर्कवाद तथा वैज्ञानिक और मानवीय दृष्टिकोण को बढ़ावा मिला। साथ ही पश्चिम के अंधानुकरण को रोका गया और इसके लिए सभी ने शिक्षा के महत्त्व को समझा। सभी संस्थाओं द्वारा अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र में स्कूल और कॉलेज खोले गए। सभी ने नारी शिक्षा पर बल दिया।

दूसरे, सभी सुधारकों ने जाति-प्रथा की जटिलता और छुआछूत पर करारे प्रहार किए। कुछ आंदोलनों का मुख्य मुद्दा ही ये बन गए। इस आधार पर सभी ने समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व की भावना पर बल दिया और समाज में एकता की दिशा निर्धारित की।

तीसरे, सभी ने सामाजिक कुरीतियों पर कटु प्रहार किए, विशेषकर विवाह संबंधी सुधारों के लिए आंदोलन हुए। चौथे, सभी ने धार्मिक दृष्टि से रूढ़िवादिता, अंधविश्वासों, पाखंडों और कुप्रथाओं को छोड़ने पर बल दिया।

पांचवें, इन सामाजिक और धार्मिक सुधार आंदोलनों ने आगामी राष्ट्रीय आंदोलनों की भूमिका तैयार की। समाज में व्यापक और देशव्यापी दृष्टिकोण जाग्रत किया। इन आंदोलनों से आत्मविश्वास, आत्मसम्मान और देशभक्ति की भावना बढ़ी। राष्ट्रीय चेतना आई। छठे, नकारात्मक दृष्टि से इस आंदोलन ने परस्पर प्रतियोगिता, स्पर्धा और कटुता को भी बढ़ावा दिया। इससे विभिन्न संप्रदायों में परस्पर तनाव उत्पन्न हुए। इसने सांप्रदायिक, हिंसात्मक दंगों और संगठनों को बढ़ावा दिया, जिसका लाभ उठाकर ब्रिटिश शासकों ने बीसवीं शताब्दी में परस्पर विभेद की नीति को भरपूर आगे बढ़ाया।

परंतु यह सोचना नितांत गलत होगा कि इन आंदोलनों ने भारतीय समाज और चिंतन को पूर्णतः बदल डाला। वस्तुतः ये धार्मिक और सामाजिक आंदोलन पुरातन और नवीनता, प्राचीन आस्था और नव बुद्धिवाद, परंपरा और आधुनिकता, अध्यात्मवाद और भौतिकतावाद, राष्ट्रीयता और सांप्रदायिकता के विचारों से ओतप्रोत थे। भारतीयों ने न तो पाश्चात्य शिक्षा अथवा उसके दर्शन को पूरी तरह अपनाया और न ही परंपरावादी अतीत को पूरी तरह से नकारा। सभी आंदोलनों में परंपरा और प्रगति का अद्भुत समन्वय दृष्टिगोचर होता है। ये सभी आंदोलन प्रायः मध्यमवर्ग और निम्नवर्ग की उपज थे, जो शनैः शनैः देश के सभी वर्गों तक पहुंचने का प्रयास कर रहे थे। इन सभी आंदोलनों ने समाज, शिक्षा और संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण सहायता की। संक्षेप में इन आंदोलनों ने राष्ट्रीयता की जड़ों को सींचा, जिसका पौधा बींसवी शताब्दी में अंकुरित, पुष्पित और पल्लवित हुआ। इन आंदोलनों ने देश की नई पीढ़ी को देश के नेतृत्व के लिए तैयार किया।

अभ्यास प्रश्न

1. भारत में राजा राममोहन राय आधुनिक काल के प्रणेता थे, इस कथन का विश्लेषण कीजिए।
2. लॉर्ड विलियम बैंटिक के काल में सती-प्रथा के उन्मूलन के पीछे क्या अवधारणाएं थीं? विचार व्यक्त कीजिए।
3. राजा राममोहन राय द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज ने भारत में सुधारवादी आंदोलन में क्या भूमिका निभाई? उनके पश्चात ब्रह्म समाज में क्या परिवर्तन आए?
4. ब्रह्म समाज आंदोलन में केशव चंद्र सेन की भूमिका की समीक्षा कीजिए। आप उनके विचारों और कार्यों में क्या विरोधाभास पाते हैं?
5. एक समाज सुधारक एवं शिक्षाविद् के रूप में ईश्वर चंद्र विद्यासागर की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
6. क्या आप इस बात से सहमत हैं कि बंकिम चंद्र 18वीं शताब्दी के भारतीय पुनरुत्थान के अग्रदूत थे? अपने उत्तर के कारणों को समझाइए।
7. समाज और धर्म के प्रति स्वामी विवेकानंद के विचारों की क्या महत्ता है? भारतीय राष्ट्रवादिता के अभ्युदय में उनका क्या योगदान है?
8. एक सुधारवादी एवं शिक्षाविद् के रूप में ज्योतिबा फुले की क्या भूमिका थी?
9. 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हिंदू पुनरुत्थान के प्रमुख बिंदु बताइए।
10. स्वामी दयानंद के जीवन और शिक्षा की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
11. टिप्पणी लिखिए—
    (क) रामकृष्ण परमहंस
    (ख) देवेंद्रनाथ टैगोर
    (ग) आर्य समाज
    (घ) 1856 का विधवा पुनर्विवाह अधिनियम

परियोजना कार्य

- 18वीं शताब्दी के विभिन्न सामाजिक-धार्मिक सुधारकों के विचारों में समानताओं एव विविधताओं को दिखाते हुए एक सारणी बनाइए।



अध्याय

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस
(1885-1905)

कांग्रेस की स्थापना से पूर्व की संस्थाएं

1885 में 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना हुई, परंतु राजनीतिक क्षेत्र में इसके पूर्व भी कई प्रांतीय अथवा क्षेत्रीय राजनीतिक संस्थाएं काम कर रही थीं। इन राजनीतिक संस्थाओं को दो भागों में बांटा जा सकता है। पहली श्रेणी में वे संस्थाएं आती हैं, जो 1857 से पूर्व स्थापित हो गई थीं। इनमें विशेष उल्लेखनीय बंगाल में लैंड होल्डर्स सोसाइटी (1838), ब्रिटिश इंडिया सोसाइटी (1843), ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन (1851), मद्रास में नेटिव एसोसिएशन (1852) और बंबई में बॉम्बे एसोसिएशन (1852) थीं। ये सभी संगठन स्थानीय या प्रांतीय अथवा क्षेत्रीय थे, राजनीतिक भावना जगाने में इनका योगदान सीमित था और इनकी अवधि भी थोड़ी थी।

विदेश में इस प्रकार के संगठन स्थापित करने का श्रेय दादाभाई नौरोजी को है। [illegible] में दादाभाई नौरोजी ने लंदन में '[illegible]' की स्थापना की। यह दादाभाई नौरोजी [illegible]। इसका उद्देश्य ब्रिटिश नेताओं को भारत की [illegible] की जानकारी देना और उनका भारतीय हितों की ओर ध्यान आकर्षित कराना था। उन्होंने भारत के आर्थिक शोषण से भी ब्रिटेन को अवगत कराया। शीघ्र ही वे भारत के पितामह (ग्रैंड ओल्ड मैन ऑफ इंडिया) कहे जाने लगे। बाद में उन्हें तीन बार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अध्यक्ष भी बनाया गया था।



दादाभाई नौरोजी

1857 के पश्चात देश–विदेश में कई महत्त्वपूर्ण राजनीतिक संगठन स्थापित हुए। 1867 में एक उल्लेखनीय संगठन 'पूना एसोसिएशन' के नाम से शुरू हुआ था। तीन साल बाद 2 अप्रैल, 1870 को उसका नाम 'पूना सार्वजनिक सभा' हो गया। इसके प्रमुख सदस्य गणेश वासुदेव जोशी, एस. एच. साठे, एस. एच. चिपलुंकर और महादेव गोविंद रानाडे थे। इसी भांति कलकत्ता में 25 सितंबर, 1875 को इंडियन लीग की स्थापना हुई। इसके प्रमुख सदस्य 'अमृत बाज़ार पत्रिका' के संपादक शिशिर कुमार घोष, शंभु चंद मुखर्जी, काली मोहन दास और जोगेश चंद्र दत्त थे। इसका उद्देश्य लोगों में राष्ट्रीयता की भावना जगाना और राजनीतिक शिक्षा देना था। बंगाल में अगले वर्ष 26 जुलाई, 1876 को एक और संस्था 'इंडियन एसोसिएशन' की स्थापना हुई। इसके प्रमुख सदस्य आनंद मोहन बोस और सुरेंद्रनाथ बैनर्जी थे। इस संस्था में अंग्रेज़ी पढ़े–लिखे भारत के मध्यम वर्ग का बाहुल्य था। तत्कालीन प्रमुख राजनीतिक आंदोलनों में, विशेषकर नागरिक सेवा आंदोलन में इस संस्था ने बढ़-चढ़कर भाग लिया। 1883 में सुरेंद्रनाथ बैनर्जी की गिरफ्तारी के विरुद्ध इस संस्था ने स्थान–स्थान पर विरोध किया। 1885 में इसकी लगभग साठ शाखाएं स्थापित हो चुकी थीं। मद्रास में भी 16 मई, 1884 को 'महाजन सभा' की स्थापना हुई। इसके प्रमुख पी. रंगिया नायडू, वी. राघवाचारी व आनंद चार्लू थे। इसका मुख्य उद्देश्य जनता की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करना था।

अतः 1870–1884 के बीच भारत के विभिन्न प्रमुख प्रांतों में कोई–न–कोई संगठन था, परंतु संपूर्ण भारत का कोई एक राजनीतिक संगठन न था। 1877 में लॉर्ड लिटन द्वारा आयोजित दिल्ली दरबार में आए हुए लोगों को देखकर भारतीयों में यह विचार भी पनप रहा था कि भारत के विभिन्न क्षेत्रों के राजनीतिक व्यक्ति भी वर्ष में एक बार किसी स्थान पर मिलें। सुरेंद्रनाथ बैनर्जी के भारत व्यापी दौरों और लॉर्ड रिपन के काल में प्रस्तावित इल्बर्ट बिल ने इस विचार को आगे बढ़ाया था। दिसंबर 1883 को 'इंडियन एसोसिएशन' का एक राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ, जिसमें 200 प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। इसी भांति 25 दिसंबर, 1885 को इसका दूसरा राष्ट्रीय सम्मेलन कलकत्ता में हुआ। अतः यह भारतीय राजनीतिक संगठन की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम थे।

कांग्रेस की स्थापना का मूल उद्देश्य

'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना के बारे में उसके संस्थापक और ब्रिटिश सरकार के भूतपूर्व सचिव ऐलेन ऑक्टेनियन ह्यूम, उसके परम मित्र व जीवनी लेखक सर वेडरबर्न, तत्कालीन वायसरायों– लॉर्ड रिपन व लॉर्ड डफ़रिन के वक्तव्यों और तत्कालीन गुप्त दस्तावेज़ों से पर्याप्त जानकारी मिलती है। ह्यूम ने, जो पहले सरकारी सेवा में था, भारत में अंग्रेज़ी शासन की नीतियों का गहराई से अध्ययन किया और इसकी आर्थिक असफलताओं को भी महसूस किया। ह्यूम ने लॉर्ड लिटन (1876–1880) के शासन काल में ही कागज़ातों के सात बड़े-बड़े बंडलों और सैकड़ों गुप्त रिपोर्टों से भी भारत की गरीबी और शिक्षित वर्ग में बढ़ते हुए असंतोष का अध्ययन किया था। ह्यूम को यह पक्का विश्वास हो गया था कि भारत राष्ट्रव्यापी हिंसात्मक विद्रोह के कगार पर खड़ा है। संभवतः 1879 में वासुदेव बलवंत फड़के के सशस्त्र विद्रोह ने यह आशंका और बढ़ा दी थी।

जब उत्तर-पश्चिम प्रांत के लैफ्टिनेंट गवर्नर सर ऑक्लैंड कालविन ने ह्यूम पर यह आरोप लगाया कि वह विद्रोह फैला रहा है, तो ह्यूम ने स्पष्टीकरण देते हुए कांग्रेस की स्थापना का उद्देश्य उजागर किया कि पश्चिमी विचारों, शिक्षा, आविष्कारों और यंत्रों से उत्पन्न हुई उत्तेजना बहुत तेज़ी से काम कर रही है और यह बात परम महत्त्व की बन गई है कि उस असंतोष को यहां–वहां फैलने की बजाए संवैधानिक ढंग से प्रचार करने के लिए कोई मार्ग ढूंढ़ा जाए। अतः

ब्रिटिश सरकार की निरंतरता और सुरक्षा के लिए कुछ न कुछ करना आवश्यक था।

इसके साथ ही भारत में अंग्रेज़ी पढ़ा-लिखा वर्ग धीरे-धीरे अपना स्वतंत्र अस्तित्व बना रहा था। यह भी डर था कि कहीं यह भी विद्रोह का रूप धारण न कर ले। सुरेंद्रनाथ बैनर्जी के नागरिक सेवा संबंधी आंदोलन ने उन्हें आपस में काफी हद तक एकता के सूत्र में पिरो दिया था।

लॉर्ड रिपन (1880-1884) इस नव परिवर्तन और चेतना को सूक्ष्मता से देख रहा था। वास्तव में इल्बर्ट बिल पास कराना ऐसे ही पढ़े-लिखे भारतीय लोगों को दिलासा देने का प्रयास था। परंतु अकस्मात इल्बर्ट बिल ने दूसरा ही रूप ले लिया, जिसका लॉर्ड रिपन को स्वप्न में भी खयाल न था। ह्यूम ने 1मार्च, 1883 को कलकत्ता विश्वविद्यालय के छात्रों के नाम एक खुला पत्र लिखकर भारत में एक संगठन बनाने की अपील की थी। 1884 के शुरू में उसने खुद 'अंतरंग मंडल' और 'हमारी पार्टी' नाम की बात भी शुरू कर दी थी। 1885 में अपनी पार्टी का नाम 'इंडियन नेशनल यूनियन' बताया था। दिसंबर में इसी को 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' कहा गया।

लॉर्ड रिपन जाति भेद के आधार पर न्याय के क्षेत्र में कुछ असमानताएं दूर करना चाहता था एवं न्यायिक सेवा में भारतीय ज़िला एवं सत्र न्यायाधीशों को यूरोपीय न्यायाधीशों की भांति शक्तियां और अधिकार देना चाहता था, परंतु यूरोपियों की तीव्र प्रतिक्रिया के कारण उसे अपना बिल (Ilbert Bill) बदलना पड़ा।

इल्बर्ट बिल आंदोलन ने जहां भारतीयों की आंखें खोल दीं, वहां ब्रिटिश लिबरल सरकार को भी विपरीत पाया। ह्यूम ने लिबरल सरकार के प्रति जनाक्रोश प्रकट करने की बजाए रिपन का समर्थन करने को कहा। स्थान-स्थान पर रिपन के विदाई समारोहों को सफल बनाने में ह्यूम के समर्थकों का बड़ा योगदान रहा। कुछ विद्वानों का मत है कि यह संभव हो सकता है कि रिपन ने ही ह्यूम को शिक्षित भारतीयों के संगठन बनाने की सलाह दी हो।

ह्यूम ने मई 1885 के प्रारंभ में लॉर्ड डफ़रिन से मुलाकात की थी और अनुरोध किया था कि प्रथम सम्मेलन की अध्यक्षता बंबई के गवर्नर लॉर्ड रीको करें, परंतु डफ़रिन ने यह स्वीकार नहीं किया। लॉर्ड डफ़रिन सरकारी अधिकारियों को इससे अलग रखना चाहता था। इसी बीच 14जुलाई, 1885 से 2दिसंबर, 1885 तक ह्यूम इंग्लैंड में रहा और वहां नवंबर 1885 में होने वाले चुनाव में भारतीयों के समर्थन का प्रयत्न करता रहा। पूना में हैज़ा फैलने से यह सम्मेलन बंबई में हुआ।

संक्षेप में इस कथन को बड़ा बल मिलता है कि कांग्रेस की स्थापना का उद्देश्य प्रारंभ में अंग्रेज़ी शासन को मजबूत बनाना था। लाला लाजपतराय ने लिखा है—

'कांग्रेस की स्थापना का मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य को खतरे से बचाना था, भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए प्रयास करना नहीं, ब्रिटिश साम्राज्य का हित प्रमुख था और भारत का गौण।'

कांग्रेस की स्थापना के संदर्भ में एक अन्य मत भी है। कांग्रेस स्थापना के लिए उस समय की राष्ट्रव्यापी हलचलें, देशभक्ति की भावना, विभिन्न वर्गों में व्याप्त बेचैनी, ब्रिटेन की लिबरल पार्टी से भारतीयों को निराशा व विभिन्न राजनीतिक संगठनों द्वारा एक केंद्रव्यापी संगठन की आवश्यकता भी महत्त्वपूर्ण कारण कहे जा सकते हैं। अतः कुछ विद्वानों ने इसे राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति माना है। सुरेंद्रनाथ बैनर्जी और उनकी इंडियन एसोसिएशन ने इसकी भूमिका तैयार कर दी। यदि ह्यूम प्रयत्न न करते तो अन्यत्र कोई और करता। आंशिक रूप से

ह्यूम को भारतीय हितों से कुछ लगाव भी था। साथ ही जिन्होंने कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में भाग लिया, उनकी देशभक्ति पर ज़रा भी संदेह की दृष्टि से देखना गलत होगा। लाजपतराय ने माना कि ह्यूम के उद्देश्य सच्चे थे। उनका हृदय भारत की दुर्दशा और गरीबी पर दुःखी होता था।

इसी भांति कुछ अन्य लेखकों ने कांग्रेस की स्थापना का उद्देश्य भारतीय राजनीतिज्ञों द्वारा पूंजीपतियों के हितों की सुरक्षा बताया, लेकिन यह कथन मान्य नहीं है। वास्तव में इस समय तक न तो भारत में पूंजीवाद का इतना ज़ोर ही था और न ही प्रभाव। इसकी स्थापना को ब्रिटिश सरकार की एक पूर्व निश्चित गुप्त योजना कहना भी गलत होगा। कांग्रेस के प्रथम अध्यक्ष सर व्योमेश चंद्र बैनर्जी ने इसके घोषित उद्देश्य देश के विभिन्न भागों में राष्ट्रहित के लिए सक्रिय कार्यकत्ताओं के बीच मैत्रीपूर्ण संबंध बढ़ाना, राष्ट्रीय एकता की भावना बढ़ाना और जाति, धर्म या प्रांत के आधार पर भेदभाव को आपसी संपर्क द्वारा दूर करना, भविष्य में उठने वाली सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं पर भारतीय शिक्षित वर्ग का अभिमत संग्रह करना तथा आगामी वर्ष के लिए राष्ट्रहित को पूरा करने की दृष्टि से भारतीय राजनेताओं के लिए नीति तय करना बताए थे। निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रारंभ में कांग्रेस की स्थापना का उद्देश्य भारतीय जनता व सरकार के बीच बिगड़ते संबंधों को सुधारना व ब्रिटिश साम्राज्य के हित में पढ़े-लिखे लोगों से संपर्क बनाए रखना था। यद्यपि ह्यूम को भारतीयों से सहानुभूति थी, फिर भी वह एक अंग्रेज़ था और भारत में ब्रिटिश राज्य को सतत देखना चाहता था। उसे भारत में हिंसात्मक क्रांति का आभास हो रहा था। इसलिए वह क्रांनिकारी प्रवाह को संवैधानिक दिशा देना चाहता था। साथ ही यह भी सत्य है कि यह छोटा-सा संगठन शीघ्र ही राष्ट्रव्यापी हो गया और भारतीय भावनाओं की अभिव्यक्ति करने लगा।

कांग्रेस का स्वरूप

कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन 28दिसंबर, 1885 को दिन के 12 बजे बंबई में गोकुल दास तेजपाल संस्कृत कॉलेज के भवन में हुआ। इसमें 72 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इनमें 38 प्रतिनिधि बंबई प्रेसीडेंसी, 21 मद्रास प्रेसीडेंसी, 3 बंगाल प्रेसीडेंसी, 6 उत्तर-पश्चिम प्रदेश व अवध से और 3 पंजाब से थे। अधिवेशन की अध्यक्षता कलकत्ता के प्रसिद्ध बैरिस्टर और ह्यूम के मित्र व्योमेश चंद्र बैनर्जी ने की। अतः प्रारंभ में ही इसे राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान हुआ। अलग-अलग स्थानों में इसके वार्षिक सम्मेलन करना, जहां सम्मेलन हो वहां का अध्यक्ष न चुनना, सभी धर्मों, संप्रदायों के नेताओं को अध्यक्ष पद क्रमानुसार पहले अधिवेशन से ही देने का सिलसिला शुरू करना और सामाजिक विषयों को कांग्रेस अधिवेशनों की चर्चा से अलग रखना जैसे कार्यों से इसे राष्ट्रीय स्वरूप मिला। धीरे-धीरे आगामी वर्षों में भारत के विभिन्न प्रदेशों का प्रतिनिधित्व बढ़ता गया।

कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में विभिन्न वर्गों, धर्मों और संप्रदायों के प्रतिनिधि आए। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रथम रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि इसमें बैरिस्टर, सॉलीसिटर, वकील, व्यापारी, ज़मींदार, साहूकार, डॉक्टर, पत्रों के संपादक व मालिक, कॉलेजों के प्राचार्य व प्राध्यापक, स्कूलों के प्रधानाध्यापक, धार्मिक गुरु और सुधारक उपस्थित थे। धर्म व संप्रदाय की दृष्टि से इसमें हिंदू, मुसलमान और ईसाई उपस्थित थे। देशों की दृष्टि से भारतीय, यूरेशियन और यूरोपीय लोग थे। अतः इसमें सभी जातियों, संप्रदायों और वर्गों का प्रतिनिधित्व था।

राजनीतिक दृष्टि से इसमें प्रायः सभी प्रमुख देशी राजनीतिक संस्थाओं और अंग्रेज़ी व भारतीय समाचार-पत्रों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। इसके साथ ही इसमें लैजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य, म्युनिसिपल कमेटियों और स्थानीय बोर्डों के अध्यक्ष और सदस्य भी थे।

परंतु यह सत्य है कि प्रारंभ में कांग्रेस साधारण जनता का संगठन न थी। लोकमान्य तिलक के कांग्रेस में आगमन पर यह संस्था जन-साधारण के निकट आई और महात्मा गांधी के काल में इसका राष्ट्रव्यापी स्वरूप बना। जहां तक सरकारी रवैए का प्रश्न है, कांग्रेस का प्रारंभ लॉर्ड डफ़रिन की जानकारी व आशीर्वाद से हुआ था। यह तय था कि सरकारी अधिकारी इसके कार्यक्रमों में स्वयं भाग नहीं लेंगे, परंतु यदि वे केवल देखना चाहें तो भाग ले सकते हैं। कांग्रेस के दूसरे कलकत्ता अधिवेशन में इसके प्रतिनिधियों को लॉर्ड डफ़रिन ने भोज दिया। मद्रास के तीसरे अधिवेशन में भी राजकीय प्रीतिभोज दिया गया, लेकिन शीघ्र ही सरकार से कांग्रेस का टकराव प्रारंभ हो गया।

प्रथम अधिवेशन में कुछ सरकारी अधिकारी भी उपस्थित थे, लेकिन शीघ्र ही जब लॉर्ड डफ़रिन कठोर हो गए, तो सरकारी अधिकारियों ने भी चौथे अधिवेशन में विरोधी स्वर अपनाया। उन्होंने ह्यूम को एक बहुत ही चालाक पर कुछ सिरफिरा, अहंकारी और नैतिकताहीन व्यक्ति बताया और कांग्रेस को 'पागलों की सभा', 'बाबुओं की संसद', 'खुर्दबीन से देखे जाने वाले अल्पसंख्यक' और 'बचकाना' कहना प्रारंभ कर दिया। बाद में आगामी वायसरायों – लॉर्ड लेंसडाउन, लॉर्ड एल्गिन, लॉर्ड कर्ज़न ने भी कांग्रेस की कटु आलोचना की। एल्गिन ने कहा कि, 'मुझे बड़ी खुशी है कि कांग्रेस बराबर नीचे की ओर जा रही है।' वह इसे 'राजद्रोही संस्था' मानता था। कर्ज़न ने 1900 में भारत मंत्री को लिखा कि 'मेरा यह अपना विश्वास है कि कांग्रेस लड़खड़ाती हुई पतन की ओर जा रही है और एक महान आकांक्षा यह है कि भारत में रहते समय उसकी शांतिमय मौत में मैं सहायता दे सकूं।'

कांग्रेस के प्रतिनिधियों के अध्ययन से भी यह ज्ञात होता है कि मुख्यत: वे सभी पढ़े-लिखे मध्यम वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे। इसमें वकील, अध्यापक तथा पत्रकार अधिक थे। वे सभी उच्च भावना से ओत-प्रोत थे और उनकी धारणा संवैधानिक उपायों से भारत का विकास करने की थी। यह सोचना अनुचित होगा कि वे सभी अंग्रेज़ी राज्य के हित में सोचते थे। प्रारंभ में कांग्रेस के सदस्य उदारवादी व राजभक्त थे। उनका अंग्रेज़ी की न्यायप्रियता में अटूट विश्वास था। राजभक्ति का प्रकटीकरण भाषणों का एक मुख्य भाग होता था। प्रथम अधिवेशन के समारोह का दायित्व ह्यूम को ही दिया गया था। ह्यूम ने महारानी विक्टोरिया की बड़ी प्रशंसा की और महारानी की जय-जयकार अधिवेशन के प्रारंभ में न करने पर माफी मांगी। अपने को महारानी के जूते के फीते खोलने के भी अयोग्य बताते हुए उसने प्रतिनिधियों से महारानी की जय-जयकार करने को कहा।

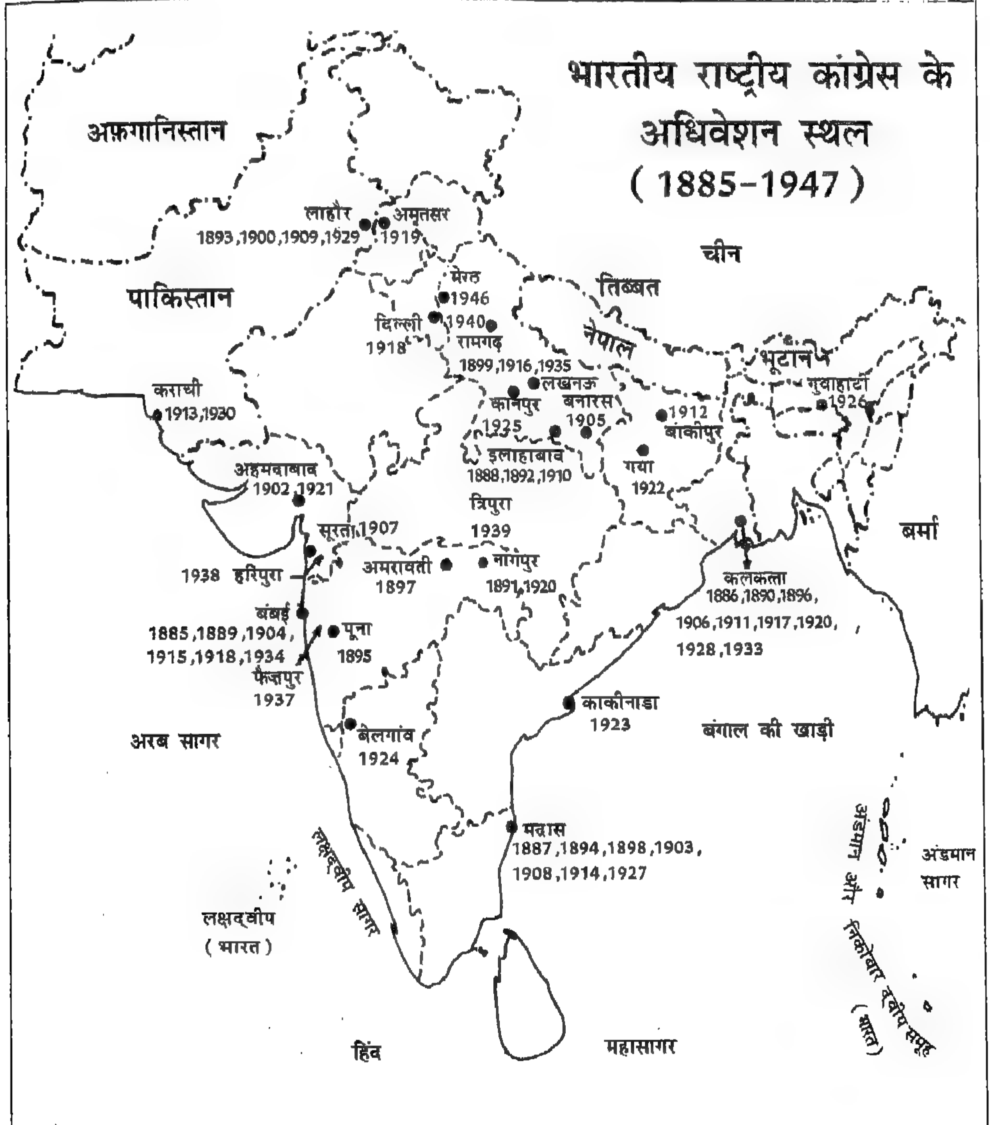
संक्षेप में कांग्रेस प्रारंभ में संविधानवादी व उदारवादियों का संगठन बनी रही, जिसमें मुख्यत: मध्यम वर्ग का प्रतिनिधित्व था। इसमें सभी वर्गों और धार्मिक संप्रदाय के लोगों ने भाग लिया। शुरू में इसे सरकार का आशीर्वाद प्राप्त था, लेकिन यह दिशा शीघ्र ही बदल गई। इसकी राजभक्ति राजद्रोह में बदल गई। समाज सुधार के नाम पर यह राजनीतिक मांगों को लेकर आगे बढ़ी। इसकी मांगें निरंतर बढ़ती गईं और इसका परिणाम देश की आज़ादी के रूप में हुआ।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और राष्ट्रीय आंदोलन का प्रथम चरण (1885-1905)

राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में अनगिनत व्यक्तियों और अनेक संस्थाओं का योगदान रहा है। किसी एक आंदोलन अथवा एक संस्था के साथ समस्त आंदोलन को जोड़ना गलत होगा। देश की आज़ादी के लिए कई प्रकार के प्रयास हुए, जिन्हें उदारवादी, राष्ट्रवादी और क्रांतिकारी कह सकते हैं।

उदार राष्ट्रवाद

सामान्यत: 1885-1905 के काल को उदारवादियों का काल या उदार राष्ट्रवाद का काल कहा जाता है।


भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के
अधिवेशन स्थल
(1885-1947)
अफ़गानिस्तान
पाकिस्तान
चीन
तिब्बत
नेपाल
भूटान
बर्मा
लाहौर
1893,1900,1909,1929
अमृतसर
1919
मेरठ
1946
दिल्ली
1918
1940
रामगढ़
1899,1916,1935
लखनऊ
कानपुर
1925
बनारस
1905
इलाहाबाद
1888,1892,1910
1912
बांकीपुर
गया
1922
गुवाहाटी
1926
कराची
1913,1930
अहमदाबाद
1902,1921
त्रिपुरा
1939
सूरत 1907
1938 हरिपुरा
अमरावती
1897
नागपुर
1891,1920
कलकत्ता
1886,1890,1896,
1906,1911,1917,1920,
1928,1933
बंबई
1885,1889,1904,
1915,1918,1934
पूना
1895
फ़ैज़पुर
1937
काकीनाडा
1923
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
बेलगांव
1924
मद्रास
1887,1894,1898,1903,
1908,1914,1927
लक्षद्वीप सागर
लक्षद्वीप
(भारत)
अंडमान और निकोबार द्वीप समूह
(भारत)
अंडमान
सागर
हिंद
महासागर



गोपाल कृष्ण गोखले

1885 में कांग्रेस की स्थापना के बाद इसकी प्रसिद्धि में देर न लगी। भारत के प्रत्येक प्रांत के पढ़े-लिखे, मध्यमवर्गीय लोग इस ओर आकृष्ट होने लगे। इसके वार्षिक अधिवेशनों में प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ने लगी। कांग्रेस की बढ़ती हुई लोकप्रियता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि इसके प्रतिनिधियों की संख्या 1885 में 72, 1886 में 434, 1887 में 607, 1888 में 1200, 1889 में 1889 तथा 1890 में 2000 तक हो गई।



फिरोज़ शाह मेहता



मदन मोहन मालवीय

कांग्रेस की बागडोर गोपाल कृष्ण गोखले, सुरेंद्रनाथ बैनर्जी, दादाभाई नौरोजी, फिरोज़ शाह मेहता जैसे नेताओं के हाथों में आ गई और इस संस्था में राष्ट्रभक्ति का पुट बढ़ता गया। प्रारंभ से ही अधिवेशनों के अध्यक्ष पद पर प्रायः जाने-पहचाने और प्रसिद्ध व्यक्ति होते थे। इस काल खंड में इस पद पर व्योमेश चंद्र बैनर्जी, दादाभाई नौरोजी, बदरुद्दीन तैयबजी, रमेश चंद दत्त, गोपाल कृष्ण गोखले, जॉर्ज यूल, रहीमतुल्ला, दीनशा वाचा, सुब्रह्मण्यम अय्यर, आनंद चार्लू, विलियम वेडरबर्न, सर फिरोज़ शाह मेहता, मदन मोहन मालवीय जैसे प्रसिद्ध नेता रहे।

❒ उदारवादियों की धारणाएं और कार्यक्रम

कांग्रेस के उदारवादी नेता अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे मध्यम वर्ग से संबंधित थे। इनकी धारणा थी कि अंग्रेज़ मूलतः सच्चे और न्यायप्रिय हैं। कांग्रेस के बारहवें अधिवेशन पर मुहम्मद रहीमतुल्ला ने यह कहा कि, 'संसार में सूर्य के नीचे शायद ही कोई इतनी ईमानदार और मज़बूत जाति हो जितना कि अंग्रेज़।' सामान्यतः वे ब्रिटिश शासन को एक वरदान के समान मानते थे। उन्हें लगता था कि शताब्दियों की अस्त-व्यस्तता और अराजकता के बाद कांग्रेस ने भारत में शांति और व्यवस्था का निर्माण किया है। उन्हें लगता था कि इसलिए हमें प्रभु का धन्यवाद करना चाहिए। दादाभाई नौरोजी ने कहा था कि केवल ब्रिटिश राज्य के कारण ही वे सब एक स्थान पर एकत्रित हो सके। शुरू में उदारवादियों को यह भी लगता था कि जो भी भारत में अब तक उन्नति हो पाई है, वह सब अंग्रेज़ों की देन है। उनकी यह धारणा थी कि अंग्रेज़ इतने दयालु और भले हैं कि यदि भारतीय ठीक प्रकार से अपनी मांगें उनके सामने रखें तो अंग्रेज़ अवश्य सहायता करेंगे।

1885-1905 तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने विभिन्न अधिवेशनों में अनेक प्रस्ताव पास किए। इन प्रस्तावों से कांग्रेस के कार्यक्रमों की दिशा का ज्ञान होता है। इन प्रस्तावों में ही कुछ महत्त्वपूर्ण मांगें निम्नलिखित थीं –

उदारवादियों ने कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में ही इंडियन कौंसिल में सुधार पर बल दिया। 1858 के अधिनियम द्वारा निर्मित भारत सचिव और इंडियन कौंसिल को समाप्त करने की मांग की गई, क्योंकि उसमें कोई भी भारतीय प्रतिनिधि नहीं था। इसके विपरीत अपने दसवें अधिवेशन में कॉमन्स सभा की एक स्थाई समिति बनाने का प्रस्ताव किया जो भारत सचिव को सलाह दिया करे।

उदारवादियों ने प्रारंभ में वैधानिक परिवर्तनों की मांग की। इन्होंने यह मांग की कि प्रांत में भी विधान परिषदों का पुनः गठन किया जाए। भारतीयों की संख्या बढ़ाई जाए। यह भी मांग की कि परिषद् के आधे सदस्य निर्वाचित हों और साथ ही अप्रत्यक्ष चुनाव का सिद्धांत मान लिया जाए। यह कहा जा सकता है कि इन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप 1892 का इंडियन कौंसिल ऐक्ट पास हुआ।

उदारवादियों ने उच्च सरकारी पदों पर भारतीयों की नियुक्ति के प्रश्न पर विशेष महत्त्व दिया। प्रतियोगिता की आयु में बढ़ोतरी और भारत में भी परीक्षा देने की सुविधा की मांग की गई। इसमें कुछ सफलता भी मिली। परीक्षा में बैठने की आयु 19 वर्ष की बजाए 23 वर्ष कर दी गई। उदारवादियों ने कांग्रेस के पहले अधिवेशन में ही सैनिक खर्चों की कटौती की मांग की। कहा गया कि भारतीयों पर देश के बाहर होने वाले युद्धों के सैनिक खर्चे का बोझ न लादा जाए। भारतीय सेना का देश के बाहर साम्राज्य विस्तार के लिए उपयोग न किया जाए। सैनिक सेवा में भारतीयों को उच्च स्थान और भारत में सैनिक विद्यालयों की स्थापना की मांग की।

न्यायपालिका के क्षेत्र में शासन और न्याय कार्य को एक-दूसरे से अलग करने को कहा। 1893 में इन दोनों के मिश्रण को ब्रिटिश शासन पर एक कलंक बताया। प्रारंभ में कांग्रेस ने कृषि के मामलों में कोई रुचि न दिखाई, लेकिन कांग्रेस के चौथे अधिवेशन में भूमिकर को स्थाई, निश्चित और कम करने को कहा। किसानों को सस्ते ब्याज़ पर ऋण देने के लिए कृषि बैंकों की स्थापना की मांग की। ज़मींदारों के शोषण से भी किसानों की रक्षा की बात कही गई। इसी भांति 1892-93 में जंगलात के कानूनों की कठिनाइयां भारत सरकार के सामने रखीं। जंगलों की सीमाएं तय करने और वहां रहने वालों की सुविधाओं की आवश्यकता पर बल दिया।

व्यापार, वाणिज्य एवं उद्योग की प्रगति के लिए कहा गया। स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग पर बल दिया गया। 1901 में एक औद्योगिक प्रदर्शनी भी शुरू की

गई। नए-नए उद्योग खोलने और औद्योगिक व टेक्निकल स्कूलों के खोलने की मांग की गई।

स्थानीय स्व-शासन में निर्वाचित सदस्यों की संख्या और उनकी शक्तियां कम करने पर उसकी कटु आलोचना हुई और इसे वापस लेने का अनुरोध किया गया।

शिक्षा के प्रचार-प्रसार पर भी बल दिया। भारतीय शिक्षण संस्थाओं के अध्यापकों की राजनीतिक गतिविधियों पर रोक लगाने के आदेश की कटु आलोचना की। विश्वविद्यालय अधिनियमों की भी आलोचना की।

उदारवादियों ने नागरिक अधिकारों की रक्षा की भी मांग की। राजद्रोह संबंधी कानून को वापस लेने को कहा। लोकमान्य तिलक की गिरफ्तारी पर तीव्र प्रतिक्रिया की। महिलाओं को मताधिकार देने का सुझाव दिया। नागरिकों की आर्थिक दशा सुधारने पर बल दिया और देश में फैली बेकारी, भुखमरी और गरीबी को दूर करने को कहा।

उपरोक्त विभिन्न मांगों एवं प्रस्तावों से उदारवादियों के दृष्टिकोण का पता चलता है। अधिकतर मांगें बार-बार दोहराई जाती रहीं, लेकिन ब्रिटिश सरकार ने बहुत कम मांगों पर ध्यान दिया।

❐ *उदारवादियों की कार्यविधि*

उदारवादियों का संवैधानिक आंदोलन में पूरा विश्वास था। वे समाचार-पत्रों, भाषणों और वार्षिक अधिवेशनों द्वारा अपना प्रचार करते थे। जन-सभाओं द्वारा नेता प्रभावशाली शैली में अपना भाषण देते थे। नपे-तुले शब्दों में अकाट्य प्रमाणों से वे अपनी मांगों को प्रस्ताव के रूप में रखते थे। इन प्रस्तावों को पास करके सरकार के पास भेजते थे। इससे जनता में जागृति आती थी। इसी तरह प्रेस द्वारा अपनी मांगें सरकार के सामने रखते थे। समय-समय पर वे सरकार को प्रार्थना-पत्र और शिकायत-पत्र देकर अपने देशवासियों की कठिनाइयों की ओर ध्यान आकृष्ट कराते थे। उदारवादियों का यह भी खयाल था कि इंग्लैंड की सरकार व वहां की प्रजा को सही स्थिति का ज्ञान नहीं है। अतः समय-समय पर वे साहित्य व शिष्टमंडल इंग्लैंड भेज कर उनका ध्यान आकृष्ट करते थे। 1888 में विलियम डिग्बी के नेतृत्व में कांग्रेस ने अपनी एक शाखा इंग्लैंड में भी कायम की और 'इंडिया' नामक पत्रिका प्रारंभ की। दादाभाई नौरोजी और विलियम वेडरबर्न ने इसमें बढ़-चढ़कर भाग लिया।

❐ *उदारवादियों की सफलताएं और मूल्यांकन*

उदारवादियों के तरीके बहुत सीमित थे। उन्हें समुचित सफलता न मिली। संभवतः भारतीय जनमत राजनीतिक दृष्टि से अभी इतना तैयार नहीं था। सरकार का भय, आतंक व कठोर नीतियां भी उदारवादियों के रास्ते में रुकावट बनीं।

सरकार से टक्कर लेने के भय से ऐसी स्थिति को वे टालते रहते थे। उनके मार्ग में एक बड़ी रुकावट पैसे का अभाव थी। भारत के संपन्न वर्ग ने उन्हें कोई आर्थिक सहयोग नहीं दिया था। उदाहरणतः सुरेंद्रनाथ बैनर्जी और गोपाल कृष्ण गोखले अपने एक शिक्षक मित्र की मामूली-सी बचत पर गुज़ारा करते थे। कुछ आलोचकों ने उनकी कार्यविधियों की आलोचना करते हुए उन्हें आराम कुर्सी पर बैठकर चिंतन करने वाले राजनीतिज्ञ भी कहा है। वस्तुतः कुछ विद्वानों ने राजनीतिक आंदोलन को विदेशी उदारवादी सिद्धांतों का अंधानुकरण कहकर आलोचना की है।

बहुत से विद्वानों ने उदारवादियों की उपलब्धियों को महत्त्व नहीं दिया है। तत्कालीन शासक उनसे घृणा करते थे और उनका मज़ाक भी उड़ाते थे। संभवतः ये उदारवादी नेता यह भूल रहे थे कि ब्रिटिश शासन का मूल आधार भारत का आर्थिक शोषण व राजनीतिक पराधीनता था। उनकी ब्रिटिश न्याय व्यवस्था में अनावश्यक आस्था थी, पर उनके विचार सही

साबित नहीं हुए कि वे संवैधानिक तरीकों से अपनी बातों को मनवा लेंगे। यह भी कहा गया है कि अधिकतर उदारवादी नेता टकराव की नीति से बचना चाहते थे। उदारवादी नेताओं की मनोदशा का वर्णन गोपाल कृष्ण गोखले के इन शब्दों से जाना जा सकता है, 'तुम सरकार की शक्ति के विषय में नहीं समझ सकते, यदि कांग्रेस सरकार को चैलेंज दें तो सरकार इसे पांच मिनट में समाप्त कर देगी।' इसके साथ यह भी सत्य है कि उदारवादियों का भारत के जनमानस के साथ संपर्क न के बराबर था। सामाजिक वर्गों तक उनकी पहुंच धीरे-धीरे हुई।

यद्यपि यह सही है कि प्रारंभ के बीस वर्षों में राष्ट्रीय आंदोलन को एक निश्चित दिशा में सफलता न मिली, पर यह कहना भी गलत होगा कि यह आंदोलन पूर्णतः असफल रहा और इसकी कोई उपलब्धि नहीं है। उदारवादियों ने मध्यम वर्ग को संगठित करके भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का आधार तैयार किया। उन्होंने भारतीयों को राजनीतिक शिक्षा दी व राष्ट्रीय जागरण लाए। भारतीयों के हृदय में स्वशासन, समानता, जनतंत्र और स्वतंत्रता के प्रति चेतना आई। इन नेताओं ने यह बताया कि किस प्रकार भारत का आर्थिक शोषण हो रहा है और भारतीय धन का निष्कासन इंग्लैंड को हो रहा है। दादाभाई नौरोजी, महादेव गोविंद रानाडे और रमेश चंद्र दत्त उदारवादी नेता ही थे, जिन्होंने भारत में प्रतिवर्ष होने वाले आर्थिक निष्कासन (Economic Drain) के रहस्य का उद्घाटन किया।

सही बात तो यह है कि उदारवादियों के कार्यों का मूल्यांकन आज के संदर्भ में न करके तत्कालीन सामाजिक व राजनीतिक परिवेश एवं परिस्थितियों के संदर्भ में किया जाना चाहिए। उदारवादियों की नीतियां उक्त परिस्थितियों की दृष्टि से यथार्थवादी कही जा सकती हैं। कुछ ही वर्षों पहले 1857 का सशस्त्र विद्रोह समाप्त हुआ था। अतः समय की आवश्यकता राजनीतिक जनजागरण की थी। उदारवादियों ने जनमानस में देश सेवा और देशभक्ति की भावना जाग्रत की। गोखले ने 1905 में 'सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसायटी' की स्थापना की। उन्होंने स्वयं 'नाइटहुड' की उपाधि स्वीकार न की और न ही भारत सचिव की कौंसिल में स्थान ग्रहण किया था। सुरेंद्रनाथ बैनर्जी व रमेश चंद्र दत्त ने सुविधाओं का मार्ग छोड़कर दूसरा मार्ग अपनाया था। सभी ने स्वदेशी को अपनाया था। कुछ मामलों में दमनकारी नीति का डटकर विरोध भी किया था। उदाहरणतः लॉर्ड कर्ज़न के अनेक प्रतिक्रियावादी कानूनों की कटु आलोचना की थी। उनके प्रयासों से 1892 का अधिनियम पास हुआ, जो 1861 के अधिनियम से एक कदम आगे था और जिसने 1909 के अधिनियम की पूर्व भूमिका तैयार की थी। गोखले ने भारतीय विश्वविद्यालय बिल की कटु आलोचना की थी। उन्होंने 1905 के बंग-भंग का तीव्र विरोध किया था।

संक्षेप में उदारवादियों को आदर्शोन्मुख यथार्थवादी भी कह सकते हैं। वे व्यक्तिगत जीवन में आदर्शवादियों में से थे, पर परिस्थितियों के प्रति यथार्थवादी थे। अतः 1885-1905 तक का काल भारत में राष्ट्रीय आंदोलन की फसल बोने का समय था।

1893 का वर्ष : एक परिवर्तन बिंदु

वैसे तो इतिहास में प्रत्येक वर्ष का अपना वैशिष्ट्य और महत्त्वपूर्ण स्थान होता है, लेकिन 1893 के वर्ष को भारत के सांस्कृतिक और राजनीतिक अभ्युदय की दृष्टि से एक परिवर्तन बिंदु कहा जा सकता है। इसमें भारत की कुछ विशिष्ट प्रतिभाओं ने कुछ ऐसे कार्यों का प्रारंभ किया, जिसके प्रकटीकरण ने भारत के चित्र को ही बदल दिया। उसका संक्षिप्त विवेचन आवश्यक होगा।

1893 में स्वामी विवेकानंद (1863-1902) बड़ी कठिनाइयों और कष्टों को सहते हुए अमेरिका के शिकागो नगर में पहुंचे। सितंबर 1893 में वहां पर हो

रहे सर्व-धर्म सम्मेलन में पहले ही दिन उन्हें भी दो मिनट बोलने का समय दिया गया था। जैसे ही उन्होंने अपने वक्तव्य का संबोधन 'अमेरिका के भाइयो और बहनो' के साथ शुरू किया, तालियों की गड़गड़ाहट ने न केवल उन्हें, बल्कि भारत को विश्व के सर्वोच्च देशों में लाकर खड़ा कर दिया। उनकी कीर्ति संपूर्ण विश्व में फैल गई। उन्हें 'तूफानी हिंदू' कहा जाने लगा। उन्होंने अपने भाषण में भारत के पराधीन होने पर भी उसकी संस्कृति, धर्म और ज्ञान की एक अमिट छाप छोड़ी। वस्तुतः अभी तक भारत के लोग भी उनकी विद्वत्ता से परिचित न थे। अब वे विश्व में सबके चहेते बन गए। वे अमेरिका के बाद इंग्लैंड में भी रहे। भारत के सांस्कृतिक अग्रदूत के रूप में उन्होंने अपने अनेक प्रवचनों तथा व्याख्यानों से भारतीय संस्कृति और हिंदू धर्म को विश्व में पुनः प्रतिष्ठित किया। निःसंदेह भारतीय पुनर्जागरण को आध्यात्मिक आधार पर यथेष्ठ रूप से प्रभावित करने का श्रेय स्वामी विवेकानंद को ही जाता है। अमेरिका की धर्म संसद में उन्होंने हिंदू धर्म को मानवतावादी धर्म को विकसित करने का प्रयास माना और इसे मानव धर्म के तत्त्वों से परिपूर्ण बताया। साथ ही किसी भी प्रकार की धर्मांधता का विरोध किया।

जहां स्वामी विवेकानंद का अमेरिका गमन पाश्चात्य जगत में भारत की आध्यात्मिक ज्योति जगाने में अत्यंत महत्त्वपूर्ण था, वहां 14 वर्ष के बाद जनवरी 1893 में योगिराज अरविंद घोष (1872-1950) की भारत की भूमि पर वापसी हुई, जिन्होंने आध्यात्मिक और राजनीतिक चिंतन में भारत को दिशा दी। उन्होंने पूर्व एवं पश्चिम के चिंतन को पूर्णतः नकारा नहीं, बल्कि दोनों की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए व्यक्ति के जीवन में दोनों की अटूट भूमिका स्वीकार की। उन्होंने आध्यात्मिक क्षेत्र में व्यक्ति के लिए समष्टि का एक नवमार्ग प्रारंभ किया। उन्होंने भारत की भूमिका विश्व में गुरु की बतलाई जो पश्चिम में वैशिष्ट्य के साथ अग्रसर होगी, तो भारत पुनः विश्व-गुरु बनेगा। अरविंद ने भारत के तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलन का भी अध्ययन किया। उन्होंने कांग्रेस के संविधानिक प्रयासों की कटु आलोचना की, जिसमें अर्जी और प्रार्थना की बात कही गई थी। 1893 में उन्होंने एक लेखमाला 'न्यू लैंप फॉर ओल्ड' प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने कांग्रेस नेताओं की अंग्रेज़ों के प्रति भक्ति, डरपोक भाषा और अंग्रेज़ी राज्य को एक वरदान मानने की नीति की कटु आलोचना की। इसमें उन्होंने कांग्रेस की कार्य प्रणाली की आलोचना की। अतः उनके इन लेखों से कांग्रेस में भी चेतना आई और कालांतर में उन्हें अपना मार्ग बदलना पड़ा।

1893 का वर्ष इसलिए भी विशिष्ट है कि इस वर्ष 16नवंबर, 1893 को एनी बेसेंट (1847-1933) भारत आईं। वे वाराणसी शहर में रहने लगीं और उन्होंने भारत में बसने का निश्चय किया। उन्होंने भारतीयों से कहा कि, 'मैं हृदय से तुम्हारे साथ हूं और संस्कृति से भी मैं तुम्हीं लोगों मे से एक हूं।' वे भारतीय संस्कृति, धर्म एवं सभ्यता से बहुत प्रभावित थीं। थियोसोफिकल सोसायटी के प्रचार और प्रसार में उनका बड़ा योगदान रहा। उन्होंने भारत में शिक्षण संस्थाएं स्थापित करने में बहुत रुचि दिखाई। बाद में उन्होंने भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाई।

1893 का वर्ष महात्मा गांधी (1869-1948) के जीवनकाल का भी महत्त्वपूर्ण वर्ष था, जबकि वे अब्दुल्ला सेठ नामक एक व्यापारी के मुकद्दमे में दक्षिण अफ्रीका गए। वहां उन्हें गोरों की भारतीय और अफ्रीकियों के प्रति रंगभेद नीति का कटु अनुभव हुआ। उनकी वेशभूषा का मज़ाक उड़ाया गया। वहां उन्हें प्रथम श्रेणी का टिकट लेने पर भी रेलवे के डिब्बे में बैठने नहीं दिया गया। उन्हें भारतीय होने के कारण 3 पौंड की लाइसेंस फीस देने को कहा गया। यहां पर आकर वे पहली बार भारतीयों की समस्याओं से अवगत हुए। उन्होंने हिंदू-मुस्लिम एकता का स्वप्न

देखा और अपने अहिंसात्मक अवज्ञा आंदोलन का प्रारंभ किया। बाद में गांधी जी के उपरोक्त विचारों का स्वरूप भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का प्रमुख अंग बन गया।

क्रांतिकारी गतिविधियों की दृष्टि से भी 1893 का वर्ष महत्त्वपूर्ण है। नासिक में चापेकर बंधुओं ने एक गुप्त संस्था 'सोसायटी फॉर दी रिमूवल ऑफ ऑब्स्टेकल्स टु दी हिंदू रिलीजन' स्थापित की। उन्हें गुप्त संस्थाओं का विचार पूना के एक ठाकुर दास द्वारा बड़ौदा में प्राप्त हुआ था। दो ब्रिटिश अधिकारियों रैंड और एयर्स्ट ने दोनों बंधुओं को धोखे से पकड़ कर फांसी पर चढ़ा दिया। गुप्त समितियों का यह विचार आगे बढ़ा। बंगाल में इसे अरविंद घोष ने अपनाया और फिर यह बंगाल से बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और पंजाब तक फैला।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि 1893 का वर्ष बहुत महत्त्वपूर्ण साबित हुआ, क्योंकि यह आंशिक रूप से बाद के भावी आध्यात्मिक और राजनीतिक जागरण का आधार बना।

राष्ट्रवादी विचारों का उदय

देश में राजनीतिक ढांचे का तो निर्माण हो गया था, परंतु उसे वैचारिक स्थायित्व न मिला था। कांग्रेस के प्रारंभ के नेता अपनी विद्वत्ता, देशभक्ति और समर्पण भावना में किसी से पीछे न थे, परंतु उन्हें न तो अंग्रेज़ों की ईमानदारी और न्यायप्रियता पर कोई संदेह था और न ही उनका अपना कोई जनाधार था। उन्होंने अपने विचारों, भाषणों और लेखों द्वारा शिक्षित समाज को राजनीतिक शिक्षा के सिद्धांतों से परिचित कराया था, परंतु अब आवश्यकता उसके व्यावहारिक प्रयोग की थी। ये राजनेता विचारों से बड़े उदार थे, परंतु किसी प्रकार के राजनीतिक आंदोलन के लिए तत्पर न थे।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को स्थापित हुए लगभग 20 वर्ष हो गए थे, परंतु उसके फायदे समाज के सम्मुख दृष्टिगोचर नहीं हो रहे थे। कांग्रेस के कार्यक्रम और तरीके वर्ष में एक बार अधिवेशन करने और ब्रिटिश सरकार को अपने प्रस्तावों, सुझावों, प्रार्थना-पत्रों और स्मरण-पत्रों के भेजने तक सीमित थे। कभी-कभी कोई शिष्टमंडल भी इंग्लैंड भेज दिया जाता था, जो प्रायः वहां चक्कर लगाकर बैरंग वापस लौट आता था। इससे एक ओर उदारवादी नेताओं की लोकप्रियता कम हो रही थी, दूसरी ओर जन-असंतोष बढ़ता जा रहा था। उदारवादी नेताओं का संपर्क मुख्यतः कुछ अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे प्रबुद्ध लोगों तक था और उनकी सामान्य जनता- कृषक, मज़दूर, मध्यम वर्ग तक पहुंच न थी। इस कालखंड (1885-1905) में भारतीयों ने इतिहास के दो भयंकरतम अकालों (1896-1897 व 1899-1901) की चपेटों को सहा था। लाखों लोग मारे गए, करोड़ों रुपयों की संपत्ति नष्ट हो गई और लाखों बेघर और बेरोज़गार हो गए थे, परंतु कांग्रेस उनकी सहानुभूति में प्रस्ताव पास करने के अलावा कुछ न कर सकी थी।

भारतीय जनमानस में बढ़ते हुए असंतोष, सरकार की अकर्मण्यता और कांग्रेस की उदासीनता की अभिव्यक्ति राष्ट्रीय चेतना के रूप में हुई, उसके उन्नायक लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय और विपिन चंद्र पाल (लाल, बाल, पाल, जो भारतीय इतिहास में त्रिमूर्ति के नाम से जाने जाते हैं) थे, उन्होंने भारतीय जनमानस में आत्मसम्मान, आत्मविश्वास, देशभक्ति और साहस की भावना का संचार कर उसे कुछ करने को प्रेरित किया।

इन उन्नायकों में सर्वप्रथम बाल गंगाधर तिलक (1856-1920) थे, जिन्हें जनमानस में 'लोकमान्य तिलक' के नाम से जाना जाता है। वास्तव में वे इस नवीन राष्ट्रीय चेतना के प्रतिनिधि थे। महात्मा गांधी से पूर्व इस कोटि का कोई सर्वमान्य नेता न हुआ था। इनका जन्म 23 जुलाई, 1856 को महाराष्ट्र के रत्नागिरी में हुआ था। गणित और संस्कृत के प्रति इनका बचपन से लगाव था। इन्होंने बी. ए., एल. एल. बी. की शिक्षा प्राप्त कर 1880 में एक स्कूल प्रारंभ किया था। शिक्षा के क्षेत्र में कम खर्च करके राष्ट्रीय दृष्टिकोण देना

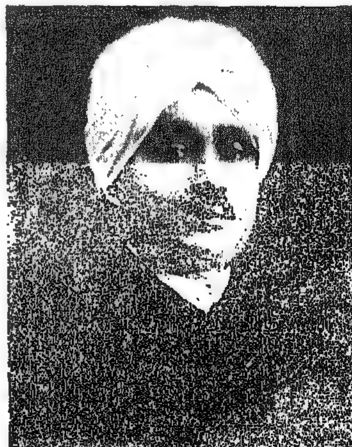


बाल गंगाधर तिलक

उनके सार्वजनिक जीवन की शुरुआत थी। 1881 में उन्होंने 'मराठा' (अंग्रेज़ी) और 'केसरी' (मराठी) नाम के दो पत्रों द्वारा नवजागरण प्रारंभ किया था। ये दोनों ही पत्र अपनी निर्भीकता के कारण जाने जाते थे। 1889 में कांग्रेस के बंबई अधिवेशन में इन्होंने पहली बार भाग लिया और अगले तीस वर्षों तक वे उसके प्रमुख नेता बने रहे। उन्होंने गणेशोत्सव और शिवाजी उत्सव के माध्यम से समाज को जोड़ने और राष्ट्रवादी भावना जाग्रत करने का काम किया। 1906 में उन्होंने 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' और 'स्वराज्य के बिना हमारा जीवन और धर्म व्यर्थ है' का उद्घोष किया। सरकार की कटु आलोचना के कारण 1908 में इन पर राजद्रोह का अभियोग लगाकर छह वर्ष की जेल की सज़ा दी गई, जिसके विरोध में नागपुर में मज़दूरों ने भी हड़ताल की। 1916 में होमरूल लीग स्थापित की। तिलक को ब्रिटिश सरकार द्वारा 'भारतीय असंतोष का जनक' और 'सबसे बड़ा राजद्रोही' कहा गया। 1920 में उनकी मृत्यु हो गई।

इस श्रेणी में दूसरे बड़े नेता लाला लाजपतराय (1865-1928) थे। इन्हें 'शेर-ए-पंजाब' के नाम से भी पुकारा जाता है। इनका जन्म फिरोज़पुर के ढूंडके नामक गांव में 28जनवरी, 1865 को हुआ। लाजपतराय उन पहले व्यक्तियों में से थे, जिन्होंने जन-जीवन में हिंदी को प्रोत्साहन दिया। वे प्रारंभ से ही आर्य समाज से प्रभावित थे। उन्होंने हिसार में वकालत प्रारंभ की थी, लेकिन शीघ्र ही लाहौर चले गए। राजनीति में आने से पहले उन्होंने यूरोप और भारत के अनेक महान पुरुषों के जीवन का अध्ययन किया था। 1888 में इलाहाबाद में उन्होंने पहली बार कांग्रेस अधिवेशन में भाषण भी दिया। उनकी अगले वर्ष ह्यूम से भेंट हुई, लेकिन उन पर उसका विपरीत प्रभाव पड़ा। उन्होंनें कांग्रेस को 'सेफ़्टी वाल्व' बताया। लाजपतराय ने 'पंजाबी' समाचार-पत्र निकाला। बाद में अंग्रेज़ी में 'दि पीपल' पत्र भी निकाला। अंग्रेज़ सरकार ने पंजाब में उनके कृषि आंदोलन का नेतृत्व करने और उनके लेखों पर उन्हें कारावास की सज़ा देकर मांडले जेल भेज दिया। उन्होंने कई बार यूरोप का प्रवास भी किया। 1928 में साइमन कमीशन का विरोध करते हुए उन पर लाठियों की मार पड़ी, जिसके कारण कुछ समय बाद 17नवंबर, 1928 को उनका देहांत हो गया।

लाजपतराय सही अर्थों में राष्ट्र के नेता थे। उनका कृषकों, मज़दूरों और देश के क्रांतिकारियों से निकट



लाला लाजपतराय

का संबंध था। जुझारू प्रवृत्ति होने के कारण ब्रिटिश सरकार उनसे सदैव सतर्क रहती थी। भारत के वायसराय लॉर्ड मिंटो ने अपने पत्र में लिखा था कि 'कांग्रेस बड़ी वफ़ादार है पर लाजपतराय बड़ा खतरनाक है।' एक दूसरे वायसराय लॉर्ड हार्डिंग ने भी उन्हें एक 'खतरनाक षड्यंत्रकारी' बताया था। संक्षेप में, लाजपतराय ने भी सैकड़ों नवयुवकों में देशभक्ति की भावना जाग्रत की।

लाल, बाल, पाल की त्रिमूर्ति में तीसरे नायक थे विपिन चंद्र पाल (1858-1932)। इनका जन्म



विपिन चंद्र पाल

तत्कालीन बंगाल के सिलहट जिले के प्योल गांव में 7 नवंबर, 1858 में हुआ था। प्रारंभ में ये ब्रह्म समाज के संपर्क में आए और बाद में वे इसके प्रवक्ता के रूप में मध्य यूरोप व अमेरिका भी गए। उनमें राष्ट्रीय भावना का उद्भव राजनारायण वसु, नव गोपाल मित्र और उनके हिंदू मेलों से हुआ। वह उन दोनों को आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के प्रारंभकर्ताओं में मानते थे। वे बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय और उनके प्रमुख पत्र 'बंग दर्शन' से भी बहुत प्रभावित थे। उनकी दृष्टि में बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय बंगाल के सर वाल्टर स्कॉट की भांति थे। विपिन चंद्र पाल ने 'न्यू इंडिया' नामक एक अंग्रेज़ी साप्ताहिक समाचार-पत्र भी निकाला। उन्होंने 1905 में बंग-भंग और उसके विरोध में हुए बहिष्कार और स्वदेशी आंदोलन मे बढ़-चढ़कर भाग लिया था। 1906 में उन्होंने 'वंदेमातरम्' नामक समाचार-पत्र निकाला। 1907 में उन पर भी राजद्रोह का मुकद्दमा चलाकर उन्हें भी कारावास भेज दिया गया।

अतः इस नए परिवर्तनकारी युग को लाने वाले प्रमुख नेता लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय और विपिन चंद्र पाल थे। इस चेतना को जगाने में अरविंद घोष ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी, जिसका अन्यत्र वर्णन किया जाएगा। बाद में एनी बेसेंट भी अपने विचारों द्वारा इसमें प्रखरता लाईं। इन्हीं के कारण बाद में महाराष्ट्र, पंजाब और बंगाल भारतीय राष्ट्रीयता के केंद्र बन गए।

❑ *राष्ट्रवादी विचारों के उदय के कारण*

इस संदर्भ में कुछ विद्वानों ने इस काल को उग्र राष्ट्रवाद का नाम भी दिया है। अतः सर्वप्रथम उग्र राष्ट्रवाद शब्द को जानना आवश्यक है। वास्तव में उग्र राष्ट्रवाद कोई वैज्ञानिक शब्द नहीं है। इसे केवल तुलनात्मक अर्थ में ही समझा जा सकता है। तिलक ने भी स्वयं उग्र राष्ट्रवाद शब्द के बारे में कहा था, 'हमारी नीतियों के संदर्भ में दो नए शब्द हाल ही में अस्तित्व में आए हैं और वे हैं—नरमपंथी (उदारवादी) और गरमपंथी (उग्रवादी)। ये शब्द वस्तुतः समय के साथ विशिष्ट संबंध रखते हैं। समयानुसार ही इनमें परिवर्तन आ जाएगा। आज के उग्रवादी कल नरमपंथी

महात्मा गांधी ने 'हिंद स्वराज' में लिखा – हमारे नेताओं में दो दल हो गए हैं। एक मोडरेट व दूसरा एक्सट्रीमिस्ट, उनको हम 'धीमे और उतावले' कह सकते हैं (नरम व गरम दल शब्द भी चलते हैं)। कुछ लोग मोडरेट को 'डरपोक पक्ष' और एक्सट्रीमिस्ट को 'हिम्मत वाला' पक्ष भी कहते हैं।

थे और उसी प्रकार आज के नरमपंथी कल उग्रवादी बन जाएंगे।'

20वीं शताब्दी के प्रारंभ में राष्ट्रवाद के उदय के कुछ प्रमुख कारण निम्न हैं–

ब्रिटिश शासन के सही स्वरूप की पहचान : ब्रिटिश शासन की सीधी स्थापना और महारानी विक्टोरिया की शाही घोषणा द्वारा भारतीयों को अनेक आश्वासन दिए गए। इसके बाद 1861 और 1892 में संवैधानिक नियम भी बनाए गए, परंतु भारतीयों में असंतोष व निराशा की भावना बराबर बनी रही। अत: राष्ट्रीयता की उग्र भावना होना स्वाभाविक था। लाजपतराय ने कहा था, 'बीस वर्ष तक निरंतर कठिनाइयों को दूर करने और सुविधाएं प्राप्त करने के जनांदोलन से उन्हें रोटी के बजाए पत्थर ही मिले थे।' उन्होंने पुन: आह्वान किया था, 'भारतीयों को अब भिखारी बने रहने में ही संतोष नहीं करना चाहिए और न ही इन्हें अंग्रेज़ों की कृपा पाने के लिए गिड़गिड़ाना चाहिए।' इसी तरह के विचार लोकमान्य तिलक, अरविंद घोष और विपिन चंद्र पाल ने भी दिए थे। इन्हें लग रहा था कि भारतीय मांगों की निरंतर उपेक्षा हो रही है।

1885 से 1905 तक देश-विदेश में अनेक घटनाएं हुई थीं। 1892 से 1906 तक कुछ समय छोड़कर इंग्लैंड में अनुदार दल का ही शासन रहा। इस काल खंड में अधिकतर इंग्लैंड का प्रधान मंत्री लॉर्ड सैलिसबरी ही रहा। इस दल की नीति भारतीय मांगों के प्रति प्राय: उपेक्षापरक ही रही। इस काल में भारत में तीन वायसराय – लॉर्ड लैंसडाउन, लॉर्ड एल्गिन द्वितीय और लॉर्ड कर्ज़न रहे। ये सभी अत्यधिक प्रतिक्रियावादी थे। 1892 में संवैधानिक नियम तो बना, लेकिन इसमें केंद्रीय विधान परिषद् में चुनाव के लिए सीधे निर्वाचन के सिद्धांत को स्वीकार न करने से कोई लाभ नहीं हुआ। आर्थिक दृष्टि से ब्रिटिश पूंजीपतियों के हितों का संरक्षण बढ़ा। उद्योगों में स्वतंत्र व्यापार नीति चलती रही। एक-एक करके प्राय: सभी वस्तुएं आयात-कर से मुक्त कर दी गईं। ब्रिटिश व्यापारियों को ध्यान में रखते हुए भारत में तैयार सूती कपड़े पर 1893 में एक्साइज़ ड्यूटी लगा दी गई, ताकि भारतीय कपड़ा सस्ता न मिल सके। बाद में यह नीति 1926 तक चलती रही। भारतीय रुपए के अवमूल्यन ने यहां के उद्यागों को बड़ा आघात पहुंचाया। 1892 में भारत का रुपया दो शिलिंग से घटकर एक शिलिंग दो पैंस के बराबर रह गया। धन का तेजी से इंग्लैंड की ओर निष्कासन हुआ। अकेले घरेलू खर्च पर 1901 में 1 करोड़ 70 लाख पौंड खर्च होने लगा। घरेलू खर्च से तात्पर्य भारतीय धन से इंग्लैंड में होने वाले मुद्दों पर खर्चों से है।

वायसराय लॉर्ड एल्गिन द्वितीय के काल में 1896-97 में वर्षा के अभाव में एक भयंकर अकाल पड़ा, जिससे भारत का एक लाख पच्चीस हज़ार वर्ग मील का क्षेत्र प्रभावित हुआ। इससे तीन करोड़ चालीस लाख जनता प्रभावित हुई। इस भयंकर अकाल में ब्रिटिश सरकार के अंतर्गत भारत के लगभग साढ़े सात लाख व्यक्ति मरे। सरकार ने अकाल पीड़ितों की सहायता के लिए कोई विशेष कार्य नहीं किया। केवल एक कमीशन बैठाया। इतना ही नहीं उसने 1897 में तिलक पर राजद्रोह का अभियोग लगाकर 18 महीने का कारावास दे दिया। नाटु बंधुओं को क्रांतिकारियों को सहयोग देने के संदेह के आधार पर संपत्ति ज़ब्त कर देश-निकाला दे दिया गया।

लॉर्ड कर्ज़न का सप्तवर्षीय शासन भय और अहंकार पर आधारित था। समस्याओं के समाधान की बजाए उसने अनेक नवीन समस्याओं को जन्म दिया। गोपाल कृष्ण गोखले ने लॉर्ड कर्ज़न की तुलना मुगल बादशाह औरंगज़ेब और रूस के ज़ार से की, जो निरंकुश शासन में ही विश्वास करते थे। कर्ज़न एक घोर अहंकारवादी और गोरी जाति की श्रेष्ठता की कुंठाओं से ग्रसित वायसराय था। उसने अपने शासन काल में ऐसे अनेक कार्य किए जिससे जनाक्रोश बढ़ा। उदाहरणत: 1904 में शासकीय गोपनीयता नियम

पारित किया गया, जो न्याय-विरुद्ध था, जिसमें सरकारी कार्यों का भेद देना दंडनीय अपराध माना गया और समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता को सीमित कर दिया। 1899 में कलकत्ता कॉरपोरेशन ऐक्ट पास करके सदस्यों की संख्या भी घटा दी गई और सरकारी हस्तक्षेप को बढ़ावा दिया गया। 1904 में भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम पारित किया गया, जिससे सरकारी नियंत्रण बढ़ा। इसके बारे में पंजाब के 'दी ट्रिब्यून' नामक समाचार-पत्र ने टिप्पणी करते हुए लिखा है कि –

'ऐक्ट निश्चित रूप से एक शर्मनाक ज़बरदस्ती का परिचायक था, जिसकी समानता संपूर्ण भारतीय कानून के इतिहास में नहीं मिलती। अगर यह ज़ुल्म और जुर्म नहीं, तो यह बताना कठिन है कि यह क्या है?'

इतना ही नहीं लॉर्ड कर्ज़न के काल में ही एक और भयंकर अकाल 1899-1900 में पड़ा, परंतु उसकी परवाह न करते हुए जनवरी 1903 में दिल्ली में एक शानदार दरबार का आयोजन कर एडवर्ड सप्तम के भारत के सम्राट होने की घोषणा की गई, जिस पर भारी धनराशि खर्च हुई। इसी प्रकार का अंधाधुंध खर्च, सीमांत नीति के अंतर्गत तिब्बत, फ़ारस की खाड़ी और चीन में सेना भेजकर किया गया। इन सभी की भारतीयों में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। इसी भाँति 11फ़रवरी, 1905 को कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में भी भारतीयों के चरित्र पर कटु आक्षेप किए गए। उसने पूर्वी लोगों को 'मक्कार', 'भारतीयों को अयोग्य' और 'शिक्षक वर्ग को झूठा' कहा। 16 अक्टूबर, 1905 को बंगाल विभाजन की घोषणा उसका अंतिम धमाका था, जिसने राष्ट्रवादियों और उदारवादियों को भी झकझोर दिया।

आत्मसम्मान और आत्मविश्वास की भावना का विकास : 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सामाजिक और सांस्कृतिक आंदोलनों ने स्वाभिमान, त्याग और आत्मविश्वास की भावना पैदा करने का कार्य किया। स्वामी विवेकानंद, अरविंद घोष, एनी बेसेंट ने समाज को जाग्रत करने में महान योगदान दिया। स्वामी विवेकानंद ने भाषण में कहा था, 'लंबी से लंबी रात्रि अब समाप्त होती जान पड़ती है। हमारी मातृभूमि अब गहरी नींद से जाग रही है। कोई भी शक्ति उसे अब उन्नति से नहीं रोक सकती। संसार की कोई भी शक्ति उसे पीछे नहीं धकेल सकती, क्योंकि वह अत्यंत शक्तिशाली देवी अब अपने पैरों पर खड़ी हो गई है।' स्वामी विवेकानंद ने भारतीयों में आत्मविश्वास की अद्भुत शक्ति जगाते हुए पुनः कहा –

'आत्मविश्वास का आदर्श ही हमारी सर्वाधिक सहायता कर सकता है। यदि अब तक हमें आत्मविश्वास की शिक्षा दी गई होती और उसका अभ्यास कराया गया होता तो मेरा विश्वास है कि जिन आपदाओं और बुराइयों से हम घिरे हुए हैं, उसमें से अधिकांश लुप्त हो गई होतीं। मानव जाति के संपूर्ण इतिहास में समस्त महान पुरुषों एवं नारियों के जीवन में यदि कोई मानसिक शक्ति सबसे प्रबल दिखाई देती है, तो वह है उनका आत्मविश्वास।'

अतः स्वामी विवेकानंद ने देश को आत्मविश्वास और स्वाभिमान की प्रेरणा देते हुए देश के नवयुवकों में विदेशी सत्ता का विरोध करने के लिए नवीन उत्साह पैदा किया। लोकमान्य तिलक ने भी स्वधर्म, स्वराज्य, देशभक्ति का भाव जगाते हुए कहा–

'स्वराज्य अथवा स्वशासन, स्वधर्म के पालन के लिए आवश्यक है, बिना स्वराज्य के न कोई सामाजिक सुधार, न कोई औद्योगिक प्रगति, न कोई उपयोगी शिक्षा और न ही राष्ट्रीय जीवन की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए हम यह बताना चाहते हैं कि भगवान ने हमें संसार में इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए भेजा है।'

अरविंद घोष ने कहा था, 'स्वतंत्रता हमारे जीवन का उद्देश्य है और हिंदू धर्म ही हमारे इस उद्देश्य की पूर्ति करेगा। राष्ट्रीयता एक धर्म है और वह ईश्वर की देन है।' विपिन चंद्र पाल ने बंगाल में काली [illegible] दुर्गा के नाम से समाज में 'आत्म[illegible]

और आत्मबलिदान का संचार किया।' अतः संक्षेप में इन राष्ट्रवादी नेताओं ने देशवासियों के जीवन में आत्मविश्वास और स्वाभिमान जगाते हुए राष्ट्रीय चेतना का संचार किया जो देश की सर्वाधिक आवश्यकता थी, जिसके अभाव में किसी भी प्रकार की राजनीतिक अथवा आर्थिक प्रगति अधूरी होती। इन नेताओं ने भारतीयों की सुषुप्त आत्माओं को झकझोरने का कार्य किया, जो किसी भी राष्ट्र को खड़ा करने की प्रथम शर्त होती है।

विदेशी आंदोलनों और घटनाओं का प्रभाव : विदेश में हुई अनेक घटनाएं भी राष्ट्रवादी भावनाएं विकसित करने में सहायक सिद्ध हुईं। 1896 में अबीसीनिया (इथोपिया) की इटली पर विजय और 1904-05 में एक छोटे से देश जापान की एक विशाल देश रूस पर विजय से भारतीयों में उत्साह का संचार हुआ। जापान की रूस पर विजय पूर्व की पश्चिम पर विजय समझी गई। इससे पश्चिम के प्रभुत्व का स्वप्न टूट गया और भारतीयों में विश्वास, त्याग, देशभक्ति तथा स्वाभिमान की भावना का विकास हुआ। रूस, आयरलैंड, चीन, मिश्र और टर्की की जनता के संघर्ष से भी भारतीयों में संघर्ष और राष्ट्रीयता की भावना जागी।

ब्रिटिश उपनिवेशों में भारतीयों के साथ अभद्र व्यवहार : समय-समय पर ब्रिटिश उपनिवेशों में भारतीयों के साथ बड़ा ही घृणित, अभद्र और अपमानजनक व्यवहार हुआ, जिससे भारतीयों में रोष बढ़ा। मुख्यतः दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ निम्न कोटि का व्यवहार होता था और वे द्वितीय श्रेणी के नागरिक समझे जाते थे। रंगभेद नीति के कारण भारतीयों को 'काला आदमी' कहा जाता था और उन पर तरह-तरह के प्रतिबंध लगे होते थे। विशेषकर दक्षिण अफ्रीका में वे कोई जमीन नहीं [illegible] सकते थे। वे [illegible] के साथ प्रथम श्रेणी के [illegible] नहीं बैठ सकते थे। चलने के लिए [illegible]कें मार्ग भी अलग थे। उनके बच्चे कुछ निश्चित स्कूलों में ही पढ़ सकते थे। भारतीयों को अपना अलग रजिस्ट्रेशन कराना पड़ता था और अपनी छाती पर एक बिल्ला लगाकर घूमना पड़ता था। गांधी जी द्वारा इस दिशा में किए गए प्रयासों से भी भारतीयों में तीव्र रोष की भावना एवं नवचेतना उत्पन्न हुई। 1903 में दक्षिण अफ्रीका से लौटकर आए। डॉ. बी. एस. मुंजे ने इस अपमानजनक स्थिति के बारे में बताया था कि हमारे शासक इस बात पर विश्वास ही नहीं करते कि हम भी मनुष्य हैं।

जातीय एवं सांप्रदायिक कटुता में बढ़ोतरी : अंग्रेज़ प्रारंभ से ही उच्च जातीय अहंकार से ग्रसित थे। अंग्रेजी वायसराय लॉर्ड लिटन और मुख्यतः लॉर्ड कर्ज़न ने इसे बढ़ाया। पूर्व में इल्बर्ट बिल विवाद भी इस बढ़ती हुई कटुता का कारण था। न्याय, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, कानून के प्रति समानता आदि केवल कागज़ी बातें थीं। जहां भारतीय समाचार-पत्र, प्रेस ऐक्ट के नियमों से बंधे हुए थे, वहीं अंग्रेज़ी समाचार-पत्र भारतीयों को मनमानी गालियों से विभूषित करते थे। उदाहरणतः लाहौर से प्रकाशित 'दी सिविल एंड मिलिट्री गज़ट' में पढ़े-लिखे भारतीयों के लिए 'वर्ण संकर बी. ए.', 'भिखारी', 'गुलाम' और 'दास' शब्दों का प्रयोग होता था। इतना ही नहीं अब भी भारतीयों को कोई भी ऊंचा पद नहीं दिया जाता था। नौकरियों में जातीय भेदभाव का बोलबाला था। जातीय भेदभाव के साथ अंग्रेज़ों की 'बांटो और राज करो' की नीति सफलता के साथ आगे बढ़ रही थी। अंग्रेज़ों का पक्षपातपूर्ण रवैया भारतीयों में परस्पर वैमनस्य एवं कटुता को बढ़ा रहा था।

उपरोक्त सभी कारणों से भारतीयों के सम्मुख ब्रिटिश नौकरशाही का रवैया सामने आया। इन सभी से असंतोष बढ़ा। समाचार-पत्रों तथा राष्ट्रीय साहित्य ने भी इस राष्ट्रवाद को बढ़ावा दिया और लाल, बाल, पाल के नेतृत्व में समूचे देश में आंदोलन, असहमति, असहयोग और टकराव का युग प्रारंभ हुआ।

अभ्यास प्रश्न

1. 1885 से 1905 के बीच भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कार्यक्रमों एवं नीतियों की विवेचना कीजिए। वे किस प्रकार पूर्व राष्ट्रवादियों को संतुष्ट करने में असफल रहीं ?
2. राष्ट्रवादी किस प्रकार से उदारवादियों से भिन्न थे ? राष्ट्रवादियों ने अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए क्या तरीके अपनाए ?
3. वर्ष 1893 का आधुनिक भारतीय इतिहास में क्या महत्त्व है ?
4. 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध एवं 20वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में राष्ट्रवादिता के उदय की प्रक्रिया में शामिल व्यक्तियों का विश्लेषण कीजिए।
5. 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध एवं 20वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भारत में राष्ट्रवादी आंदोलन के अभ्युदय का उल्लेख कीजिए।
6. राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन में बाल गंगाधर तिलक की भूमिका की विवेचना कीजिए।
7. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए–

   (क) विपिन चंद्र पाल

   (ख) लाला लाजपतराय

   (ग) विदेशी राष्ट्रवादी आंदोलन का भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम पर प्रभाव

परियोजना कार्य

- भारत के राष्ट्रवादी नेताओं के जीवन एवं महत्त्वपूर्ण कार्यों पर सामूहिक चर्चा आयोजित कीजिए।

अध्याय

बंग-भंग और स्वदेशी आंदोलन

बंग-भंग

कर्ज़न की साम्राज्यवादी तथा 'बांटो और राज करो' की नीति का सबसे बड़ा प्रमाण बंगाल विभाजन के रूप में सामने आया। उस समय बंगाल प्रांत में बंगाल, बिहार और उड़ीसा सम्मिलित थे। बंगाल विभाजन करने से पूर्व इसकी आवश्यकता पर अनेक तर्क दिए गए। प्रथम, बंगाल प्रांत का क्षेत्रफल और जनसंख्या बहुत अधिक थी। बंगाल के लैफ्टिनेंट गवर्नर को एक लाख नवासी हज़ार वर्ग मील शासन व्यवस्था की देखभाल करनी पड़ती थी। बंगाल की जनसंख्या सात करोड़ अस्सी लाख थी, जो तत्कालीन इंग्लैंड से लगभग दुगुनी थी। दूसरे, यातायात व्यवस्था की कमी थी। बंगाल के क्षेत्र में रेल लाइनों का निर्माण बहुत कम था। प्रांत का अधिकतर भाग विशाल नदियों और जल मार्गों से जुड़ा था। नौका द्वारा यात्रा बड़ी कष्टदायक होती थी। तीसरे, मार्गों की सुरक्षा व्यवस्था भी अपर्याप्त थी। चोरी-डकैती बड़ी संख्या में होती रहती थी। पुलिस व्यवस्था भी अच्छी न थी। चौथे, इस प्रदेश का किसान भी अत्यधिक परेशान था। बंगाल में बहुत पहले से ही भूमि के स्थाई प्रबंध होने से बेचारे किसानों की हालत अति दयनीय थी। अनुपस्थित ज़मींदार वर्ग गैर-कानूनी रूप से किसानों को बेदखल करते रहते थे और उनका जीवन कष्टमय बना हुआ था।

सामान्यत: तत्कालीन सरकार द्वारा बंग-भंग के उपरोक्त कारण बताए गए, जिन्हें 'शासकीय आवश्यकता' बताया गया, परंतु यथार्थ में विभाजन का मुख्य कारण शासकीय न होकर राजनीतिक था। बंगाल, राष्ट्रीय गतिविधियों का केंद्र बनता जा रहा था। कर्ज़न कलकत्ता और अन्य केंद्रों को नष्ट करना चाहता था। कलकत्ता केवल ब्रिटिश भारत की राजधानी ही नहीं, बल्कि व्यापार-वाणिज्य का स्थल और न्याय का प्रमुख केंद्र भी था। यहीं से अधिकतर समाचार-पत्र निकलते थे, जिससे लोगों में विशेषकर शिक्षित वर्ग में राष्ट्रीय भावना उदित हो रही थी।

विभाजन के उपरोक्त बताए गए शासकीय कारणों के साथ यदि बंगाल विभाजन के विचार की उत्पत्ति और परिस्थितियों का अवलोकन करें, तो यह कहना

गलत न होगा कि मूल विचार कर्ज़न से बहुत पहले का था। वास्तव में 1866-67 में उड़ीसा अकाल के समय से ही इस संदर्भ में विचार प्रारंभ हुआ था। 1874 में असम प्रांत अलग से बना दिया गया था। 1896 में असम के चीफ कमिश्नर विलियम वार्ड ने चटगांव, ढाका और मैमन सिंह का कुछ भाग असम प्रांत में मिलाने का सुझाव दिया। 1901 में संभलपुर ज़िले की अदालती भाषा उड़िया को बनाने पर एक विवाद उठ खड़ा हुआ। संभलपुर, जो कि उड़िया भाषी प्रांत था, तब सेंट्रल प्रोविंसिस का भाग था। यह विवाद कि संभलपुर को, जो कि उस समय सेंट्रल प्रोविंसिस का भाग था, अब सेंट्रल प्रोविंसिस में रखा जाए या फिर उड़ीसा में मिला दिया जाए, गहराने लगा। कुछ समय के लिए यह उपयुक्त माना जाने लगा कि पूरा उड़ीसा सेंट्रल प्रोविंसिस के साथ मिला दिया जाए, जो उस समय मुख्यतः आधुनिक मध्य प्रदेश वाला भाग था। मई 1902 में संभलपुर में हुई इस कागज़ी कार्यवाही पर कर्ज़न को बड़ा आश्चर्य हुआ। इसी बीच असम के मुख्य कमिश्नर विलियम वार्ड ने असम को चिटगांव का बंदरगाह देने का सुझाव दिया।

1903 में एंड्र्यू फ्रेज़र (Andrew Frazer) जब बंगाल का लैफ्टिनेंट गवर्नर बना, तो उसने विलियम वार्ड की योजना को विस्तृत रूप दिया। ढाका, मैमन सिंह और चटगांव को असम में मिलाने का सुझाव रखा। 1903 में लॉर्ड कर्ज़न ने इस योजना का समर्थन किया। उसने इसे बंगाल सरकार की कार्य की अधिकता से मुक्ति, निकाले गए ज़िलों की बेहतर व्यवस्था और तट का कुछ भाग असम को मिलने का अवसर बताया। इस संदर्भ में कर्ज़न ने पूर्वी बंगाल का दौरा किया। स्थान-स्थान पर कर्ज़न के विरोध में प्रदर्शन हुए। अप्रैल 1904 में कर्ज़न कुछ समय के लिए इंग्लैंड चला गया। योजना ज्यों-की-त्यों रही। लेकिन फ़रवरी 1905 में कर्ज़न के वापस लौटने पर भारत मंत्री ने कुछ सुझाव भेजे। 19 जुलाई, 1905 को भारत सरकार ने बंगाल के दो टुकड़े करने का प्रस्ताव रखा। प्रस्ताव के अनुसार पूर्वी बंगाल और असम को नया प्रांत बनाया गया जिसमें चटगांव, ढाका और राजशाही के डिवीजन सम्मिलित थे। नए प्रांत का क्षेत्रफल एक लाख छह हज़ार पांच सौ चालीस वर्ग मील निर्धारित किया गया, जिसकी आबादी तीन करोड़ दस लाख थी, जिसमें एक करोड़ अस्सी लाख मुसलमान और एक करोड़ बीस लाख हिंदू थे। नए प्रांत में एक विधान सभा और बोर्ड ऑफ रेवेन्यू की व्यवस्था थी और इसकी राजधानी ढाका निर्धारित की गई। दूसरी ओर पश्चिम बंगाल, बिहार और उड़ीसा थे। इसका क्षेत्रफल एक लाख इकतालीस हज़ार पांच सौ अस्सी वर्ग मील था और इसकी आबादी पांच करोड़ चालीस लाख, जिसमें चार करोड़ बीस लाख हिंदू और नब्बे लाख मुसलमान थे। भारत मंत्री ब्रॉडरिक (Brodrick) ने उक्त योजना में मामूली संशोधन करके इसकी स्वीकृति दे दी। भारत सरकार ने इस तमाम योजना को 'प्रशासकीय सीमाओं का निर्धारण मात्र' कहा। परिणामस्वरूप कर्ज़न ने 16 अक्टूबर, 1905 को बंगाल विभाजन की घोषणा कर दी। वस्तुतः यह कर्ज़न का सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी कानून था, जिसका सर्वत्र विरोध हुआ और जिसने शीघ्र ही एक आंदोलन का रूप ले लिया।

अरविंद घोष और उनकी राष्ट्रीय शिक्षा की योजना

भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में लाल-बाल-पाल के साथ अरविंद घोष (1872-1950) ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। विशेषकर बंग-भंग विरोधी आंदोलन में उनका अद्‌वितीय स्थान रहा। उनकी दो क्रांतिकारी योजनाओं, राष्ट्रीय शिक्षा का विकास और 'वंदेमातरम्' पत्र के संपादन ने इस आंदोलन को गति दी। अतः बंग-भंग विरोधी आंदोलन पर चर्चा से पूर्व इनकी भूमिका को जानना आवश्यक है।



अरविंद घोष

अरविंद घोष एक महान आध्यात्मिक पुरुष, कर्मयोगी, क्रांतिकारी होने के साथ ही एक महान शिक्षाविद् और चिंतक भी थे। यद्यपि उनकी शिक्षा योजना को पूर्णतः विकसित होने का मौका नहीं मिला, परंतु बंगाल में अध्यापन के अनुभवों के आधार पर वह शिक्षा के बारे में चिंतित थे, विशेषकर 1906 में कलकत्ता में आते ही वे प्रचलित शिक्षा पद्धति से बहुत परेशान हुए।

उन्होंने शिक्षा को राष्ट्रीय मांग के अनुरूप बनाने के लिए बड़ौदा छोड़कर कलकत्ता में नेशनल कॉलेज में आकर नौकरी की। यद्यपि वहां उनका वेतन बड़ौदा की तुलना में पांचवां हिस्सा ही था, पर उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया। यह कॉलेज 14अगस्त, 1906 को स्थापित हुआ था। अरविंद के अन्य सहयोगी डा. राधाकुमुद मुकर्जी व प्रमथनाथ मुखोपाध्याय जैसे विद्वान थे।

नेशनल कौंसिल ऑफ एजूकेशन की ओर से जब उन्हें कलकत्ता के एक कॉलेज में आने को कहा गया तो वह सहर्ष तैयार हो गए। अरविंद शिक्षा को एक महान राष्ट्रीय आंदोलन का अंग मानते थे, उनका विचार था कि 'प्रत्येक व्यक्ति के अंदर कुछ दिव्य वस्तु है। शिक्षा का कार्य उसे खोजना, विकसित करना और उपयोग में लाना है। शिक्षा का मुख्य लक्ष्य विकासशील अंतरात्मा द्वारा अपने अंदर से उस वस्तु को निकालना है, जो उसमें सबसे अच्छी हो और उसे किसी उदात्त उपयोग के लिए पूर्ण बनाती हो।'

अरविंद अपने विद्यार्थियों के बीच बहुत प्रिय थे। उन्होंने एक बार विद्यार्थियों के सम्मुख बोलते हुए शिक्षा की दिशा को स्पष्ट करते हुए बताया था -

"जब हमने इस कॉलेज की स्थापना की और काम-धंधे, जीवन के अवसर छोड़कर अपना जीवन इस संस्था को अर्पित किया, तो इस आशा से किया था कि यह एक राष्ट्र की नींव, उस नए भारत का केंद्र होगा, जो दुःख और कष्ट की इस रात के बाद महिमा और महानता के साथ उस दिन अपना नया जीवन शुरू करेगा, जब भारत जगत के लिए कार्य करेगा। हम यहां पर जो तुम्हें देना चाहते हैं, वह थोड़ी बहुत सूचना नहीं है, आजीविका के लिए नए मार्ग खोलना नहीं है, बल्कि हम मातृभूमि के लिए ऐसे पुत्रों को तैयार करना चाहते हैं, जो उसके लिए काम करें, उसके लिए कष्ट सहन करें।"

कुल मिलाकर उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा योजना की इन आवश्यकताओं पर बल दिया था – प्रथम, समाज केवल सफलता, कैरियर और धन को महत्त्व न दे, बल्कि इसके बजाए छात्र के पूर्ण विकास की सर्वोच्च आवश्यकता के लिए आग्रह करे। दूसरे, शिक्षा की आवश्यकता को उच्च प्राथमिकता देनी चाहिए और राष्ट्र जीवन में शिक्षा एक निरंतर प्रक्रिया के रूप में अपनाई जानी चाहिए। तीसरे, देश में सब आधुनिक तकनीकों का प्रयोग करना चाहिए। चौथे, देशभर के गांवों में भी स्थाई प्रशिक्षण की व्यवस्था और सकारात्मक प्रयास होने चाहिए। पांचवें, अध्यापकों को स्वयं वास्तविक उदाहरण बनकर दिखाना चाहिए और देश के लिए अपने मिशन की खोज में जुट जाना चाहिए।

'वंदेमातरम्' पत्र का संपादन

अरविंद घोष की दूसरी क्रांतिकारी देन 'वंदेमातरम्' पत्र का कार्यवाहक संपादन था। 6 अगस्त, 1906 को यह पत्र अंग्रेज़ी भाषा के एक दैनिक पत्र के रूप में शुरू हुआ। 2 जून, 1907 में यह साप्ताहिक रूप से भी निकलने लगा। दैनिक और साप्ताहिक दोनों ही पत्र 29 अक्टूबर, 1908 तक प्रचलित रहे।

यद्यपि पत्र के मुख्य संपादक विपिन चंद्र पाल थे और इनकी नियुक्ति सहायक संपादक के रूप में [illegible], परंतु अरविंद ही इस पत्र के प्रमुख मनस्वी, प्रा[illegible] केंद्रीय व्यक्ति थे। यह पत्र साहसपूर्ण वृत्ति, सशक्त विचारधारा, स्पष्ट भाव से ओत-प्रोत था। शीघ्र ही यह अपनी प्रखरता, स्पष्टता और स्वतंत्रता-प्रेम के लिए लोकप्रिय हो गया।

'वंदेमातरम्' की नीति के बारे में इसी पत्र के एक अंक में कहा गया है कि 'हिंसा का हिंसा से सामना करना, अन्याय की पोल खोलना और उसका विरोध करना, अत्याचार के आगे सिर झुकाने से इनकार करना, छल-कपट और विश्वासघात के गढ़ों को दूर करना, बहिष्कार और स्वदेशी को प्रोत्साहन देना, वंदेमातरम् की नीति के मुख्य फलक थे।'

अरविंद ने भारतीय पत्रकारिता को एक नवराष्ट्रवादी स्वर दिया। ब्रिटिश सरकार को शीघ्र ही इसमें राजद्रोह की झलक दिखाई देने लगी। अरविंद ने पत्र के माध्यम से अपने संघर्ष को 'राजनीतिक फाख्ताओं का चोंच मिलाना या गुटर-गूं करना न बताकर, अपने देश की अन्य राष्ट्रों में एक पृथक राष्ट्र के रूप में पुनः स्थापना करना बताया।'

बहिष्कार और निष्क्रिय प्रतिरोध

'वंदेमातरम्' में प्रकाशित लेखों में 11 अप्रैल से 23 अप्रैल, 1907 के अंकों में 'निष्क्रिय प्रतिरोध के सिद्धांत' शीर्षक के अंतर्गत सात लेख बड़े प्रसिद्ध हुए। शीघ्र ही ये लेख राष्ट्रीय चिंतन के दिशाबोधक स्वर बन गए। उन्होंने देश के नवयुवकों का आह्वान किया। उन्होंने अर्ज़ी, प्रार्थना, याचिकाओं को देने की प्रक्रिया को 'विषैला धोखा' बतलाया। इसके विपरीत उन्होंने आत्म-विकास और आत्म-रक्षात्मक प्रतिरोध करने को कहा। अरविंद ने लिखा, 'हम आत्म-विकास की नीति को राष्ट्रीय जीवन के हर विभाग में लाना चाहते हैं। केवल स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा ही नहीं, बल्कि राष्ट्रीय सुरक्षा, राष्ट्रीय पंचायती अदालतें, स्वास्थ्य रक्षा, दुर्भिक्ष बीमा या दुर्भिक्ष निवारण, हमारे हाथ में जो कुछ काम आएं या जो भी तुरंत करने की ज़रूरत हो, उसे हमें अपने आप करने का प्रयास करना चाहिए।'

अरविंद का यह भी कहना था, 'शुरू में हमारा रक्षात्मक प्रतिरोध मुख्य रूप से निष्क्रिय होना चाहिए, यद्यपि जब कभी बाध्य हों, तो उसे सक्रिय प्रतिरोध द्वारा संपूर्ण करने के लिए तैयार रहना चाहिए।' 'वंदेमातरम्' के लेख ब्रिटिश सरकार को सहन न हो सके और 30 जुलाई, 1907 को अरविंद पर राजद्रोह का मुकद्दमा चला। 16 अगस्त को उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया, लेकिन सरकार को प्रमाण न मिलने पर उन्हें 23 दिसंबर, 1907 को छोड़ दिया गया।

संक्षेप में बंग-भंग विरोधी अभियान में अरविंद के बहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा संबंधी विचार मुख्य मुद्दे बन गए। इससे पूर्व 1906 के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में दादाभाई नौरोजी ने इन पर प्रस्ताव पारित किए। 1907 में वे बहिष्कार और निष्क्रिय प्रतिरोध आंदोलन के प्राण बन गए।

स्वदेशी व बहिष्कार आंदोलन एवं इसका प्रभाव

लॉर्ड कर्ज़न के बंग-भंग के बहुत दूरगामी परिणाम हुए, इसने भारतीयों में एक नई राष्ट्रीय चेतना भर दी और विभाजन विरोधी व स्वदेशी आंदोलन को जन्म दिया। यह आंदोलन तब तक चलता रहा, जब तक भारत सरकार ने 1911 में बंगाल का एकीकरण नहीं कर दिया।

बंगाल विभाजन से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं और आंदोलनों के कारणों को भी यूरोपीय और भारतीय दृष्टिकोण से आंका जा सकता है। यूरोपीय दृष्टिकोण से इस विभाजन विरोधी आंदोलन का आकलन किया गया है। सर एंड्रूज़ फ्रेज़र ने इस आंदोलन के लिए कलकत्ता के वकीलों और वहां के स्थानीय अखबारों को ज़िम्मेदार ठहराया है। नए प्रांत बनने से वकालत के पेशे को हानि हुई और नए अखबारों के निकलने की संभावना से स्थानीय पत्रों ने इसकी आलोचना की। लॉवेट फ्रेज़र ने बंग-भंग विरोधी आंदोलन के कारणों को भारत की अपेक्षा लंदन की तत्कालीन घटनाओं में ढूंढ़ने का प्रयास किया। इसके अनुसार 16 अगस्त, 1905 को लॉर्ड कर्ज़न ने भारत मंत्री को त्यागपत्र दिया। इस त्यागपत्र में यह ध्वनि प्रतिध्वनित होती थी कि मानो बंगाल विभाजन की योजना केवल कर्ज़न की योजना थी। इस त्यागपत्र के बारे में लॉवट फ्रेजर (Lovat Frazer) ने लिखा है कि 'एक तार ने बंगाल में विद्रोह और अव्यवस्था फैलाने में ज़्यादा कार्य किया, बजाए बंगाली नेताओं के सैकड़ों उत्तेजक वक्तव्यों के।' लॉर्ड कर्ज़न के तत्कालीन भाषणों से भी ज्ञात होता है कि वह हिंदुओं और मुसलमानों में फूट डालकर राष्ट्रीयता की भावना को दबाना चाहता था।

बंगाल विभाजन की घटनाओं से भारतीयों में ज़बरदस्त प्रतिक्रिया हुई। भारत के सभी जन-नेताओं ने एक स्वर से इसकी कटु आलोचना की। इसे राष्ट्रीय एकता पर कुठाराघात कहा गया। इसे हिंदू-मुसलमानों को आपस में लड़ाने का एक षड्यंत्र कहा गया। इसका उद्देश्य पूर्वी बंगाल को, जो सरकारी गुप्त दस्तावेज़ों में षड्यंत्रकारियों का अड्डा था, नष्ट करना बताया गया। इस बंग विभाजन को चुनौती के रूप में लिया गया। सुरेंद्रनाथ बैनर्जी ने विभाजन की घोषणा को एक बम विस्फोट की भांति बताया और कहा कि इसके द्वारा हमें अपमानित किया गया है। साथ ही इससे बंगाली परंपराओं, इतिहास और भाषा पर सुनियोजित आक्रमण किया गया है। गोपाल कृष्ण गोखले ने एक ही वाक्य द्वारा बंगाल को शांत करने की कोशिश की। गोखले ने इसे स्वीकार किया कि नवयुवक यह पूछने लगे हैं कि संवैधानिक उपायों का क्या लाभ है। क्या इसका परिणाम बंगाल का विभाजन है ? भारत के प्रमुख पत्रों 'स्टेट्समैन' और 'इंग्लिश मैन' ने भी बंग विभाजन का विरोध किया। 'स्टेट्समैन' ने लिखा –

'ब्रिटिश भारत के इतिहास में कभी भी ऐसा समय न आया जब कि सुप्रीम सरकार ने जन भावनाओं और जनमत को इतना कम महत्त्व दिया हो जैसा कि वर्तमान शासन ने।'

लंदन के प्रसिद्ध पत्र 'डेली न्यूज़' ने भारत मंत्री से विभाजन को तत्काल रोकने का आग्रह किया। 'मैक्डोनाल्ड' ने उसे प्लासी के युद्ध के बाद की सबसे बड़ी गलती बतलाया। 'मैनचेस्टर गार्जियन' के संवाददाता नेविनसन ने विभाजन को 'वर्तमान रूप में असंतोष का प्रारंभ' बताया।

बंगाल विभाजन की प्रतिक्रिया 16 अक्टूबर, 1905 से ही दिखाई देने लगी, जबकि बंगाल में इसे शोक दिवस के रूप में मनाया गया। लोगों ने व्रत रखा। गंगा स्नान किया। एक-दूसरे के हाथों में एकता का सूत्र राखी बांधी। जुलूस और प्रभात फेरियां निकालीं। समस्त बंगाल वंदेमातरम् के उद्घोष से गूंज उठा। सभी ने स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करने का प्रण लिया, साथ ही विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार भी किया। अतः बंग-भंग विरोधी आंदोलन शीघ्र ही स्वदेशी आंदोलन और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का आंदोलन बन गया। इस आंदोलन में सभी वर्गों और संप्रदायों ने भाग लिया। नवयुवक, स्त्री-पुरुष, शिक्षित-अशिक्षित सभी इससे प्रेरित हुए। यह आंदोलन केवल बंगाल की सीमाओं तक ही सीमित न रहा बल्कि सीमाओं को लांघकर अन्य प्रांतों में भी फैला। उदाहरणतः पंजाब में रावलपिंडी और अमृतसर जैसे स्थानों पर स्वदेशी का प्रयोग और विदेशी व विशेषकर

ब्रिटिश वस्तुओं के बहिष्कार के लिए अनेक सभाएं हुईं। लाजपतराय ने स्वदेशी आंदोलन के बारे में लिखा कि 'जब सैकड़ों वर्षों के कोरे शाब्दिक आंदोलन और कागजी आंदोलन फेल हो गए तो इस छह महीने या बारह महीने के सही काम ने सफलता प्राप्त की।'

वास्तव में बंगाल विभाजन और इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप आंदोलन ऐसी बड़ी घटनाएं थीं जिन्होंने लॉर्ड कर्ज़न की प्रतिष्ठा को धूल में मिला दिया और साथ ही एक ऐसी राष्ट्रीयता की भावना पैदा की, जो आगामी अनेक वर्षों तक लोगों को प्रेरणा देती रही। बंग-भंग उदारवादियों की आस्थाओं पर गहरा आघात था। इसने न केवल उग्र राष्ट्रवादी, बल्कि क्रांतिकारी गतिविधियों को भी बल दिया। इसने समूचे राष्ट्र में चेतना जगाई और एकता का भाव पैदा किया।

डॉ. एस. गोपाल ने लिखा है –

'कर्ज़न के बंगाल विभाजन ने अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं को अज्ञात प्रेरणा दी थी और स्वतंत्रता का जहाज़ अनेक वर्षों के बाद अपने बंदरगाह पर लौटा।'

अभ्यास प्रश्न

1. बंगाल-विभाजन के क्या कारण थे? क्या यह पूर्व नियोजित था?
2. अरविंद घोष की राष्ट्रीय शिक्षा योजना और उनके बहिष्कार एवं निष्क्रिय प्रतिरोध के विचारों पर एक निबंध लिखिए।
3. स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलनों का संक्षिप्त परिचय देते हुए लिखिए कि उनका क्या प्रभाव हुआ?

परियोजना कार्य

- बंगाल के विभाजन तथा उसके विभिन्न आयामों पर एक सामूहिक चर्चा आयोजित कीजिए और उसमें यह विचार कीजिए कि यह विभाजन प्रशासनिक अथवा राजनीतिक कारणों से प्रभावित था या नहीं।

10
अध्याय

क्रांतिकारी आंदोलन

1885 में कांग्रेस की स्थापना के पश्चात उदारवादियों को बार-बार ब्रिटिश सरकार से मांगों और प्रार्थनाओं के बाद भी कुछ न मिला। इसके विपरीत सरकार ने भारतीयों के प्रति अपना रुख कड़ा कर लिया, तो भारतीय नवयुवकों में वैधानिक मांगों के प्रति निराशा उत्पन्न हुई और क्रांतिकारी कार्यों को प्रोत्साहन मिला। भारतीय नवयुवक प्राय: देशभक्ति, त्याग और बलिदान के उच्च आदर्शों से प्रेरित थे और भारत को अंग्रेज़ों के चंगुल से छुड़ाना चाहते थे। अत: देश और विदेश में अनेक क्रांतिकारी घटनाएं हुईं।

महाराष्ट्र में क्रांतिकारी गतिविधियां

❑ *चापेकर बंधुओं का बलिदान (1897)*

महाराष्ट्र के चापेकर बंधुओं – दामोदर चापेकर व बालकृष्ण चापेकर ने क्रांतिकारी मार्ग को दिशा दी। उन्होंने 1893 में 'हिंदू धर्म संरक्षिणी' सभा बनाई। इसके अंतर्गत शिवाजी उत्सव व गणेश उत्सव मनाने प्रारंभ किए। चापेकर बंधुओं ने लोगों में देशभक्ति और उत्साह की भावना जाग्रत की। शिवाजी उत्सव पर चापेकर बंधुओं ने भाषण में कहा, 'केवल बैठे-बैठे शिवाजी की गाथा को दोहराने से स्वतंत्रता नहीं मिल सकती। हमें तो शिवाजी और बाजीराव प्रथम की तरह कमर कसकर विकट कार्यों में जुट जाना पड़ेगा। चुप मत बैठो, बेकार पृथ्वी पर बोझ मत बनो, हमारे देश का नाम तो हिंदुस्तान है, यहां अंग्रेज़ क्यों राज्य कर रहे हैं?'

इन दिनों पूना में भयंकर प्लेग फैला हुआ था। 1896-97 में उन्होंने पूना में व्यायाम मंडल की स्थापना की थी। 22 जून, 1897 को संपूर्ण ब्रिटिश साम्राज्य में महारानी विक्टोरिया के राज्याभिषेक की 60वीं जयंती बड़ी धूमधाम से मनाई गई। एक तरफ लाखों खर्च हो रहा था, दूसरी ओर प्लेग से लोग कीड़े-मकोड़ों की तरह मर रहे थे। पूना के प्लेग कमिश्नर रैंड व लैफ्टिनेंट एयर्स्ट प्लेग पीड़ितों को सहायता की बजाए आतंक ज़्यादा फैला रहे थे। अत: चापेकर बंधुओं ने उनकी हत्या का विचार किया और 22 जून को दोनों की हत्या कर दी गई।

इन दो अंग्रेज़ों की हत्या के समाचार से देश भर में सन्नाटा छा गया। हत्या की सूचना देने वालों के

आधार पर चापेकर बंधुओं को गिरफ्तार कर लिया गया और दोनों को फांसी की सज़ा दी। इन हत्याओं से देश में नवजागृति आई और क्रूर अत्याचारी अंग्रेज़ों की हत्या का क्रम प्रारंभ हुआ।

❒ सावरकर बंधुओं के कार्य

चापेकर बंधुओं की भांति सावरकर बंधुओं (गणेश सावरकर, विनायक सावरकर और नारायण सावरकर) को भी बचपन से देशभक्ति के संस्कार मिले थे।

विनायक दामोदर सावरकर (1883–1966) भारतीय इतिहास में प्रथम कोटि के क्रांतिकारी थे। सावरकर का जीवन सतत संघर्षों की अमर कथा है। विश्व के इतिहास में कोई ही ऐसा क्रांतिकारी देशभक्त हुआ होगा, जो जान जोखिम में डालकर देश की स्वतंत्रता के लिए घंटों समुद्र की विशाल लहरों पर तैरा हो, जिसने बैरिस्ट्री तो पास की हो, पर जिसको देशभक्ति के कारण बैरिस्ट्री की उपाधि न दी गई हो और जिसकी बी. ए. की डिग्री भी स्थगित कर दी गई हो। सावरकर पहले ऐसे व्यक्ति थे, जिनके जीवन का लंबा काल जेल के सींखचों के पीछे बीता और ब्रिटिश सरकार ने जिन्हें एक जन्म की नहीं, अपितु दो जन्म की सज़ा दी थी। वह ऐसे क्रांतिकारी लेखक थे, जिनकी पुस्तक (द इंडियन वार ऑफ इंडिपेंडेंस) प्रकाशन से पूर्व ही ब्रिटिश सरकार द्वारा ज़ब्त कर ली गई थी। संभवत: वह पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने विदेशी वस्त्रों की सर्वप्रथम होली जलाई और वे पहले विद्यार्थी थे, जो सरकारी सहायता प्राप्त विद्यालय से देशभक्ति के कारण निष्कासित किए गए थे।

छत्रपति शिवाजी, लोकमान्य तिलक व अगम्य गुरु परमहंस उनके प्रेरक थे। 16 वर्ष की आयु में इन्होंने मां दुर्गा के सम्मुख देश के लिए कार्य करने की शपथ ली। सावरकर ने जनवरी 1901 में महारानी विक्टोरिया की मृत्यु पर शोक सभा करने का विरोध किया। साथ ही एडवर्ड सप्तम के राज्याभिषेक उत्सव को 'गुलामी का उत्सव', विदेशी शासन के प्रति 'राजभक्ति का प्रदर्शन' और 'देश और जाति के प्रति द्रोह' कहा था। उन्होंने 'अभिनव भारत संस्था' स्थापित की।

बी.ए. पास कर सावरकर बैरिस्ट्री की शिक्षा प्राप्त करने लंदन गए। उन्होंने लंदन में श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा स्थापित 'इंडिया हाउस' में विभिन्न विषयों पर भाषण–मालाएं, विचार–गोष्ठियां और महान पुरुषों की जयंतियां मनाने का एक ऐसा क्रम प्रारंभ किया, जिससे भारतीय तरुणाई देशभक्ति की भावना से ओत–प्रोत हुए बिना नहीं रह सकी।

सावरकर ने 10 मई, 1907 को इंडिया हाउस में 1857 की क्रांति की अर्धशताब्दी मनाने का निश्चय किया। उन्होंने 1857 की क्रांति पर मराठी में एक पुस्तक प्रकाशित की और इसे आज़ादी की पहली



विनायक दामोदर सावरकर

लड़ाई बतलाया। साथ ही इसका अंग्रेज़ी अनुवाद भी किया। सरकार इतनी भयभीत हुई कि पुस्तक पर प्रकाशन से पूर्व ही प्रतिबंध लगा दिया गया। यह पुस्तक गुप्त रूप से विभिन्न शीर्षकों 'पीकवीक पेपर्स' और 'स्काट्स पेपर्स' के नाम से भारत पहुंची और भारत के क्रांतिकारियों ने इसे पवित्र ग्रंथ के रूप में पढ़ा। शीघ्र ही सावरकर इंग्लैंड में युवा क्रांतिकारियों के हृदय-सम्राट बन गए। मदन लाल ढींगरा का बलिदान इन्हीं की प्रेरक वाणी का फल था।

सावरकर की गतिविधियां ब्रिटेन के गुप्तचर विभाग से छिपी न रहीं। भारत में जैक्सन की हत्या को सावरकर के साथ जोड़ दिया गया। जब उन्हें गिरफ्तार कर 8 जुलाई, 1910 को जलयान पर बड़ी निगरानी के साथ भारतवर्ष लाया जा रहा था, तभी जैसे ही जहाज़ ब्रिटिश सीमा क्षेत्र से निकला, उन्होंने समुद्र में कूदकर भागने की योजना बनाई। वे बहाना बनाकर शौचालय गए और जीवन की चिंता न करके समुद्र में कूद पड़े। अंग्रेज़ सैनिकों के अथक प्रयास के बाद भी वे फ्रांस के तट पर पहुंच गए, परंतु फ्रांस की पुलिस ने उन्हें फिर से अंग्रेज़ों को सौंप दिया। अत: कड़े पहरे में वे बंबई लाए गए, जहां उन्हें काले पानी की सज़ा दी गई और अंडमान द्वीप भेज दिया गया।

1911 से 1924 तक सावरकर को अंडमान में बड़ी-बड़ी यातनाएं दी गईं। 1924 में स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण, उन्हें रत्नागिरि में नज़रबंद रखा गया। उसके बाद वे हिंदू संगठन के कार्य में लग गए। अत: उपरोक्त विभिन्न घटनाओं से स्पष्ट हो जाता है कि सावरकर सदैव ही अपने युग के युवा क्रांतिकारियों एवं देशभक्तों के लिए एक प्रकाश स्तंभ के रूप में रहे।

❑ गणेश सावरकर और नासिक षड्यंत्र

विनायक दामोदर सावरकर की भांति उनके बड़े भाई गणेश सावरकर भी भारत की क्रांति के लिए कार्य कर रहे थे। उन्होंने देशभक्ति से पूर्ण कुछ कविताओं की रचनाएं की थीं, जिस कारण नासिक के जज जैक्सन ने उन पर राजद्रोह का आरोप लगाया। 8 जून, 1909 को देश-निर्वासन पर उन्हें काले पानी का दंड दिया गया। वास्तव में यह सज़ा सर्वथा अनुचित थी।

'अभिनव भारत' नामक संस्था ने यह तय किया कि जैक्सन से बदला लिया जाए। अत: अनंत कान्हरे ने जैक्सन को 21दिसंबर, 1909 को गोली मार दी। अनंत कान्हरे को गिरफ्तार कर लिया गया। ब्रिटिश सरकार ने नासिक षड्यंत्र अभियोग खड़ा कर दिया। परिणामस्वरूप अनंत कान्हरे और उसके कई साथियों को मृत्युदंड दिया गया।

बंगाल में क्रांतिकारी गतिविधियां

1905 के बंग-भंग विरोधी और स्वदेशी आंदोलन ने देश में एक नई हलचल पैदा कर दी। कई समाचार-पत्रों ने इस आंदोलन को नवजीवन प्रदान किया। बंगाल में पी. मित्रा ने 'अनुशीलन समिति' नामक संस्था गठित की।

इस संगठन के कुछ प्रमुख क्रांतिकारी पी. मित्रा, अरविंद घोष, बरिंद्र कुमार घोष, अविनाश भट्टाचार्य और भूपेंद्र नाथ दत्त थे। बरिंद्र कुमार घोष और भूपेंद्र नाथ दत्त ने मार्च 1906 में 'युगांतर' नामक एक पत्र भी निकाला था, जिसने देश के नवयुवकों को सशस्त्र क्रांति के लिए प्रेरित किया था। सरकार ने बंगाल के इस आंदोलन को दबाने की पूरी कोशिश की। क्रांतिकारियों ने 6 दिसंबर, 1907 को बंगाल के गवर्नर की गाड़ी को उड़ाने की कोशिश की। गाड़ी पटरी से उतर गई पर गवर्नर बच गया। 23 दिसंबर, 1907 को ढाका के मजिस्ट्रेट को फरीदपुर ज़िले के रेलवे स्टेशन पर गोली मार दी। इसी भांति 30अप्रैल, 1908 को मुज़फ़्फ़रपुर के जज किंग्ज़फोर्ड (Kingsford) को मारने की कोशिश की गई। किंग्ज़फोर्ड एक अत्याचारी अधिकारी था। खुदीराम बोस नामक नवयुवक को उसकी मोटरगाड़ी पर बम फेंकने के लिए भेजा



खुदीराम बोस



प्रफुल्ल चाकी

गया, लेकिन मोटरगाड़ी में किंग्ज़फोर्ड न [illegible]कर श्रीमती केनेडी और [illegible] बेटी बैठी [illegible], जो बम विस्फोट में मारी गईं। 15 [illegible] वाले खुदीराम बोस को 11अगस्त, 1908 [illegible]. फांसी की सज़ा दी गई और उसके दूसरे साथी प्रफुल्ल चाकी ने स्वयं को गोली मारकर आत्महत्या कर ली। इस पर लोकमान्य तिलक ने लिखा, 'भारत में बम के आगमन से भारतीय राजनीति का स्वरूप बदल गया।'

पंजाब और दिल्ली में क्रांतिकारी कार्य

बंगाल की भांति पंजाब भी क्रांतिकारी गतिविधियों में पीछे न था। यहां लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह द्वारा किए गए प्रयासों से किसान आंदोलनों में जागृति आई। किसान आंदोलन मुख्यतः आर्थिक कष्टों का परिणाम था। पंजाब भूमिकर संशोधित नियम, कॉलोनियल ऑफ गवर्नमेंट लैंड बिल 1906 और जल पर कर में वृद्धि से असंतोष की लहर खड़ी हुई। सरकार की दमन नीति के विरोध में समस्त पंजाब में सैकड़ों जनसभाएं, समाचार-पत्रों में लेख, हस्ताक्षर अभियान प्रारंभ हुए। बांके दयाल की कविता 'पगड़ी संभाल ओ जट्टा' प्रसिद्ध हो गई। पंजाब के लैफ्टिनेंट गवर्नर सर इब्टसन को पंजाब में 'नई हवा' चलती महसूस हुई। परिणामस्वरूप लाजपतराय व अजीतसिंह को छह मास का कारावास दे दिया गया।

पंजाब में इस समय में क्रांतिकारी गतिविधियों और साहित्य का प्रसार हुआ। जे. एम. चटर्जी ने 1904 में एक संस्था बनाई, जिसके सदस्य लाला हरदयाल व मुरादाबाद के एक पत्रकार सूफी अंबा प्रसाद भी थे। लाला लाजपतराय की गिरफ्तारी से वैधानिक तरीकों के प्रति शिक्षित नवयुवकों की आस्था समाप्त हो गई। सरकारी सूत्रों के अनुसार सेना को विद्रोह के लिए भड़काया गया। दिसंबर 1907 को उसमान खां नामक एक सूबेदार ने सेना में भारतीय सैनिकों को उच्च वेतन के लिए हड़ताल करने को प्रेरित किया। सरदार अजीतसिंह ने नवंबर 1907 में जेल से मुक्त होने पर स्थान-स्थान पर क्रांतिकारी संस्थाएं स्थापित कीं। सूफी अंबा प्रसाद, लालचंद फलक, पिंडी दास, बांके दयाल, मुंशीराम और गुलाम कादर जैसे व्यक्तियों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किए। अप्रैल 1908 में मुज़फ़्फ़रपुर

कांड और तिलक की गिरफ्तारी से पंजाब में उत्तेजना बढ़ी। 22 नवंबर, 1908 को लायलपुर के डी.एस.पी. कालो (Clough) और उसके अर्दली की हत्या कर दी गई। संभवत: पंजाब में यह पहली राजनीतिक हत्या थी। सरदार अजीतसिंह को पकड़ने की कोशिश की गई, पर वे फ़ारस चले गए। डी.ए.वी. कॉलेज के प्राध्यापक भाई परमानंद के घर की तलाशी ली गई, जिसमें बम बनाने की प्रक्रिया के बारे में एक पुस्तक पकड़ी गई। 29 दिसंबर, 1909 को अंबाला के डिप्टी कलेक्टर के घर पर विस्फोट हुआ, जिसमें उसका एक नौकर घायल हुआ।

लॉर्ड हार्डिंग द्वितीय पर बम और दिल्ली षड्यंत्र केस

बंग-भंग से ब्रिटिश भारत की राजधानी कलकत्ता में सरकारी अधिकारियों के लिए रहना एक मुसीबत बन गया। अत: लॉर्ड हार्डिंग ने वासयराय के रूप में आते ही राजधानी बदलने का विचार किया। 1911 के दिल्ली दरबार में दिल्ली को भावी राजधानी बनाने की घोषणा हुई। इसे एक जश्न के रूप में मनाने के लिए 23 दिसंबर, 1912 को एक भारी जुलूस दिल्ली में निकला गया। लॉर्ड हार्डिंग स्वयं एक हाथी पर बैठा था। जब जुलूस दिल्ली के चांदनी चौक से निकल रहा था, तो एक घर से किसी क्रांतिकारी ने इस पर बम विस्फोट किया। लॉर्ड हार्डिंग किसी तरह बच गया, पर वह घायल हो गया, जबकि उसका चोबदार जो राजकीय छतरी लेकर चल रहा था, घटना-स्थल पर ही मारा गया। जुलूस में भगदड़ मच गई।

सरकार की ओर से क्रांतिकारियों को पकड़ने की ज़ी तोड़ कोशिश की गई। यह बम चांदनी चौक के पंजाब नेशनल बैंक के सम्मुख एक मुस्लिम महिला के वेश में बुर्का पहने एक क्रांतिकारी द्वारा फेंका गया था। सरकारी सूत्रों के अनुसार इसके लिए लाला हरदयाल उत्तरदायी थे, जो 1906 में भारत लौटे थे। परिणामस्वरूप 13 व्यक्ति गिरफ्तार किए गए, जिसमें मास्टर अमीचंद, दीनानाथ, अवध बिहारी लाल, बाल मुकुंद, बसंत कुमार ब्रिश्वास, हनुमंत सहाय और बलराज प्रमुख हैं। दीनानाथ दबाव में आकर सरकारी गवाह बन गए। अदालत में मास्टर अमीचंद का लिखा एक पर्चा भी पेश किया गया, जिसमें लिखा था 'भारत संवैधानिक तरीकों से कुछ भी हासिल नहीं कर सकता। एकमात्र तरीका जिससे हम स्वतंत्रता को प्राप्त कर सकते हैं, वह है क्रांति का तरीका। इतिहास बताता है कि उत्पीड़कों ने किसी भी देश को अपनी खुशी से कभी आज़ादी नहीं दी और वे हमेशा तलवार से ही मुक्त किए गए।' उपरोक्त दिल्ली षड्यंत्र केस में मास्टर अमीचंद, अवध बिहारी लाल, बाल मुकुंद व बसंत कुमार विश्वास को फांसी दी गई।

गदर पार्टी आंदोलन (1915)

गदर पार्टी आंदोलन में लाला हरदयाल (1884-1938) ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इनकी गतिविधियों का केंद्र अमेरिका रहा। भारत में भी इसके विस्तार के प्रयत्न हुए। अनेक प्रतिनिधि मंडल भारत भेजे गए। भारत सरकार को अमेरिका व केनेडा से सिक्खों के आगमन से गहरी चिंता हुई। 'कोमा गाता मारू' नामक एक जलयान तीन सौ इक्यावन यात्रियों के साथ 26 सितंबर, 1914 को हुगली पहुंचा। भारत सरकार ने 29 अगस्त को विदेशियों के लिए एक अध्यादेश पारित किया, जिसके अंतर्गत किसी का भी भारत आगमन अवैध माना जा सकता था। इन भारतीयों को भी उपर्युक्त नियम के अंतर्गत रोकने की कोशिश की गई। बजबज नामक बंदरगाह पर जहाज़ पहुंचने पर तलाशी हुई और संघर्ष हुआ। अट्ठारह यात्री मार दिए गए और लगभग पच्चीस घायल हुए। वास्तव में 'यह विद्रोह नहीं था, बल्कि क्रूर हत्याकांड था।' कुछ यात्रियों को पंजाब भेज दिया गया। इसी भांति 29 अक्टूबर, 1914 को एक दूसरा जहाज़ 'एस. एस. तोशामारू' भारत पहुंचा।

शीघ्र ही 1915 के प्रारंभ तक पंजाब गदरवादियों का केंद्र बन गया। संपूर्ण भारत में एक दिन अर्थात 21फ़रवरी, 1915 को एक साथ विद्रोह का पुनः प्रयास किया गया। लाहौर इसकी योजना का केंद्र था। विष्णु गणेश पिंगले और रास बिहारी बोस इसके प्रमुख आयोजक थे। संपूर्ण प्रांत में एक साथ एक दिन ब्रिटिश शासन को अस्त-व्यस्त कर देने की योजना थी। रेलवे स्टेशन व तारघर नष्ट करने के लिए सैनिक छावनियों में व्यक्ति भेजे गए। बम बनाए गए और झंडे तैयार किए गए।

लेकिन यह योजना विफल रही। कृपालसिंह नामक पुलिस के मुखबिर ने सरकार को सूचना दे दी। क्रांतिकारियों के रहस्य खुल जाने के कारण तिथि बदलनी पड़ी। स्थान-स्थान पर छापे मारकर क्रांतिकारियों को पकड़ लिया गया। लाहौर में भाई परमानंद और उनके अनेक साथी पकड़े गए। पिंगले व 60 अन्य पर प्रसिद्ध लाहौर षड्यंत्र केस किया गया। अतः सरकार की दमन नीति पार्टी में असंगठन, शस्त्रों की कमी और मनोवैज्ञानिक तैयारियों के अभाव के कारण आंदोलन असफल रहा, परंतु इससे शासक और शासितों के बीच एक संदेह की दीवार खड़ी हो गई। सरकार अब पंजाब को एक समस्याग्रस्त प्रांत कहने लगी थी।

यूरोप में भारतीय क्रांतिकारी

क्रांति की लहर न केवल भारत में बल्कि इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी और रूस में भी फैली। इंग्लैंड में इसके प्रमुख नायक श्यामजी कृष्ण वर्मा थे। वे संस्कृत के महाविद्वान थे और सरकार की गतिविधियों से परेशान होकर इंग्लैंड चले गए थे, जहां उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन चलाने के लिए भारतीय विद्यार्थियों के लिए वज़ीफों को देने की योजना शुरू की। उनका इंडिया हाउस शीघ्र ही क्रांतिकारियों का केंद्र बन गया। इनमें विनायक दामोदर सावरकर, सरदार सिंह राणा, मादाम कामा और मदन लाल ढींगरा प्रसिद्ध हैं। जहां सावरकर जीवन भर क्रांतिकारी कार्य करते रहे, वहीं सरदार सिंह राणा क्रांतिकारियों के पत्रों, 'वंदेमातरम्', 'इंडियन फ्रीडम' और 'तलवार' के साथ जुड़े रहे। उन्होंने भारत में भी समय-समय पर शस्त्र भेजने की व्यवस्था की। मादाम कामा ने भी 18 अगस्त, 1907 को जर्मनी के स्टुटगार्ट नगर में एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेकर भारतीय स्वतंत्रता के झंडे को लहराया था। उसने इंग्लैंड और फ्रांस में भारतीय स्वतंत्रता के लिए कार्य किया।

लेकिन इन सभी क्रांतिकारियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध मदन लाल ढींगरा हुए। वे ब्रिटिश सरकार के वफ़ादार साहिब दित्तामल के पुत्र थे, जो अमृतसर के रहने वाले थे। वे जुलाई 1906 में मेकैनिकल इंजिनियरिंग करने लंदन पहुंचे। वे शीघ्र ही सावरकर से प्रभावित हुए। ढींगरा ने अनेक अत्याचारी ब्रिटिश अधिकारियों के बारे में सुना था, जिसमें लॉर्ड कर्ज़न और भारत मंत्री लॉर्ड मार्ले के सहायक सचिव कर्ज़न वाइली का नाम भी आया था। वे पोलैंड की क्रांतिकारी पार्टी के घोषणा-पत्र से और अपने प्रेरक सावरकर के बड़े भाई गणेश सावरकर की अचानक गिरफ्तारी से अत्यधिक विचलित हुए थे। प्रारंभ में उन्होंने लॉर्ड कर्ज़न को मारने की योजना बनाई थी, लेकिन सफलता न मिली। 1 जुलाई, 1909 में उन्होंने भारत सचिव के सहायक कर्नल विलियम कर्ज़न वाइली (Col. William Curzon Wyllie) की गोली मार कर हत्या कर दी थी। इस हत्या से इंग्लैंड और भारत में तहलका-सा मच गया। वफ़ादार दित्तामल ने ढींगरा को अपना पुत्र मानने से इनकार कर दिया। ढींगरा के दो भाइयों ने उसे अपने भाग्य की विडंबना कहा। कांग्रेस स्वागत समिति की मीटिंग में, जो लाहौर में हो रही थी और जिसकी अध्यक्षता शेख उमर बख्श एडवोकेट कर रहे थे, इस कृत्य को 'सैंसलेस' कहा गया। गोपाल कृष्ण गोखले ने इसे 'भारतीय नाम को

कलंकित करने वाला घृणित कार्य बतलाया। 4जुलाई, 1909 को जब लंदन के काकस्टन हॉल में आगा खां के नेतृत्व में मदनलाल ढींगरा के इस कृत्य की भर्त्सना करने के लिए एक विशाल बैठक बुलाई गई, तो आगा खां ने इसे 'राष्ट्रीय हानि' बतलाया। जब इस संदर्भ में मदनलाल के विरुद्‌ध एक निंदा प्रस्ताव रखा गया तो सावरकर अकेले व्यक्ति थे, जिन्होंने उसका कड़कती आवाज़ में विरोध किया। 16 अगस्त, 1909 को मदनलाल ढींगरा को मृत्यु-दंड दिया गया। ऐसा कहा जाता है कि मृत्यु की सज़ा की घोषणा से 24 घंटे पूर्व मदनलाल ढींगरा ने सावरकर के सम्मुख तीन इच्छाएं रखी थीं कि उनके शरीर का क्रियाकर्म हिंदू पद्‌धति से किया जाए, कोई गैर-हिंदू या उनका कोई भाई उनके शरीर को न छुए, पवित्र मंत्रों से उनका दाह-संस्कार हो और उनकी वस्तुएं, जैसे – कपड़े और पुस्तकें नीलाम कर प्राप्त धन को राष्ट्रीय कोष में लगाया जाए।

अमेरिका में क्रांतिकारी गतिविधियां

ऊपर वर्णित गदर पार्टी की जन्म-भूमि अमेरिका थी। लाला हरदयाल ने अमेरिका में 1 नवम्बर, 1913 को संयुक्त राज्य अमरीका के सान फ्रांसिस्को नगर में 'गदर पार्टी' का गठन किया। सोहनसिंह भाक्खना इसके प्रथम अध्यक्ष, लाला हरदयाल इसके प्रथम मंत्री और काशी राम कोषाध्यक्ष चुने गए थे। उसी दिन इनका साप्ताहिक पत्र 'गदर' भी पहली बार प्रकाशित हुआ। यह पत्र अनेक देशों को भेजा जाता था। काबुल में राजा महेंद्र प्रताप ने भारत की आज़ादी के लिए एक अस्थाई सरकार की भी स्थापना की थी। इसमें जर्मनी, टर्की, ईरान, अरब, इराक व अफ़गानिस्तान की मदद से भारत में क्रांति लाने की योजना बनाई गई थी।

अतः क्रांतिकारियों के व्यक्तिगत और सामूहिक प्रयासों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारत को स्वतंत्र कराने के लिए 1857 के पश्चात देश के नवयुवकों के प्रयत्न बराबर चलते रहे। अनेक क्रांतिकारी देश की स्वतंत्रता के लिए बलि हो गए और किसी भी दृष्टि से उनका योगदान कम न था।

क्रांतिकारी आंदोलन का वैशिष्ट्य और प्रभाव

राष्ट्रीय जागरण में क्रांतिकारी आंदोलन का विशेष महत्त्व है। क्रांतिकारी देश को आज़ाद कराना चाहते थे। दूसरे, भारत में यह क्रांतिकारी आंदोलन धर्म एवं सांस्कृतिक परंपराओं से भी जुड़ा हुआ था। तीसरे, क्रांतिकारियों ने कुछ व्यक्तिगत हत्याएं एवं राजनीतिक डकैतियों का सहारा लिया था, लेकिन इन्होंने संगठित रूप से सेना एवं जनता में क्रांति की भूमिका तैयार नहीं की थी। चौथे, गदर आंदोलन के अलावा अधिकतर क्रांतिकारी मध्यम वर्ग से थे। पांचवें, सभी क्रांतिकारियों ने सशस्त्र क्रांति का आह्वान किया था।

लेकिन क्रांतिकारी सफल नहीं हो पाए थे। सफल नहीं होने के प्रमुख कारण, किसी सामूहिक संगठन का अभाव, देश के विभिन्न क्रांतिकारियों के बीच आपसी संबंधों की कमी, उच्चवर्गीय व्यक्तियों द्‌वारा असहयोग और सरकार की दमनकारी नीति एवं क्रूर कानून और आंदोलन को दबाए गए वीभत्स तरीके थे। लेकिन इन क्रांतिकारी आंदोलनों ने बंगाल को पुनः एक करने में, स्वराज्य अथवा स्वशासन की भावना को जगाने और राष्ट्रवाद की भावना को प्रखर बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। अनेक क्रांतिकारी देश की स्वतंत्रता के लिए बलि चढ़ गए और इस दृष्टि से उनका योगदान कम न था।

अभ्यास प्रश्न

1. राष्ट्रवादी आंदोलन के पहले चरण में घटित क्रांतिकारी गतिविधियों के कारणों की विवेचना कीजिए।
2. प्रथम विश्व युद्ध के समय महाराष्ट्र, बंगाल एवं पंजाब के क्रांतिकारियों की गतिविधियों का वर्णन कीजिए।
3. गदर पार्टी की योजना एवं उसकी गतिविधियों के विषय में बताइए। यह पार्टी अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में क्यों विफल हुई?
4. यूरोप एवं अमरीका में 20वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भारतीय क्रांतिकारी गतिविधियों के विषय में बताइए।
5. निम्नलिखित पर नोट लिखिए –

   (क) मदनलाल ढींगरा

   (ख) चापेकर बंधुओं का बलिदान

   (ग) नासिक षड्यंत्र

   (घ) दिल्ली षड्यंत्र
6. पूर्व क्रांतिकारी आंदोलनों का भारत एवं विदेश में क्या स्वरूप था? इन आंदोलनों का भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन पर क्या प्रभाव पड़ा?

परियोजना कार्य

- इस काल के प्रमुख क्रांतिकारियों के चित्र इकट्ठा कीजिए और उनकी गतिविधियों का ब्यौरा दीजिए।

11
अध्याय

मुस्लिम राजनीति और राष्ट्रीय आंदोलन

हिंदू और मुस्लिम संबंध कभी एक से नहीं रहे, कभी सौहार्द्रपूर्ण तो कभी तनावपूर्ण। सम्राट औरंगज़ेब के काल में ये संबंध कटु हो गए थे। 1857 के विद्रोह के काल में दोनों में पुन: एकता का प्रकटीकरण हुआ। ईस्ट इंडिया कंपनी के दौरान और ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद अंग्रेज़ों ने 'बांटो और राज करो' की नीति का अनुसरण किया। 1857 के बाद मुसलमानों से अंग्रेज़ों के कटु संबंध रहे।

सर सैयद अहमद खां और अलीगढ़ आंदोलन

मुसलमानों के धार्मिक और सामाजिक सुधार आंदोलन में सर सैयद अहमद खां का सर्वोपरि स्थान है। इनका जन्म 1817 में दिल्ली में हुआ। इनके पिता मुगल दरबार में एक अधिकारी थे। इन्होंने उर्दू, फ़ारसी, अरबी की शिक्षा पाई थी। 1837 में कंपनी की सरकार में एक क्लर्क के रूप में नौकरी की। शीघ्र ही उन्नति करते-करते इनकी नियुक्ति सहायक जज के रूप में हो गई।

सैयद अहमद खां मुसलमानों की दयनीय दशा देखकर बहुत विचलित रहते थे। 1857 के विद्रोह के बाद तो उन्हें मुसलमानों की दशा ज़्यादा शोचनीय लगी। उन्हें लगा कि अंग्रेज़ों के साथ मुसलमानों के संबंध अच्छे होने चाहिए। उन्होंने 'लॉयल मोहम्मडंस ऑफ इंडिया' नामक पत्र का संचालन किया। उन्होंने मुसलमानों को पाश्चात्य शिक्षा व वैज्ञानिक विचारों को अपनाने के लिए कहा। उन्होंने यूरोप की कुछ प्रमुख रचनाओं का अरबी, फ़ारसी और उर्दू में अनुवाद करवाया। 1865 में वे अलीगढ़ चले गए। इसी वर्ष वे इंग्लैंड भी गए और वहां से लौटकर 'तहज़ीब-अल-अखलाक' नामक पत्रिका निकाली। उन्हें लगा कि अंग्रेज़ी शिक्षा के बिना मुसलमानों का पिछड़ापन दूर न होगा और न ही उन्हें सरकारी नौकरियां मिल सकेंगी। 1875 में उन्होंने अलीगढ़ में 'मोहम्मडन ऐंग्लो ओरियंटल कॉलेज' की स्थापना की जो बाद में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुआ। 1876 में सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण कर उन्होंने अपना संपूर्ण समय शिक्षा के प्रसार में लगाया।

सैयद अहमद खां ने मुस्लिम संप्रदाय में धार्मिक और सामाजिक जागरण के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य



सर सैयद अहमद खां

किए। उन्होंने तर्क के आधार पर कुरान की व्याख्या की। उसे इस्लाम का एकमात्र अधिकृत ग्रंथ माना और शेष को कम महत्त्व दिया। उन्होंने इसकी व्याख्या बुद्धि के आधार पर की और इस संदर्भ में तर्कपूर्ण और स्वतंत्र चिंतन को महत्त्व दिया। मुसलमानों से कठमुल्लापन, संकीर्णता और धर्मांधता छोड़ने का आग्रह किया। कुछ लोगों ने उनकी कुरान की व्याख्या को 'क्रांतिकारी' बतलाया। उनका आधुनिक मुस्लिम संदेश कुछ अलगाववादी और रूढ़िवादी मुसलमानों को पसंद नहीं आया।

सैयद अहमद ने मुसलमानों को सामाजिक सुधारों के लिए प्रेरित किया। उन्होंने बहुविवाह और महिलाओं की गुलामी जैसी हालत का विरोध किया। स्त्री शिक्षा, सरलता से तलाक और महिलाओं का स्तर उठाने को कहा। पर्दे का विरोध किया। उनके इन कार्यों से रूढ़िवादी मुसलमान चिढ़ गए। कई बार उन्हें मारने की धमकी भी दी गई।

सैयद अहमद खां का आंदोलन मुख्यतः शिक्षा के केंद्र अलीगढ़ के आधार पर अलीगढ़ आंदोलन कहलाया। उनके द्वारा स्थापित स्कूल बाद में 1920 में विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुआ। वे इसे भारत का ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय बनाना चाहते थे। उन्होंने शिक्षा जगत में अनेक सुधार किए। उन्होंने मदरसा प्रणाली को बंद करने की कोशिश की, जिसमें रटने की पद्धति को ज्यादा महत्त्व दिया जाता है। उन्होंने शिक्षा में मौलिकता, वैज्ञानिकता और आधुनिकता लाने का प्रयास किया। उन्होंने शैक्षणिक जागृति लाने के लिए वार्षिक मोहम्मडन शिक्षा कांफ्रेंस की प्रथा भी प्रारंभ की और अशिक्षा को गरीबी की जननी व अनेक अपराधों का कारण बताया। उन्होंने मुस्लिम नवयुवकों को पश्चिमी ज्ञान से परिपूर्ण कराया। विलियम ग्राहम ने सर सैयद अहमद खां की जीवनी में लिखा –

'उनका नाम पीढ़ी-दर-पीढ़ी ऐसे व्यक्ति के नाम के रूप में चलता रहेगा, जो अपने धर्म वालों को शिक्षा में बाकी दुनिया की बराबरी में लाने के लिए सब कुछ करने पर तुला था।'

जहां तक सैयद अहमद के राजनीतिक विचारों का प्रश्न है, वे परिवर्तित होते रहे। 1857 के संघर्ष की जिम्मेदारी कुछ अंग्रेज़ लेखकों ने मुसलमानों पर डाली तो उन्होंने अंग्रेज़ों की इस धारणा को बदलने का निश्चय किया। उन्होंने बनारस के राजा शिवप्रसाद से मिलकर 'पेट्रियोटिक एसोसिएशन' (Patriotic Association) की स्थापना की। बाद में 'मोहम्मडन ऐंग्लो ओरियंटल डिफेंस एसोसिएशन' भी बनाई।

सैयद अहमद हिंदू-मुस्लिम एकता में विश्वास रखते थे। उन्होंने हिंदुस्तान को एक सुंदर दुल्हन और हिंदू और मुसलमानों को उसकी दो चमकीली आंखें बताया। 1885 में कांग्रेस की स्थापना के पश्चात उन्होंने इसका तीव्र विरोध किया और मुसलमानों को कांग्रेस से अलग रखने का प्रयत्न किया। उन्होंने कांग्रेस को हिंदुओं की संस्था कहा। 1888 में मेरठ में

एक भाषण में उन्होंने कहा, 'हिंदू और मुसलमान दो राष्ट्र हैं जिनमें परस्पर विरोध है, यदि अंग्रेज़ भारत को छोड़कर चले जाएं, तो यह असंभव है कि दोनों राजनीतिक जीवन में एक-दूसरे के साथ सहयोग कर सकें।'

सैयद अहमद ने धार्मिक तथा सामाजिक जागरण में अद्भुत योगदान दिया। अगर वे मुसलमानों को राष्ट्रीय आंदोलन से अलग न करते और उनमें अंग्रेज़ों के प्रति राजभक्ति पैदा करने का प्रयास न करते तो राष्ट्रीय आंदोलन बहुत शक्तिशाली होता। इतिहासकार एम. एस. जैन का मत है कि वे प्रथम और मुख्यत: मुसलमान थे और एक मुस्लिम दृष्टिकोण स्वाभाविक रूप से भारतीय दृष्टिकोण से भिन्न था। पाकिस्तान के प्रसिद्ध इतिहासकारों जैसे अब्दुल हक और हाफ़िज़ मलिक ने उन्हें पाकिस्तान के निर्माताओं में माना है। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें मुस्लिम सामंती ज़मींदार वर्ग के हितों का रक्षक कहा है। उन्होंने मुसलमानों में अलग अस्तित्व की भावना जगाई। साथ ही उन्होंने समान विचारों की एक टोली भी खड़ी की जो अलीगढ़ आंदोलन के रूप में प्रकट हुई। इसमें दिल्ली कॉलेज के मौलवी नज़ीर अहमद और मौलवी ज़काउल्ला प्रसिद्ध हैं। इसके साथ ही चिराग अली, अल्ताफ़ हुसैन 'हाली', मौलवी शिब्ली नौमानी, खुदाबख्श जैसे विद्वान व युसुफ़ अली और इकबाल जैसे शिक्षाविद् भी इसी श्रेणी में आते हैं।

देवबंद शाखा

आधुनिक काल में मुसलमानों में सुधारों की सामान्यत: दो धाराएं रहीं। एक, वह जिसका प्रतिनिधित्व सर सैयद अहमद खां और उनकी अलीगढ़ शाखा द्वारा हो रहा था, जो सुधारों के लिए पाश्चात्य जगत और शिक्षा की ओर देखते थे, और दूसरी, जो मुसलमानों को देशी अथवा पाश्चात्य प्रयासों से दूर रखने के पक्ष में थी। दूसरी धारा के लोग इस्लाम के परंपरागत रूप को शुद्ध रूप में चाहते थे और व्यवहार में परंपरा, कुरान एवं हदीस को प्रमुखता देते थे। उन्होंने अरबी भाषा और कुरान के अध्ययन को प्रमुखता दी। इनके प्रमुख नेता मौलाना, मौलवी, उलेमा और पीर थे। सामान्यत: भारत में इसी वर्ग का वर्चस्व रहा। इस श्रेणी के लोगों ने सर सैयद अहमद खां की शिक्षा नीति की कटु आलोचना की थी।

देवबंद आंदोलन का प्रतिनिधित्व मुहम्मद कासिम ननौतवी (Muhammed Qasim Nanautavi) (1832-1880) और रशीद अहमद गंगोही (1828-1905) ने किया। 1857 के विद्रोह में उनके एक अन्य साथी हाजी इमदादुल्ला थानाभवनी और उनके अनुयायियों ने भाग लिया, परंतु विद्रोह के असफल होने पर स्वयं मक्का (अरब) चले गए थे और अहमद गंगोही गिरफ्तार कर लिया गया।

बाद में इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर मौलाना कासिम ननौतवी ने 30 मई, 1866 को देवबंद में 'मदरसा दारुल उलूम' की स्थापना की। पहले उसका नाम 'मदरसा इस्लामिया अरबिया' रखा था, जो शीघ्र ही बदल दिया गया।

दारुल उलूम की स्थापना का उद्देश्य बताते हुए 'दारुल उलूम देवबंद की सदसाला ज़िंदगी' के लेखक तैयब ने लिखा –

'हमारी तालीम का मकसद ऐसे नौजवान तैयार करना है, जो रंगोनस्ल के लिहाज़ से हिंदुस्तानी हों और दिलो-दिमाग के लिहाज़ से इस्लामी हों और दीन तथा सियासत के लिहाज़ से उनमें इस्लामी शऊर (गुण) ज़िंदा हो।'

दारुल उलूम इस्लाम का पुनर्जागरण परंपरागत ढंग से करना चाहते थे। यहां धार्मिक शिक्षा की ही प्रमुखता रही। इनका मुख्य उद्देश्य मुस्लिमों के धार्मिक नेताओं को प्रशिक्षित करना और इस्लाम धर्म का प्रचार था। यहां पर मौलिक इस्लामिक परंपरा से शिक्षा दी जाती थी। इन्होंने पाश्चात्य शिक्षा से दूर रहने के कारण किसी प्रकार की अंग्रेज़ी सहायता न ली। यह चंदे द्वारा चलता रहा।

दारुल उलूम की स्थापना के बाद से इसके प्रमुख संरक्षक मौलाना मुहम्मद कासिम ननौतवी (1867-1879), मौलाना रसदी अहमद गंगोही (1880-1905), शेखुल हिंद मौलाना महमूदुल हसन (1906-1914), मौलाना शाह अब्दुर रहीम रामपुरी (1915-1919) और मौलाना महमूदुल हसन (दोबारा 1918-1920) रहे।

1885 में जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई तो इन्होंने भी चुनौती स्वीकार की। इन्होंने भारत को दारुल हरब कहा, क्योंकि यहां अंग्रेज़ भी हैं और अंग्रेज़ों के लिए जेहाद की बात कही। साथ ही हिंदुओं के साथ सहयोग की भी बात की। 1888 में यहां के उलेमाओं ने सर सैयद अहमद खां द्वारा स्थापित 'संयुक्त भारतीय राजभक्त सभा' और 'मुस्लिम ऐंग्लो ओरिएंटल सभा' के विरुद्ध फतवा दिया। पैन इस्लामवाद में इन्होंने बढ़-चढ़कर भाग लिया। अंग्रेज़ों का बड़ा विरोध किया। 1919 में जब मुफ्ती लियाकतुल्ला ने 'जमीयतुल उलमा-ए-हिंद' की नींव रखी तो देश के बड़े नेताओं के साथ मिलकर उन्होंने देश को स्वतंत्र कराने में भाग लिया। खिलाफ़त आंदोलन में उनकी सक्रिय भूमिका रही।

मुस्लिम अलगाववाद का उदय और प्रगति

राष्ट्रीय विचारधारा की गति के विकास के साथ भारत के मुसलमानों में भी, विशेषकर उच्च और प्रभावी वर्ग में एक राजनीतिक संस्था के उद्भव का विचार उत्पन्न हुआ। मुस्लिम उच्च वर्ग यह कभी नहीं भूला कि वे भारत में कई शताब्दियों से शासक रहे थे और सभी महत्त्वपूर्ण पदों से उन्हें वंचित कर दिया गया। अंग्रेज़ी के प्रति मुसलमानों में सामान्यतः उदासीनता से अब अधिकतर महत्त्वपूर्ण पद हिंदुओं को मिलने लगे थे। प्रारंभ में मुसलमानों के प्रति अंग्रेज़ों का रुख कठोर था।

इस संदर्भ में जैसा कि पूर्व बताया गया है, सर सैयद अहमद खां ने अंग्रेज़ों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए अपने भाषणों और लेखों द्वारा भरपूर प्रयत्न किए थे। उन्होंने अपनी पुस्तक *असबाब-ए-बगावत-ए-हिन्द* में बहादुर शाह द्वितीय को '*मूर्ख*' कहा और जिन मुसलमानों ने अंग्रेज़ों के खिलाफ जेहाद का नारा दिया था, उन्हें 'नीच कुल के धूर्त मौलवी' कह कर पुकारा। भारतीय मुसलमानों को पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता का ज्ञान प्राप्त करने को प्रेरित किया। उन्हीं के प्रयत्नों से 1875 में महारानी विक्टोरिया के जन्मदिवस पर एक कॉलेज की स्थापना की गई, जो शीघ्र ही मुसलमानों की गतिविधियों का केंद्र बन गया। अंग्रेज़ों ने 1870 के पश्चात अपना रुख मुसलमानों के प्रति बदल दिया था। अलीगढ़ कॉलेज के सभी प्रिंसिपल प्रारंभ में अंग्रेज़ थे, जैसे–सीडंस (1877-83), थियोडोर बैक (1883-99), मोरीसन (1899-1904) और आर्चबोल्ड। अलीगढ़ के छात्रों को कांग्रेस से दूर रखने के लिए बैक ने छात्रावास में जाकर अपने भाषणों और बातचीत द्वारा मुसलमानों को मानसिक रूप से कांग्रेस विरोधी बनाया था। उसने 1886 में कॉलेज का उद्देश्य 'केवल शैक्षिक ही नहीं, वरन सामाजिक और राजनीतिक' बतलाया था।

मुसलमानों में भी एक अलग राजनीतिक संस्था की आवश्यकता महसूस होने लगी थी। इस संदर्भ में 1 अक्टूबर, 1906 को शिमला में मुसलमानों के एक प्रतिनिधि मंडल का आगा खां के नेतृत्व में अंग्रेज़ों के वायसराय लॉर्ड मिंटो से मिलना महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में इस योजना में अंग्रेज़ अधिकारियों का महत्त्वपूर्ण हाथ था। मुस्लिम प्रतिनिधि मंडल ने अलग निर्वाचन, विधान सभा में अधिक स्थान, सरकारी नौकरियों में महत्त्वपूर्ण और अधिक पद, मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना और वायसराय कौंसिल में मुस्लिम स्थान की मांग रखी। वायसराय ने उनकी मांगों की ओर ध्यान दिया और प्रतिनिधि मंडल के सम्मान में एक पार्टी भी दी। अंग्रेज़ों ने इस घटना को बहुत महत्त्वपूर्ण

माना और इसे भारतीय इतिहास में एक महान घटना कहा। इसी दिन एक ब्रिटिश अधिकारी ने श्रीमती मिंटो को एक पत्र में लिखा –

'मैं आपको यह बताना चाहता हूं कि आज एक बहुत बड़ी घटना हो गई है। यह दूरदर्शितापूर्ण एवं राजनीतिक कौशल का एक ऐसा काम है, जो भारतीय इतिहास को अनेक वर्षों तक प्रभावित करता रहेगा। छह करोड़ बीस लाख भारतीय मुसलमानों को आज विद्रोही दल में सम्मिलित होने से रोक दिया गया है।'

प्रतिनिधिमंडल की सफलता से मुस्लिम नेताओं का उत्साह बढ़ा और 30दिसंबर, 1906 को ढाका के नवाब सलीम उल्ला खां के निमंत्रण पर सम्मेलन हुआ। नवाब वकारुल मुल्क इसके अध्यक्ष थे। इसी सम्मेलन में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का उदय हुआ। लीग का संविधान 1907 में कराची में बना और इस संविधान के अनुसार प्रथम अधिवेशन 1908 में अमृतसर में हुआ। 1908 से ही आगा खां को मुस्लिम लीग का अध्यक्ष बना दिया गया।

मुस्लिम लीग की स्थापना का उद्देश्य भारतीय मुसलमानों में ब्रिटिश शासन के प्रति निष्ठा का भाव पैदा करना, भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक एवं अन्य अधिकारों की रक्षा करना, उनकी आवश्यकताओं और भावनाओं को सम्राट के सम्मुख प्रस्तुत करना, मुस्लिम हितों की रक्षा करते हुए दूसरी जातियों से मित्रता स्थापित करना और सर आगा खां को लीग का स्थाई अध्यक्ष नियुक्त करना था।

1908 में मुस्लिम लीग का अधिवेशन अमृतसर में हुआ, जिसमें जातीय प्रतिनिधित्व की वृद्धि, प्रीवी कौंसिल में एक हिंदू और एक मुसलमान की नियुक्ति और सरकारी नौकरियों में मुसलमानों के लिए पर्याप्त स्थान की मांग की गई। अंग्रेज़ों ने मुस्लिम लीग की राजभक्ति का पूरा लाभ उठाया और उनकी मांगों को स्वीकार कर भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को हानि पहुंचाई। 1909 के अधिनियम द्वारा जो 'मारले-मिंटो सुधार' के नाम से विख्यात हैं, मुस्लिम हितों का संरक्षण किया गया। मुसलमानों के लिए अलग चुनाव क्षेत्र तय किए गए और उनकी जनसंख्या से अधिक उन्हें विधान सभाओं में स्थान दिए गए। सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व ने देश के भावी नक्शे को ही बदल दिया था। मुस्लिम लीग के 1909 और 1910 के अधिवेशनों में इन्हीं मांगों को आगे बढ़ाया गया था। इनमें पृथक चुनाव को बनाए रखने की मांग, कांग्रेस के कार्यक्रमों का विरोध और बंगाल विभाजन का समर्थन जैसी मांगें थीं।

सामान्यतः 1906 से 1911 तक मुस्लिम लीग सांप्रदायिक नीति पर चलते हुए कांग्रेस का विरोध करती रही। परंतु देश-विदेश की घटनाओं ने उसे अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन के लिए बाध्य किया। यह नहीं भूलना चाहिए कि अभी तक मुस्लिम लीग अंग्रेज़ी शासन के प्रति राजभक्त संस्था थी और इसका नेतृत्व मुस्लिम जमींदारों, नवाबों और उच्च वर्ग के हाथों में था। इसमें मध्यम वर्गीय या निम्न वर्गीय प्रतिनिधि नाममात्र को थे।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की भूमिका (1905-1914)

1905 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन बनारस में हुआ, जिसकी अध्यक्षता गोपाल कृष्ण गोखले ने की। इस अधिवेशन में उदारवादियों और उग्र राष्ट्रवादियों में टकराव प्रारंभ हुआ। बंग-भंग से संपूर्ण भारत में उत्तेजना आ गई। अतः सभी की निगाहें अधिवेशन की कार्यवाही पर थीं। उदारवादी स्वदेशी और बाईकॉट आंदोलन केवल बंगाल तक सीमित रखना चाहते थे, जबकि उग्र राष्ट्रवादी इसका विस्तार चाहते थे। इसी भांति इंग्लैंड के युवराज (प्रिंस ऑफ वेल्स) के स्वागत के संदर्भ में भी टकराव था। उदारवादी इसके पक्ष में और तिलक व लाजपतराय इसके विरोध में थे।

1906 के कलकत्ता अधिवेशन में परस्पर ये मतभेद और अधिक बढ़कर आगे आए। कांग्रेस की

अध्यक्षता के लिए भी मतभेद उभरे। दादाभाई नौरोजी ने ब्रिटेन के उपनिवेशों की तर्ज पर स्वराज्य अथवा स्वशासन कांग्रेस का उद्देश्य रखा। इसमें प्रमुख रूप से चार प्रस्ताव – स्वराज्य, स्वदेशी, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा पारित हुए। 81 वर्षीय दादाभाई नौरोजी ने इंग्लैंड के पूर्व प्रधानमंत्री ग्लेडस्टोन के शब्दों को दोहराते हुए कहा, 'स्वतंत्रता हमारे जीवन की श्वास है। हम स्वतंत्रता चाहते हैं... हम दया की भीख नही मांगते, हम न्याय चाहते हैं।' अतः अध्यक्ष की ओजस्वी वाणी ने दोनों को मिलाकर रखा।

1907 में कांग्रेस का अधिवेशन सूरत में हुआ। अध्यक्ष पद के लिए उदारवादियों और उग्र राष्ट्रवादियों में पुनः टकराव हुआ। टकराव में बल प्रयोग भी हुआ। अंत में रास बिहारी बोस को अध्यक्ष बनाया गया। राष्ट्रवादियों के लिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के द्वार बंद कर दिए गए। यह स्थिति 1916 तक बनी रही। एनी बेसेंट ने इसको 'एक दुःखद घटना' कहा है। कांग्रेस ने ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत स्वशासन की मांग की। परंतु इसके लिए संवैधानिक तरीकों को ही महत्त्व दिया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर उदारवादियों का कब्ज़ा स्थापित हो गया और उग्र राष्ट्रवादी अलग कर दिए गए।

अंग्रेज़ सरकार का रवैया उदारवादियों के साथ सहानुभूतिपूर्ण रहा। लोकमान्य तिलक को शीघ्र ही बंदी बना लिया गया और 1908–1914 तक अर्थात अगले 6 वर्ष के लिए उन्हें मांडले जेल भेज दिया गया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की गतिविधियों की गति भी धीमी हो गई। पुनः 1916 में दोनों दल मिल गए।

1908 में कांग्रेस का अधिवेशन मद्रास में और 1909 में लाहौर में हुआ। उग्र राष्ट्रवादियों के अलग हो जाने से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रतिष्ठा भी कम हो गई। उदाहरणतः लाहौर अधिवेशन में कुल प्रतिनिधि केवल 243 थे, जिसमें 76 अकेले पंजाब के थे।

इसी काल में मार्ले–मिंटो सुधारों की घोषणा की गई। इनमें इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 69 कर दी गई, जिसमें 37 सरकारी और 32 गैर–सरकारी सदस्य थे। गैर–सरकारी में 5 सदस्य गवर्नर जनरल द्वारा नामज़द होते थे और 27 चुने हुए होते थे। इन 27 सदस्यों को भी भूमिगत आधार पर प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया था, बल्कि विभिन्न वर्गों और विशेष हितों से जोड़ दिया गया था। इसमें 13 साधारण निर्वाचन मंडल से, 6 बड़े ज़मीदारों और 6 मुसलमानों के प्रतिनिधि होते थे। दो बंगाल और बंबई के चैंबर ऑफ कॉमर्स के प्रतिनिधि होते थे।

1909 का मार्ले–मिंटो सुधार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लिए भी एक छलावा मात्र था। वस्तुतः इसके द्वारा अंग्रेज़ों ने मुसलमानों को खुश करने, उदारवादियों को उलझन में डालने और राष्ट्रवाद की तीव्र गति से बढ़ती भावना को नियंत्रित करने का प्रयास मात्र किया था। केंद्रीय लैजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य बढ़ा कर अब 69 कर दिए गए, परंतु न उनके अधिकार बढ़े, न शक्तियां ही। उन्हें केवल सहायक प्रश्न पूछने का अधिकार मिला और वे अधिक–से–अधिक प्रस्ताव रख सकते थे। वैसे भी सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व की शुरुआत एक बड़ी कमी थी। इसने राजनीतिक अलगाव और विघटनकारी शक्तियों को बढ़ाया। देखा–देखी अन्य समुदायों ने भी अलग से प्रतिनिधित्व की मांग करनी प्रारंभ कर दी थी। इससे पार्लियामेंटरी प्रणाली के स्थान पर स्वेच्छाधारी निरंकुशवाद को बढ़ावा मिला। वोट के अधिकार में भिन्नता ने हिंदू और मुसलमानों में कटुता को बढ़ावा दिया। सरकारी प्रतिनिधि शक्तिशाली थे, जबकि गैर–सरकारी उनकी दया पर निर्भर हो गए।

कुल मिलाकर 1909 के अधिनियम ने एक गहरी निराशा का वातावरण स्थापित किया। उदारवादियों ने इन सुधारों का स्वागत नहीं किया, परंतु इनको लागू करने में सहयोग देना स्वीकार किया।

1909 का अधिनियम एक कूटनीतिज्ञ चाल थी, जिससे हिंदू और मुसलमानों को अलग रखा जा सके।

इससे मुसलमानों को भी संतुष्ट कर दिया गया। मुसलमान युवकों को कांग्रेस में जाने से रोका गया और उग्र राष्ट्रवादियों के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में आने पर नियंत्रण किया। इससे परस्पर द्वेष बढ़ा, परंतु मुसलमानों को निकट लाने के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रयास चलते रहे। 1911 में पूरे प्रयत्न किए गए कि आगामी बांकीपुर कांग्रेस की अध्यक्षता आगा खां करें। गोपाल कृष्ण गोखले जैसे नेताओं ने भी प्रयास किए, पर सफलता न मिली। 1912 का बांकीपुर अधिवेशन कांग्रेस के इतिहास का सबसे 'छोटा' (अवधि में) अधिवेशन था। इसमें कुल 207 प्रतिनिधि आए थे। यहां तक कि मुस्लिम बहुमत प्रांत पंजाब से एक भी प्रतिनिधि नहीं आया था। मुसलमानों को निकट लाने की दृष्टि से 1913 का कांग्रेस अधिवेशन कराची में हुआ था, जिसकी अध्यक्षता नवाब सैयद मोहम्मद बहादुर ने की थी। पारिवारिक परिवेश में वह हैदर अली और टीपू सुल्तान से संबंध रखता था, परंतु अध्यक्ष ने अपने भाषण में कांग्रेस की नीति और प्रोग्राम की बजाए टर्की के प्रश्न को ही प्रमुखता दी। अतः प्रथम महायुद्ध के प्रारंभ होने तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस बड़ी असमंजस की स्थिति में थी, परंतु अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से उसमें भी परिवर्तन आया।

होमरूल आंदोलन

1914 में प्रथम विश्व युद्ध की घोषणा से देश के राजनीतिक वातावरण में ज़बरदस्त परिवर्तन हुआ। ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने युद्ध में जर्मनी की हार को संसार भर में जनतंत्रवाद की सुरक्षा के लिए आवश्यक बताया। इस घोषणा का प्रभाव भारत के राजनेताओं पर भी पड़ा। उदारवादियों को लगा कि ब्रिटेन जनतंत्रवाद के लिए युद्ध कर रहा है। युद्ध के बाद वह भारत को भी जनतंत्रवाद की दिशा में कुछ देगा। उदारवादियों ने तन-मन और धन से ब्रिटिश सरकार को सहायता देने का निश्चय किया और कहा, 'यदि हम साम्राज्य के स्वतंत्र नागरिक होने के गौरव के अभिलाषी थे, तो हमें साम्राज्य की रक्षा के लिए लड़ना भी आवश्यक था।' अतः भारतीयों ने इस युद्ध में जी-जान से मदद की। एनी बेसेंट, जो 1914 के मद्रास कांग्रेस अधिवेशन में पधारी थीं, उन्होंने भी अपने भाषण में कहा था –

'भारत साम्राज्यवाद के शिशु गृह में एक शिशु की भांति न रहना चाहता है और न वह आंसुओं के मूल्य के बदले में स्वतंत्रता की विनती करता है। वह एक राष्ट्र की हैसियत से साम्राज्य से न्याय चाहता है और स्वतंत्रता को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानता है। इस बारे में किसी को भ्रम जाल में नहीं होना चाहिए।'

एनी बेसेंट 1913 में जब इंग्लैंड गई थीं तब आयरलैंड की होमरूल लीग ने उन्हें सुझाव दिया था कि भारत की आज़ादी के लिए वे इसी प्रकार का आंदोलन करें।

इसी भाव से एनी बेसेंट कांग्रेस के अधिवेशन में शामिल हुई थीं। 1914 में ही लोकमान्य तिलक भी जेल से छूटकर आ गए। इससे राष्ट्रवादियों में नवजीवन का संचार हुआ। संयोग से फ़रवरी 1915 में गोपाल कृष्ण गोखले और नौ महीने के बाद फिरोज़शाह मेहता की मृत्यु हो गई। अतः इन सभी घटनाओं ने उदारवादियों और राष्ट्रवादियों को एक-दूसरे के निकट ला दिया। एनी बेसेंट के होमरूल और तिलक के स्वराज्य के जन्मसिद्ध अधिकार की भावना ने राष्ट्रवादियों को आकर्षित किया। इसका परिणाम होमरूल आंदोलन था।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि एनी बेसेंट ने इंग्लैंड की अपनी यात्रा में ब्रिटिश पार्लियामेंट में इंडियन होमरूल पार्टी की स्थापना की कोशिश की थी, पर सफलता न मिली थी। उन्होंने लंदन में भी होमरूल लीग की स्थापना की। वापस लौटने पर उन्होंने साप्ताहिक-पत्र 'कॉमन वील' प्रारंभ किया। छः महीने बाद एक और दैनिक पत्र 'न्यू इंडिया' शुरू

किया। अतः इन पत्रों के द्वारा स्वशासन की मांग की गई।

होमरूल आंदोलन का उद्देश्य साम्राज्य के दूसरे उपनिवेशों की भांति स्वशासन की स्थापना करना था। एनी बेसेंट ने अपने साप्ताहिक-पत्र 'कॉमन वील' के प्रथम अंक में लिखा था —

'राजनीतिक सुधारों से हमारा अभिप्राय ग्राम पंचायतों से लेकर जिला बोर्ड और नगरपालिकाओं, प्रांतीय विधान सभाओं तक राष्ट्रीय सदस्यों के रूप में स्वशासन की स्थापना करना है। इस राष्ट्रीय संसद के अधिकार स्वशासित उपनिवेशों की विधान सभाओं के समान ही होंगे। उन्हें नाम चाहे जो भी दिया जाए और जब ब्रिटिश साम्राज्य की संसद में स्वशासित राज्यों के प्रतिनिधि लिए जाएं, तो भारत का प्रतिनिधि भी उस संसद में पहुंचे।'

एनी बेसेंट का यह भी विचार था कि ब्रिटिश सरकार युद्ध के दौरान ही भारत को स्वशासन दे दे। एनी बेसेंट को यह भी लग रहा था कि यदि शांतिपूर्ण और वैधानिक तरीकों से आंदोलन नहीं चलाया गया, तो देश की राजनीति पर क्रांतिकारियों का प्रभुत्व हो जाएगा। अतः वे राष्ट्रीय क्रांतिकारियों के प्रभाव को भी रोकना चाहती थीं। इसी प्रकार वह भारतीय राजनीति में आई शिथिलता और निराशा को खत्म करना चाहती थीं। अतः संक्षेप में होमरूल आंदोलन न पूर्णतः उदारवादी था और न क्रांतिकारी। तिलक और एनी बेसेंट दोनों ही अधिकारपूर्वक होमरूल की मांग कर रहे थे। होमरूल लीग की स्थापना सितंबर 1916 में मद्रास में की गई। होमरूल लीग में वे स्वयं अध्यक्ष बनीं और इसके अन्य प्रमुख नेता अरुंडेल, पी. सी. रामास्वामी अय्यर, वी.पी. वाडिया थे। अतः इस आंदोलन के द्वारा एनी बेसेंट स्थान-स्थान पर जाकर, इसकी शाखाएं खोल कर देश में पुनः जागरण लाईं। इनके प्रचार से कई प्रांतों की ब्रिटिश सरकारें भी विचलित हो गईं। बंबई और सेंट्रल प्रांत से उन्हें निष्कासित कर दिया गया। अक्टूबर 1916 तक संपूर्ण देश में लगभग इसकी 500 शाखाएं स्थापित हो गईं। 1915 के बंबई अधिवेशन में भी होमरूल लीग बनाने का प्रस्ताव पास किया गया। एक अन्य बैठक में एनी बेसेंट के विरुद्ध बंबई सरकार की कार्यवाही की आलोचना की गई।

वस्तुतः होमरूल आंदोलन की शुरुआत ही लोकमान्य तिलक ने की थी। मार्च 1916 में तिलक ने पूना में होमरूल लीग की स्थापना की। तिलक के ही सहयोग से एनी बेसेंट इस आंदोलन को संचालित करने के लिए तैयार हुईं। जनवरी से जून 1917 तक एनी बेसेंट ने संपूर्ण देश का दौरा किया।

सरकार ने तिलक और एनी बेसेंट के बढ़ते हुए प्रभाव को गंभीरता से देखा एवं दमनकारी नीति अपनाई। एनी बेसेंट के दोनों पत्रों पर प्रतिबंध लगा। एनी बेसेंट को अरुंडेल व वाडिया के साथ गिरफ्तार कर लिया गया। तिलक पर भी दिल्ली और पंजाब में आने पर प्रतिबंध लगाए गए। सरकार की इन दमनकारी



एनी बेसेंट

कार्यवाहियों से चारों ओर विरोध सभाएं हुईं। स्थान-स्थान पर प्रदर्शन किए गए। मजबूर होकर एनी बेसेंट को छोड़ दिया गया। इन्हीं दिनों 20 अगस्त, 1917 को भारत सचिव मांटेग्यू की प्रसिद्ध घोषणा हुई, जिसमें धीरे-धीरे भारत में उत्तरदायी सरकार की बात की गई। इस घोषणा से होमरूल आंदोलन भी प्रायः समाप्त हो गया।

होमरूल आंदोलन का भारतीय राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ा। भारत की उदासीन राजनीति में चेतना पैदा हुई। भारतीय अपने अधिकारों के प्रति जाग्रत हुए। पं. नेहरू ने इस बारे में 'मेरी कहानी' में लिखा, 'हम नौजवान एक अजीब उत्साह और स्फूर्ति का अनुभव कर रहे थे कि भविष्य में कुछ होगा।' सरकार को नई सुधार योजना को लागू करने के लिए विवश किया गया और स्थान-स्थान पर महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन का आधारभूत ढांचा खड़ा हुआ।

लखनऊ समझौता (1916)

1911-1916 के दौरान देश-विदेश की घटनाओं ने मुस्लिम लीग और कांग्रेस की सोच में परिवर्तन किया। मुस्लिम लीग और अंग्रेज़ों में परस्पर लगाव कम होता गया। 1911 में बंगाल को पुनः एक करने से मुसलमान क्षुब्ध हुए। दूसरे, 1911 में इटली और टर्की के बीच युद्ध में मुसलमानों की भावनाओं के विपरीत अंग्रेज़ों ने इटली का साथ दिया। इससे मुसलमानों को लगा कि अंग्रेज़ ईसाई देश की ही मदद करेंगे। तीसरे, 1913 में मुस्लिम लीग के संविधान में परिवर्तन हुआ। उन्होंने ब्रिटिश सम्राट के संरक्षण में रहते हुए भारत की स्थिति के अनुकूल स्वायत्त शासन की प्राप्ति की मांग को स्वीकार किया, जिससे क्षुब्ध होकर आगा खां जैसे प्रसिद्ध मुस्लिम लीग के प्रमुख, लीग को छोड़कर चले गए। चौथे, मुस्लिम लीग में पुरानी पीढ़ी के स्थान पर नवयुवक आए, जिनमें मौलाना मोहम्मद अली, मौलाना शौकत अली, डॉ. एम. ए. अंसारी, मौलाना अबुल कलाम आजाद थे। ये सभी प्रबुद्ध थे और इनमें से कई पत्रों के संपादक भी थे, जो जन-भावना से भी परिचित थे। पांचवें, महायुद्ध में बल्कान और पश्चिम एशिया के प्रति अंग्रेज़ों की नीति से मुसलमानों में बौखलाहट होने लगी थी। छठे, सर्व इस्लामवाद का उद्घोष सभी मुस्लिमों को उत्तेजित कर रहा था। अतः मुस्लिम सोच में कुछ देर के लिए बदलाव आया। सातवें, 1909 के अधिनियम को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने स्वीकार नहीं किया, परंतु उसको लागू करने में सरकार को सहयोग दिया। इसका कारण नए वायसराय लॉर्ड हार्डिंग की कांग्रेस के प्रति सहानुभूति थी। आठवें, कांग्रेस को मुसलमानों को साथ लेने में यद्यपि ज़्यादा सफलता नहीं मिली, परंतु वह भी उनकी सहायता और सहयोग की इच्छुक थी।

अतः कांग्रेस और मुस्लिम लीग धीरे-धीरे एक दूसरे के निकट आए। 1913 में कांग्रेस ने अपने अधिवेशन में टर्की के प्रति अपनी सद्भावना प्रकट की। 1915 में लीग के अधिवेशन में कांग्रेस के प्रमुख नेताओं, जैसे – महात्मा गांधी, सरोजिनी नायडू और मदन मोहन मालवीय ने भाग लिया। इस अधिवेशन की अध्यक्षता मोहम्मद अली जिन्ना ने की। इसमें हिंदू-मुस्लिम एकता पर बल दिया गया। इसमें एक समिति बनी, जिसे दोनों ने स्वीकार किया। इसी आधार पर लखनऊ समझौता हुआ।

1916 में इन दोनों के बीच कई बैठकें हुईं। इसमें दो विषय विचारणीय थे – प्रथम, मुसलमानों की पृथक चुनाव प्रणाली के माध्यम से अपने प्रतिनिधि चुनकर वर्तमान स्थिति बनाए रखी जाए, और दूसरा, मुसलमानों के प्रतिनिधित्व का अनुपात निश्चित हो। अंततोगत्वा दोनों में समझौता हो गया और दोनों ने मिलकर अब अंग्रेज़ों से मांग की कि, 'भारतवर्ष को पराधीनता की वेदी से ऊपर उठा कर आत्मशासित उपनिवेश की भांति साम्राज्य के कामों में बराबर का

हिस्सेदार बनाया जाना चाहिए।' इस समझौते के द्वारा कांग्रेस ने सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व को स्वीकार कर लिया जो अब तक की उसकी नीति के विरुद्ध था। इस समझौते से कुछ समय के लिए हिंदू-मुस्लिम एकता स्थापित हो गई। यह समझौता अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेज़ों के 'बांटो और राज करो' की नीति की सफलता थी।

संभवतः समझौता करते समय तत्काल लाभ पर ही ध्यान दिया गया, पर उसके दूरगामी परिणामों को अनदेखा कर दिया गया। यह सोचना कि सांप्रदायिक निर्वाचन को आधार मानकर देश को एकता की लड़ी में पिरोया जा सकेगा, एक बड़ी भूल थी। एक विद्वान ने लिखा है कि कांग्रेस के उस समय के नेताओं ने समझा था कि जो समझौता हो रहा है, वह सौदे का अंतिम अध्याय है, पर वस्तुतः वह केवल पहला अध्याय निकला और उसके अंतिम अध्याय का शीर्षक था 'पाकिस्तान'। अगले चार-पांच वर्षों तक हिंदू-मुस्लिम एकता का भाव प्रकट हुआ, जिसका गांधी के प्रारंभिक आंदोलनों में दर्शन हुआ।

अभ्यास प्रश्न

1. 'सर सैयद अहमद खां एक सुधारवादी थे' – इस कथन का मूल्यांकन कीजिए।
2. अलीगढ़ एवं देवबंद आंदोलनों में अंतर बताइए। दोनों में से किस आंदोलन का भारत के राष्ट्रवादी आंदोलन में अधिक योगदान रहा ?
3. भारत में मुस्लिम लीग की स्थापना के क्या कारण थे ? अंग्रेज़ों की 'बांटो और राज करो' की नीति की सफलता में इसका क्या योगदान था?
4. 1905-1914 के मध्य भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की गतिविधियों का विश्लेषण कीजिए।
5. लखनऊ समझौते के लिए कौन-सी परिस्थितियां ज़िम्मेदार थीं? इस समझौते का क्या परिणाम हुआ?
6. एनी बेसेंट एवं तिलक के आंदोलन के क्या उद्देश्य थे और उसके क्या महत्वपूर्ण परिणाम निकले?
7. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए –
   (क) 1907 की सूरत फूट
   (ख) एनी बेसेंट
   (ग) सर सैयद अहमद खां

परियोजना कार्य

- 1906 से 1916 के मध्य जिन स्थानों पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग के अधिवेशन हुए, उनकी सूची बनाइए एवं प्रत्येक सत्र के अध्यक्ष का नाम लिखिए।

12
अध्याय

गांधी जी, राष्ट्रीय आंदोलन और क्रांतिकारी गतिविधियां

महात्मा गांधी का राजनीति में प्रवेश

भारतीय स्वतंत्रता के इतिहास में 1919 का वर्ष एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसी वर्ष में महात्मा गांधी जैसे महान व्यक्ति का देश के राजनीतिक आंदोलन में सक्रिय रूप से पदार्पण हुआ, जिनके नेतृत्व में ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध एक के बाद एक कई राजनीतिक आंदोलनों का क्रम निरंतर चला। महात्मा गांधी वर्तमान युग के एक महान चिंतक, विचारक और सुधारक थे, जिन्होंने भारतीय सामाजिक जीवन की मूल समस्याओं पर गहन चिंतन व मनन किया। उन्होंने देश को स्वतंत्र कराने के लिए एक विशिष्ट दृष्टि व मार्ग भी सुझाया। उनका व्यक्तित्व बहुआयामी था।

महात्मा गांधी का जन्म 2अक्टूबर, 1869 को गुजरात के काठियावाड़ के पोरबंदर नामक स्थान पर हुआ। इनका पूरा नाम मोहनदास कर्मचंद गांधी था। इनका परिवार धर्मपरायण, परंपरावादी और विष्णुभक्त था। 13 वर्ष की आयु में इनका विवाह कस्तूरबा से हुआ। 1887 में वे उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंग्लैंड गए और 1891 में वहां से बैरिस्ट्री पास करके लौटे। 1893 में वे एक मुकद्दमे की पैरवी के लिए दक्षिण अफ्रीका गए। यहां वे एक वर्ष के लिए गए थे, परंतु लगभग 22 वर्ष रहे। वहां पर वे प्रवासी भारतीयों के प्रति अंग्रेज़ों की रंगभेद नीति से बहुत नाराज़ हुए और इसके विरुद्ध उन्होंने 1893 से 1914 तक अहिंसात्मक संघर्ष किया, जिसमें उन्हें बहुत सफलता मिली। जनवरी 1915 में जब वे भारत लौटे तो भारत भी प्रथम महायुद्ध में अंग्रेज़ों की मदद में लगा हुआ था।

भारतीय राजनीति में महात्मा गांधी ब्रिटिश सरकार के बिना शर्त के सहयोगी के रूप में आए। उन्होंने अपने को ब्रिटिश सरकार का 'भर्ती करने वाला सार्जेंट' बताया और भारतीयों को ब्रिटिश सरकार की जन-धन से सहायता करने को प्रेरित किया। उन्हें लगा कि अंग्रेज़ इस महायुद्ध में उच्च सिद्धांतों की रक्षा के लिए लगे हैं। उन्हें लगता था कि अंग्रेज़ युद्ध के पश्चात भारत के लिए स्वाधीनता की दिशा में काम करेंगे, परंतु उनका स्वप्न शीघ्र ही टूट गया। इससे पूर्व कि हम राजनीतिक आंदोलन में उनके प्रमुख क्रियाकलापों का वर्णन करें, उनके विचारों विशेषकर, सत्य,



महात्मा गांधी

अहिंसा और रचनात्मक कार्यक्रमों के बारे में, जानना आवश्यक है।

गांधी जी के विचार

गांधी जी के राजनीतिक विचार धर्म पर आधारित थे। उन्होंने धर्म को सांप्रदायिक मत के रूप में नहीं अपनाया। उनका हिंदू धर्म में अटूट विश्वास था, परंतु उनका हिंदू धर्म एक मानव धर्म के रूप में है। वे राजनीति में सत्य, अहिंसा, नैतिकता, विश्वबंधुत्व, त्याग और आत्मविश्वास को महत्त्व देते थे।

गांधी जी ने अपने विचार 1909 में 'हिंद स्वराज्य' नामक पुस्तक में लिखे। उन्होंने यह विचार 1909 में लंदन से दक्षिण अफ्रीका लौटते हुए एक काल्पनिक संवाद के रूप में दिए थे, जो उनके विभिन्न व्यक्तियों से हुए अनुभवों के आधार पर थे। मूल किताब गुजराती में लिखी गई थी। इसमें उन्होंने विभिन्न विषय, जैसे – पश्चिमी देशों में यूरोप और अमेरिका में फैली आधुनिक सभ्यता का त्याग, भारत में प्राचीन काल से धर्म परायण व नीति प्रधान सभ्यता का समर्थन, अहिंसा का समर्थन, यंत्रवाद का विरोध, सत्याग्रह का पोषण और आत्मबल की महत्ता को दर्शाया है। 'हिंद स्वराज्य' की प्रस्तावना में स्वयं गांधी जी ने लिखा है कि उनका सारा प्रयत्न हिंद स्वराज्य में बनाए हुए स्वराज्य की स्थापना करने के लिए ही है। उन्होंने उसकी कुंजी सत्याग्रह, आत्मबल या करुणाबल बताई और पूरी तरह स्वदेशी अपनाने पर बल दिया।

❑ *सत्य*

गांधी जी ने अपने विचारों में सत्याग्रह पर बहुत बल दिया है। सत्याग्रह का अर्थ है सत्य के लिए आग्रह यानी सत्य के लिए कष्ट सहकर आग्रह करना। गांधी जी सत्य के लिए अहिंसा के तरीकों के पक्षपाती थे। अत: सत्य के लिए स्वयं कष्ट सहते हुए प्रयत्न करना उन्हें मंजूर था। वे सत्याग्रह का प्रयोग केवल नीति के रूप में नहीं, बल्कि सिद्धांत के रूप में करते थे। गांधी जी ने स्वयं लिखा था कि 'सत्याग्रह एक ऐसा आध्यात्मिक सिद्धांत है, जो मनुष्य मात्र के प्रेम पर आधारित है। इसमें विरोधियों के प्रति घृणा की भावना नहीं है।' वे सत्याग्रह को सर्वोपरि बल मानते थे।

गांधी जी सत्याग्रही के लिए चार शर्तें आवश्यक मानते हैं। सत्याग्रही को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए, गरीबी अपनानी चाहिए, सत्य-पालन तो करना ही चाहिए और हर हालत में अभय बनना चाहिए। गांधी जी अपने चिंतन में नैतिकता पर बहुत बल देते थे। उनका कहना था कि सत्य नैतिकता का सार है।

❑ *अहिंसा*

गांधी जी ने सत्य के साथ अहिंसा पर बहुत बल दिया। उन्होंने अहिंसा को कायरता का नहीं, अपितु वीरता का प्रतीक माना। 11अगस्त, 1946 के 'यंग इंडिया' के अंक में उन्होंने लिखा, 'यद्यपि अहिंसा

का अर्थ क्रियात्मक रूप से जानबूझ कर कष्ट उठाना है, तथापि यह सिद्धांत दुराचारियों के सामने हथियार डालने का समर्थन नहीं करता। इसके विपरीत वह दुराचारी का पूर्ण आत्मबल से सामना करने की प्रेरणा देता है। इस सिद्धांत को मानने वाला व्यक्ति अपनी इज़्ज़त, धर्म और आत्मा की रक्षा के लिए एक अन्यायपूर्ण साम्राज्य की समस्त शक्तियों को भी चुनौती दे सकता है और अपने पराक्रम द्वारा उसके पतन के बीज भी बो सकता है।'

महात्मा गांधी का विचार है, जो व्यक्ति अंतःचेतना व आत्मा में विश्वास करता है वही सत्य, अहिंसा और प्रेम के तत्त्व को समझ सकता है। जब भी मानव की आत्मा जाग्रत होती है, वह हिंसा से दूर हो जाता है। अहिंसा प्रेम का स्वरूप है। उन्होंने अहिंसा के बारे में स्वयं कहा है, 'मैं विश्वास करता हूं कि अहिंसा में समस्त समस्याओं के निराकरण की शक्ति है। साथ ही मेरा यह भी विश्वास है कि विश्व में कोई भी देश यदि समस्त समस्याओं को अहिंसा द्वारा हल कर सकता है, तो वह केवल भारत है।'

महात्मा गांधी का विश्वास था कि आज भी दुनिया में जितने लोग ज़िंदा हैं, वे बताते हैं कि दुनिया का आधार हथियार बल नहीं है। उनके अनुसार इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि दुनिया इतने हंगामों के बाद भी टिकी हुई है।

❑ साधन और साध्य

महात्मा गांधी की सत्याग्रह और अहिंसा में अटूट श्रद्धा थी। वे अपने राजनीतिक आंदोलनों में भी कोई हिंसा, छल-कपट अथवा धोखे का मार्ग न अपनाकर सत्य-अहिंसा को ही महत्त्व देते थे। महात्मा गांधी का निश्चित मत था कि केवल साध्य ही पवित्र नहीं होना चाहिए, बल्कि साधन भी उतना ही पवित्र होना चाहिए। वे साधन और साध्य को बीज और पौधे की भांति एक-दूसरे से संबंधित मानते थे। उनका मत था कि हिंसा के मार्ग से प्राप्त साधन बाद में नष्ट हो जाएगा। विश्व के इतिहास में उनका यह प्रयोग अलौकिक और कल्पनातीत था।

रचनात्मक कार्यक्रम

गांधी जी एक महान समाज सुधारक थे। उन्होंने अपने रचनात्मक कार्यक्रमों में अस्पृश्यता को दूर करने, हिंदू-मुस्लिम एकता और नारी सुधार को प्रमुखता दी। गांधी जी ने अछूतोद्धार का राष्ट्रव्यापी प्रयत्न किया। उन्होंने अछूत को 'हरिजन' नाम दिया। इसे हिंदू जाति पर कलंक और सामाजिक सुधार की दिशा में अनेक सिर वाला दैत्य बताया। इसके उन्मूलन के लिए उन्होंने दोनों प्रकार के मार्ग बतलाए- सुधारवादी भी और आंदोलनकारी भी। उन्होंने उपवासों, देशव्यापी भ्रमणों, हरिजन सेवक संघ के रूप में स्थापित संगठनों, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के प्रयासों और कानूनों द्वारा इस प्रथा के संपूर्ण उन्मूलन का प्रयास किया। गांधी जी को अपने इस उद्देश्य में यद्यपि पूर्ण सफलता नहीं मिली, परंतु उन्हें इस समस्या को राष्ट्रीय स्वरूप देने का श्रेय है। उन्होंने शताब्दियों से हिंदुओं से अलग पड़े अस्पृश्यों को राष्ट्र की मुख्यधारा से जोड़ने का भी प्रयास किया।

दूसरे, गांधी जी ने हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए असीम प्रयास किए। उनके दक्षिण अफ्रीका के पूर्व-अनुभवों ने उन्हें इन एकता के प्रयासों के लिए प्रोत्साहित किया। लखनऊ समझौते ने उनमें और आशा जगा दी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में भी अनेक मुसलमान उनके निकट आए। वे, दोनों की परस्पर एकता में ही देश की मुक्ति देखते थे और अगले 40 वर्षों तक उन्होंने इसके लिए भरसक प्रयत्न किए। गांधी जी इस एकता की गंभीरता और कठिनाइयों से परिचित थे। उन्होंने एक पत्र में इस गंभीरता को 'समस्याओं की समस्या' कहा था और कई बार इसके कारण वे क्षुब्ध भी हो गए थे, परंतु वे जीवन भर उसके लिए एकाग्रता से जुड़े रहे। उनके असीम प्रयत्नों से 1919 से 1922 तक हिंदू-मुस्लिम सौहार्द

का एक अद्‌भुत दृश्य प्रस्तुत हुआ। उनका विश्वास था कि देश की आज़ादी के लिए हिंदू-मुस्लिम एकता आवश्यक है। अतः उन्होंने इसके लिए सक्रिय प्रयास किए।

उनके रचनात्मक कार्यक्रमों में नारी उत्थान महत्वपूर्ण था। उन्होंने महिलाओं में पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह और बहुविवाह का विरोध किया। उन्होंने महिलाओं का आह्वान किया कि वे पर्दा त्याग कर देश के राष्ट्रीय आंदोलन में कूद पड़ें। अनेक महिलाओं को विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करने, वस्त्रों को जलाने और शराब के ठेकों पर धरना देने को प्रोत्साहित किया। उन्होंने स्त्री शिक्षा, विधवा-विवाह और अंतर्जातीय विवाह पर बल दिया। उनका विश्वास था कि महिलाओं की स्थिति में तब तक परिवर्तन नहीं होगा, जब तक वे स्वयं आगे नहीं आएंगी। महात्मा गांधी को इस बात का श्रेय है कि वे भारतीय महिलाओं को राजनीति में लाए। साथ ही चरखे और खादी के द्‌वारा उन्होंने स्वदेशी वस्त्रों के साथ देश की अर्थव्यवस्था को भी ठीक करने में योगदान दिया।

❒ *स्वदेशी*

गांधी जी ने अपने रचनात्मक कार्यों में स्वदेशी आंदोलन को बड़ा महत्त्व दिया। उन्होंने घरेलू उद्‌योगों को विकसित करने पर बल दिया। साथ ही उन्होंने विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करने को कहा। उनका चरखा कातना शीघ्र ही भारत के ग्रामों के घर-घर में प्रचलित हो गया। गांधी जी ने जहां भारतीयों में आर्थिक आत्मनिर्भरता जगाई, वहां भारतीयों को खादी पहनने का भी संदेश दिया।

❒ *स्वराज्य*

गांधी जी ने अपने चिंतन का मुख्य उद्‌देश्य भविष्य में रामराज्य की स्थापना कहा। उन्होंने अहिंसक स्वराज्य की कल्पना की, जिसमें आदर्श राज्य की स्थापना होगी, जिसमें संपूर्ण देश छोटे-छोटे जन समूह, ग्रामों में निवास करेगा और उनके संगठन के शांतिपूर्ण अस्तित्व की मुख्य शर्त ऐच्छिक सहयोग की होगी। राष्ट्रीय जीवन इतना पूर्ण होगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपने पर नियंत्रण रखे। अतः यह एक राज्यविहीन लोकतांत्रिक व्यवस्था होगी। ऐसी व्यवस्था में राजनीतिक सत्ता का अभाव होगा, जिसमें न कोई शासक होगा और न कोई शासित। गांधी जी इस मत को मानते थे कि वही सरकार सर्वोत्तम होती है, जो न्यूनतम हस्तक्षेप करती है। रामराज्य एक प्रकार से नैतिक राज्य होगा।

भारत में गांधी जी के प्रारंभिक प्रयोग

❒ *चंपारण सत्याग्रह (1917)*

गांधी जी ने अपने विचारों पर आधारित सत्याग्रह का पहला प्रयोग 1917 में बिहार के चंपारण नामक स्थान पर किया। यहां पर यूरोपीय बगीचों के स्वामी नील की खेती करने वाले किसानों पर बड़े अत्याचार करते थे। वे किसानों को नील की खेती करने और उसकी पैदावार को सस्ती दरों पर बेचने को मजबूर करते थे। किसानों को अपनी ज़मीन के कम-से-कम 3/20 भाग पर नील की खेती करनी पड़ती थी और उसे सस्ते दामों पर बेचना पड़ता था। गांधी जी के दक्षिण अफ्रीका में किए गए संघर्षों से प्रभावित होकर यहां के किसानों ने उन्हें चंपारण आने का निमंत्रण दिया। गांधी जी चंपारण गए और वहां के किसानों की दयनीय दशा को देखा। उनके आगमन से चंपारण के ज़िला अधिकारियों में बेचैनी हुई और उन्हें चंपारण छोड़ने का आदेश दिया गया। गांधी जी ने आदेश मानने से इनकार कर दिया और उसके लिए संघर्ष को तत्पर हो गए। सरकार ने परिस्थितियों को भांपते हुए अपना आदेश वापस ले लिया और एक जांच समिति बैठाने का निश्चय किया, जिसका एक सदस्य स्वयं गांधी जी को भी बनाया गया। जांच समिति ने किसानों की दशा सुधारने के लिए कुछ कार्यवाही की। इसी

तरह से इस प्रारंभिक और स्थानीय सत्याग्रह से गांधी ज़ी को प्रत्यक्ष भारतीय किसानों की दयनीय दशा और समस्याओं की जानकारी मिली और उन्हें लगा कि सत्याग्रह का प्रयोग किया जा सकता है।

❐ *खेड़ा सत्याग्रह (1918)*

गांधी जी के सत्याग्रहों की कड़ी में दूसरा खेड़ा के किसानों का सत्याग्रह था। 1918 में गुजरात के खेड़ा ज़िले में फसल खराब होने से किसानों की हालत खराब हो गई। मजबूरन यहां के किसानों ने भूमिकर देने से मना कर दिया। गांधी जी ने यहां भी किसानों का समर्थन किया। इस संघर्ष में सरदार वल्लभभाई पटेल ने भी सक्रिय भाग लिया। यहां भी सरकार को झुकना पड़ा और यह निर्णय हुआ कि सरकार को जो किसान भूमिकर दे सकते हैं, उन्हें ही देने का आदेश दे। अत: कुछ समय बाद यह आंदोलन समाप्त हो गया। इस आंदोलन का भावी राष्ट्रीय आंदोलन को यह लाभ हुआ कि गांधी जी को सरदार वल्लभभाई पटेल जैसा कर्मठ और समर्पित अनुगामी मिल गया।

❐ *अहमदाबाद के मिल मज़दूरों की समस्या (1918)*

1918 में ही अहमदाबाद के कपड़ा मिल मज़दूरों का वेतनवृद्धि के प्रश्न पर वहां के मिल मालिकों से झगड़ा हो गया। मज़दूरों ने मिल में हड़ताल कर दी। मिल मालिक किसी प्रकार के समझौते के लिए तैयार न थे। गांधी जी ने इस झगड़े के निपटारे का प्रयत्न किया। गांधी जी ने मज़दूरों के वेतन में 35% की वृद्धि को उचित ठहराया। साथ ही उन्होंने मज़दूरों को मिल मालिकों के विरुद्ध किसी प्रकार की हिंसा न करने को कहा। स्वयं गांधी जी ने आमरण अनशन प्रारंभ कर दिया। चौथे ही दिन मिल मालिकों ने उनकी बात मान ली और हड़ताल समाप्त कर दी गई।

गांधी जी के चंपारण, खेड़ा और अहमदाबाद के स्थानीय आंदोलनों में भाग लेने ने उन्हें यहां की धरती की समस्याओं और यहां के जनजीवन से जोड़ दिया। उन्होंने अपने भावी राष्ट्रीय आंदोलन की योजना देश की गरीबी व निर्धन जनता को ध्यान में रखकर बनाई।

रॉलट ऐक्ट (मार्च 1919) और रॉलट ऐक्ट विरोधी सत्याग्रह

गांधी जी ने भारत आगमन पर गोपाल कृष्ण गोखले को अपना राजनीतिक गुरु माना, जिन्होंने उन्हें आगामी दो वर्षों तक भारतीय राजनीति का अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया। जैसा कि पूर्व में बताया गया है, चंपारण सत्याग्रह महात्मा गांधी की भारत में अंग्रेज़ों के खिलाफ पहली लड़ाई थी, जिसमें उन्हें सफलता मिली। इसी भांति उन्होंने खेड़ा सत्याग्रह में किसानों के लिए सरकार से और अहमदाबाद में मिल मालिकों के खिलाफ भी संघर्ष किया।

सरकार ने भी यह आश्वासन दिया था कि प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर भारतीयों को अधिक सुविधाएं दी जाएंगी। परंतु महायुद्ध की समाप्ति पर आशा के विपरीत भारतीयों को अकाल, महामारी, आर्थिक शोषण, प्रेस के कठोर नियम और अन्य दमनकारी गतिविधियां मिलीं। युद्ध के दौरान भारतीय सुरक्षा अधिनियम भी पारित किया गया, जो युद्ध के काल में ही संभव था। अत: भारत सरकार ने 1917 में सर सिडनी रॉलट की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की, जिसकी सिफारिश पर केंद्रीय विधान मंडल में दो बिल प्रस्तुत हुए। इतिहास में यह 'रॉलट बिल' के नाम से प्रसिद्ध है। इन दो बिलों में से एक को 19 मार्च, 1919 को पास कर दिया गया।

इस ऐक्ट के अंतर्गत किसी भी व्यक्ति को संदेह के आधार पर गिरफ्तार किया जा सकता था, परंतु उसके विरुद्ध 'न कोई अपील, न कोई दलील और न कोई वकील' किया जा सकता था। इसे 'काला कानून' कहकर पुकारा गया और महात्मा गांधी ने वायसराय को पत्र लिखकर यह चेतावनी दी कि अगर सरकार ने इसे वापस नहीं लिया, तो इसके विरोध में

देशव्यापी सत्याग्रह किया जाएगा। 'हड़ताल' शब्द का संभवत: प्रथम बार उपयोग किया गया। पहले 30मार्च, 1919 की तारीख देशव्यापी हड़ताल के लिए तय हुई, परंतु बाद में सभी जगह समाचार न पहुंचने पर यह 6 अप्रैल, 1919 कर दी गई। बंबई में सत्याग्रह सभा का गठन हुआ। यह एक अभूतपूर्व हड़ताल थी। चारों ओर हिंदू-मुस्लिम एकता का प्रदर्शन हुआ। दिल्ली में हड़ताल 30 मार्च को ही हो गई। आर्य समाज नेता स्वामी श्रद्धानंद को चांदनी चौक में जब सरकार ने आगे बढ़ने पर कड़ी चेतावनी दी, तो उन्होंने अपना सीना खोल कर कहा 'हिम्मत है तो मारो गोली'। इस प्रकार के उमंग भरे प्रसंग जगह-जगह पर हुए। गांधी जी को 9 अप्रैल को दिल्ली के निकट पलवल रेलवे स्टेशन पर गिरफ्तार कर लिया गया। पंजाब के दो प्रमुख नेता डॉ. सत्यपाल और डॉ. किचलू को अमृतसर में 10 अप्रैल को गिरफ्तार कर लिया गया। अमृतसर में जनता ने रोष में आकर विशाल जुलूस निकाला, कई यूरोपीय मार दिए गए। स्थानीय बैंक लूटे गए।

जलियांवाला बाग हत्याकांड (13अप्रैल, 1919)

13अप्रैल, 1919 को अमृतसर में एक महान घटना हुई, जिसने भारतीय इतिहास की दिशा मोड़ने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। 10-12 अप्रैल, के बीच अमृतसर में बड़ी हलचल रही। 13 अप्रैल, जो बैसाखी का दिन था, पंजाब में फसल कटाई की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इस दिन सरकार ने कोई भी मीटिंग, सामूहिक एकत्रीकरण और जुलूस निकालने पर प्रतिबंध लगा दिया और स्थान-स्थान पर इसकी घोषणा की गई। साथ ही उसी दिन सायंकाल 4 बजे जलियांवाला बाग में एक जलसे की भी घोषणा की गई। वास्तव में जलियांवाला बाग कोई बाग नहीं, बल्कि स्वर्ण मंदिर के निकट एक खाली जगह थी, जिसके चारों ओर मकान थे और निकलने का केवल एक मार्ग था। यह कभी जल्ली नामक व्यक्ति की संपत्ति थी। यहां प्राय: जनसभाएं होती रहती थीं। अत: जलियांवाला बाग में जलसा हुआ, जिसमें रॉलट ऐक्ट का विरोध हुआ। जनरल डायर के अनुसार लगभग 15-20 हज़ार लोग थे। जनरल डायर ने जलसा करने वालों को सबक सिखलाना चाहा। उसके पहुंचने से पहले सात वक्ता बोल चुके थे और बृज गोपीनाथ नामक व्यक्ति ने एक कविता, 'फ़रियाद' पढ़कर पूरी की थी। जनरल डायर ने जाते ही गोली चलाने का आदेश दे दिया। लगभग दस मिनट तक निरंतर गोलियां चलती रहीं। डायर के अनुसार कम गोलियां चलाना एक हिंसात्मक बेवकूफ़ी होती। उसके लिए फ्रांस का रणक्षेत्र और अमृतसर की यह मीटिंग एक ही बात थी। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार 379 व्यक्ति मारे गए, जबकि कांग्रेस समिति के अनुसार मरने वालों की संख्या 1000 के लगभग थी, मृतकों की लाशों का कोई विचार न करके रात्रि आठ बजे अमृतसर में कर्फ्यू लगा दिया गया।

अमृतसर के भयंकर हत्याकांड के साथ 15 अप्रैल को लाहौर व अमृतसर, 16 अप्रैल को गुजरांवाला, 19 अप्रैल को गुजरात व 24 अप्रैल को लायलपुर में फ़ौजी कानून लागू कर दिया गया। यह फ़ौजी शासन शीघ्र ही मनमानी करने पर उतारू हो गया। अमृतसर में दो मास तक बिजली पानी की सप्लाई बंद कर दी गई। वकीलों से कुलियों का काम लिया गया। कुछ लोगों द्वारा कुमारी शेरवुड के अपमान पर उक्त गली में जहां वह रहती थी, लोगों को रेंग कर चलना पड़ता था। विद्यार्थियों को नित्य कई बार कोतवाली जाना पड़ता था। असंख्य लोगों को धूप में खड़ा करने, चांटे मारने, दाढ़ी-मूंछ नोंचने और बेंतें लगाने की सजा दी जाती थी। वास्तव में यह मार्शल लॉ ब्रिटिश प्रशासन के आतंकवाद की पराकाष्ठा थी। कांग्रेस के अनुसार इस काल में 108 व्यक्तियों को मृत्युदंड और पंजाब के लोगों को अनेक वर्षों की सज़ा दी गई।

इस हत्याकांड की जांच-पड़ताल के लिए 19 अक्टूबर, 1919 को हंटर कमेटी की नियुक्ति हुई, जिसकी रिपोर्ट 28 मई, 1920 को प्रकाशित हुई। कांग्रेस ने भी जांच के लिए अपनी अलग समिति बनाई।

जलियांवाला बाग की घटना जनमानस में एक टीस बन कर रह गई। अंग्रेज़ों ने प्राय: जनरल डायर का पक्ष लिया। किसी ने उस घटना को 'मानसिक असंतुलन' कहा, तो किसी ने 'आत्म-सुरक्षा' का कारण बताया। यहां तक कि कुछ ने जनरल डायर को 'ब्रिटिश साम्राज्य का रक्षक' कहकर सम्मानित किया और उसे एक तलवार और 20,000 पौंड की राशि भी दी।

परंतु भारतीय इस घटना को न भूले। गांधी जी ने कहा कि अब अंग्रेज़ों को भारत में शासन करने का नैतिक औचित्य नहीं है। उन्होंने और रवींद्रनाथ टैगोर ने विरोध स्वरूप अपनी उपाधियां त्याग दीं।

खिलाफ़त आंदोलन

20वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही टर्की के प्रश्न पर भारत के मुसलमानों में चेतना जाग्रत हुई थी। टर्की का सुल्तान मुस्लिम जगत के प्रमुख के रूप में खलीफ़ा भी था और इस भांति सुल्तान और खलीफ़ा के पद एक ही व्यक्ति को मिले हुए थे। महायुद्ध की घोषणा में मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध टर्की के होने से भारतीय मुसलमानों में तीव्र उत्तेजना हुई। मुसलमानों की यह बेचैनी शीघ्र ही खिलाफ़त आंदोलन के रूप में प्रकट हुई।

खिलाफ़त आंदोलन भारतीय मुसलमानों का मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध विशेषकर ब्रिटेन के खिलाफ़ टर्की के खलीफ़ा के समर्थन में आंदोलन था। टर्की के टुकड़े होने से मुसलमान भयभीत थे, उन्हें मुसलमानों के धार्मिक स्थानों के भविष्य की चिंता थी।

मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, डॉ. एम. ए. अंसारी, डॉ. सैफुद्दीन किचलू, मौलवी अब्दुल बरी (लखनऊ), हकीम अजमल खां और अली बंधु, इसके प्रमुख नेता थे। आज़ाद ने 1912 में 'अल हिलाल' और मोहम्मद अली ने 'द कॉमरेड' पत्र प्रारंभ किए। युद्ध के दौरान अली बंधुओं को गिरफ्तार कर लिया गया और युद्ध समाप्त होने पर उन्हें दिसंबर 1919 में छोड़ दिया गया।

खिलाफ़त आंदोलन मुस्लिम बाहुल्य प्रांतों – बंगाल, उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत और पंजाब में ज़्यादा तीव्र था। 19 अक्टूबर, 1919 को समूचे देश में 'खिलाफ़त दिवस' मनाया गया। 23 नवंबर को हिंदू और मुसलमानों की एक संयुक्त कांफ्रेंस हुई, जिसकी अध्यक्षता महात्मा गांधी ने की। 19 जनवरी, 1920 को अली बंधु भारत के वायसराय से मिले, पर निराशा हाथ लगी। एक खिलाफ़त मैनीफ़ेस्टो भी तैयार किया गया। महात्मा गांधी को देश की आज़ादी के लिए हिंदू-मुस्लिम एकता आवश्यक लगी। उन्होंने खलीफ़ा के प्रश्न पर मुसलमानों को सहयोग देकर उनका समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इसी बीच सितंबर 1919 में अखिल भारतीय खिलाफ़त कमेटी बनाई गई। उलेमाओं ने जमायत-उल-उलेमा की भी स्थापना की। मार्च 1920 में मौलाना शौकत अली और मोहम्मद अली के नेतृत्व में एक शिष्टमंडल इंग्लैंड भी भेजा गया, परंतु उसे सफलता नहीं मिली।

ब्रिटिश सरकार ने मुसलमानों की मांग की ओर ध्यान नहीं दिया और 10 अगस्त, 1920 को सेवर्स (Sevrce) में संधि की गई, जिसके द्वारा टर्की का विभाजन कर दिया गया। टर्की के सुल्तान को भी बंदी बनाकर कुस्तुंतुनिया भेज दिया गया। कुछ समय बाद यह आंदोलन स्वत: ही स्थगित हो गया।

खिलाफ़त आंदोलन में गांधी जी के सहयोग से कुछ क्षणिक लाभ अवश्य हुआ। कुछ मुसलमानों ने कांग्रेस के अधिवेशनों में भाग लेना प्रारंभ किया और मौलाना आज़ाद, अंसारी और हकीम अजमल खां जैसे नेताओं ने कांग्रेस में प्रमुख भूमिका निभाई। परंतु खलीफ़ा का प्रश्न समाप्त होते ही हिंदू-मुस्लिम एकता ज़्यादा देर तक न रह सकी। मुसलमानों का टर्की के प्रति यह प्रेम वास्तव में राष्ट्रीय न होकर

धार्मिक था। देश के एक विद्वान के अनुसार ऐसे मुसलमान अपना राष्ट्रीय मूल अन्यत्र सोचते थे। मुगल सम्राटों ने भारत के बाहर किसी खलीफ़ा या आध्यात्मिक नेता को मान्यता न दी थी। एम. सी. चागला ने जो स्वतंत्र भारत में भारत के मुख्य न्यायाधीश रहे, खलीफ़ा आंदोलन को राष्ट्रीय कार्यक्रम के साथ जोड़ने को एक 'महान गलती' कहा है, क्योंकि इससे मुसलमानों में देश के बाहर भक्ति-भाव पैदा हुआ। अतः इससे सांप्रदायिक भावना को बढ़ावा मिला।

असहयोग आंदोलन (1920-1922)

रॉलट ऐक्ट, जलियांवाला बाग कांड और खिलाफ़त आंदोलन के उत्तर के रूप में गांधी जी ने 1अगस्त, 1920 को असहयोग आंदोलन प्रारंभ करने की घोषणा कर दी। सितंबर 1920 में कलकत्ता के विशेष अधिवेशन में और पुनः दिसंबर 1920 में नागपुर के कांग्रेस अधिवेशन में इसका समर्थन किया गया। कांग्रेस का लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत स्वशासन की बजाए स्वराज्य घोषित किया गया। मोहम्मद अली जिन्ना, एनी बेसेंट और विपिन चंद्र पाल कांग्रेस के इस असहयोग से सहमत न थे, अतः उन्होंने कांग्रेस छोड़ दी।

आंदोलन के कार्यक्रमों में उपाधियां और अवैतनिक पदों का त्याग, स्थानीय संस्थाओं में नामजद सदस्यों का त्यागपत्र, सरकारी समारोहों और दरबारों का बहिष्कार, विदेशी माल का बहिष्कार, स्वदेशी माल का प्रयोग, सरकारी या सहायता प्राप्त स्कूलों और कॉलेजों का त्याग और राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना, चुनावों का बहिष्कार, सरकारी न्यायालयों में वकीलों का बहिष्कार और राष्ट्रीय न्यायालयों की स्थापना प्रमुख थे। इसके अलावा हिंदू-मुस्लिम एकता और छुआछूत दूर करने का प्रयास भी कार्यक्रम का भाग था।

आंदोलन का प्रारंभ महात्मा गांधी ने अपनी उपाधियां त्याग कर किया। देश के अन्य नेताओं और प्रभावी व्यक्तियों ने भी अपनी उपाधियां और पदवियां छोड़ दीं। विद्यार्थियों ने स्कूल और कॉलेज छोड़े। काशी विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, गुजरात विद्यापीठ जैसे राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना हुई। देश के सभी बड़े नेताओं ने अपनी वकालत छोड़ी। विधान मंडलों का बहिष्कार किया गया। कोई भी कांग्रेसी विधान मंडल के चुनाव में खड़ा नहीं हुआ।

जब ड्यूक ऑफ कैनाट भारत आए तो उनका बहिष्कार किया गया। इसी भांति नवंबर 1921 में प्रिंस ऑफ वेल्स का भी बहिष्कार किया गया। सरकार ने कठोर दमन का सहारा लिया। अनेक नेता गिरफ्तार किए गए। कांग्रेस और खिलाफ़त कमेटियों को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। स्थान-स्थान पर विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई। स्वदेशी का प्रचार हुआ। घर-घर चरखे चलाए जाने लगे। गांधी जी ने लोगों से 'तिलक स्वराज्य फंड' में दान देने का आग्रह किया। परिणामस्वरूप एक करोड़ रुपए से भी अधिक धनराशि इकट्ठी हो गई।

असहयोग आंदोलन में हिंदू-मुस्लिम एकता का भी प्रकटीकरण हुआ। परंतु मालाबार में खिलाफ़ती सभाओं ने धार्मिक भावनाओं को इतना उग्र कर दिया कि जुलाई 1921 में उसने एक हिंदू विरोध का रूप ले लिया। इतिहास में यह विद्रोह मोपला विद्रोह के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह मुख्यतः मुस्लिम किसानों का हिंदू भू-स्वामियों के विरुद्ध विद्रोह था। ब्रिटिश सरकार ने सेना की मदद से इस विद्रोह को दबाया। 1921 के अंत में कई स्थानों पर कर न देने का भी निश्चय हुआ। आंध्र के गुंटूर में यह प्रारंभ भी हो गया, पर गांधी जी ने इसकी अनुमति नहीं दी।

यद्यपि दिसंबर 1921 में कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन में आंदोलन को तीव्र करने की बात कही

गई। फ़रवरी 1922 में महात्मा गांधी ने भारत के गवर्नर जनरल लॉर्ड रीडिंग को पत्र लिखकर कर न देने की धमकी दी। लेकिन 5 फ़रवरी, 1922 को उत्तर प्रदेश के गोरखपुर ज़िले में चौरीचौरा नामक स्थान पर एक भीड़ ने पुलिस चौकी को घेर लिया और आग लगा दी। इसमें 21 सिपाही और एक थानेदार की मौत हो गई। गांधी जी ने आंदोलन को हिंसात्मक होते देख स्थगित करने की घोषणा कर दी। देश के अनेक बड़े नेता अचानक इस घोषणा से भौंचक्के रह गए। पं. जवाहरलाल नेहरू इससे क्रोधित हुए। सुभाष चंद्र बोस ने इसे 'अत्यंत कष्टदायक' बताया। लाजपतराय, शौकत अली और मोहम्मद अली भी असंतुष्ट हुए। गांधी जी को गिरफ़्तार कर लिया गया। मोतीलाल नेहरू और चित्तरंजन दास ने कांग्रेस के अंतर्गत स्वराज्य पार्टी का गठन किया।

आंदोलन अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुआ। वास्तव में कांग्रेस के कुछ बड़े नेताओं ने इसे मन से स्वीकार नहीं किया था। उदाहरणतः लाजपतराय ने शिक्षण संस्थाओं के बहिष्कार का विरोध किया। गांधी जी जनता में हृदय परिवर्तन द्वारा अहिंसा एवं हिंदू-मुस्लिम एकता की भावना जाग्रत करना चाहते थे, लेकिन ये दोनों उद्देश्य भी पूरे न हुए। हिंदू-मुस्लिम एकता का प्रश्न भी एक स्वप्न बनकर रह गया। प्रश्न स्वयं में भी इतना सीधा न था। अंग्रेज़ों की 'बांटो और राज करो' की नीति ने भी इसे बढ़ावा दिया। महात्मा गांधी इस आंदोलन के द्वारा न तो पंजाब में हुई गलतियों का सुधार करवा सके और न ही वायदे के अनुसार एक वर्ष में स्वराज्य ही प्राप्त करवा सके। अतः इन सभी कारणों से असहयोग आंदोलन सफल न हो सका।

पर इसमें भी कोई संदेह नहीं कि इसने भारत के राष्ट्रीय आंदोलन को उद्वेलित किया। सरकार के प्रति विरोधी वातावरण बनाया। अन्याय के विरुद्ध संघर्ष की भावना जगाई। खादी का प्रयोग और स्वदेशी का प्रचार आगामी आंदोलनों का भाग बन गया। लोगों के दिल से जेल जाने का डर निकल गया। देश में राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं की बाढ़-सी आ गई। कांग्रेस की नीति और कार्यक्रमों में परिवर्तन हुआ। कांग्रेस अब किसानों, मज़दूरों और युवा विद्यार्थियों तक पहुंच गई। कांग्रेस अब देश व्यापी संस्था बन गई। अंग्रेज़ी भाषा का महत्त्व कम हुआ और कांग्रेस ने हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में महत्त्व दिया। खादी सब कांग्रेसियों की नियमित पोशाक बन गई। अभी तक कांग्रेस आंदोलन बुद्धिजीवियों तक सीमित था, अब वह गांव की आम जनता तक पहुंच गया।

क्रांतिकारी गतिविधियां

राजनीतिक और वैधानिक आंदोलनों के साथ-साथ भारत में स्वतंत्रता के लिए क्रांतिकारी प्रयत्न भी निरंतर चलते रहे। अमृतसर के जलियांवाला बाग की महान घटना, पंजाब में मार्शल लॉ और असहयोग आंदोलन की असफलता ने क्रांतिकारी कार्यों को प्रोत्साहन दिया। शचींद्र सान्याल ने भारत के विभिन्न क्रांतिकारी दलों को संगठित करके 'हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन' की स्थापना की।

❑ *काकोरी कांड*

क्रांतिकारियों में पंडित रामप्रसाद बिस्मिल का विशेष स्थान है। उत्तर प्रदेश के शाहजहांपुर नगर में जन्मे बिस्मिल को बचपन में ही कठिनाइयां, कष्ट और गरीबी विरासत में मिली थी। लखनऊ में रहते हुए वे शीघ्र ही क्रांतिकारियों के संपर्क में आए और उनके प्रमुख सदस्य बन गए। जल्दी ही उनको क्रांतिकारियों की कठिनाइयां, धन की कमी, हथियारों का अभाव, गुप्तचरों का जाल और कार्यकर्ताओं की दुर्दशा का पता चला। उन्होंने एक पुस्तक 'अमेरिका को स्वाधीनता कैसे मिली' और 'देशवासियों के नाम संदेश' नामक एक पर्चा छपवाया, परंतु शीघ्र ही दोनों ही सरकार द्वारा ज़ब्त कर लिए गए। बिस्मिल ने 'बोल्शेविकों

की करतूत', 'मन की लहर', 'स्वदेशी रंग' और 'क्रांतिकारी जीवन' पुस्तकें लिखीं, परंतु इनसे न धन की समस्या हल हुई और न हथियार प्राप्त हुए। बिस्मिल ने सोचा लूटना ही है, तो क्यों न सरकारी खज़ाना ही लूटा जाए। 9 अगस्त, 1925 को जब रेलगाड़ी से सरकारी खज़ाना सहारनपुर से लखनऊ की ओर जा रहा था, यह योजना पूरी की गई। यह खज़ाना काकोरी नामक स्टेशन पर लूटा गया। ताज्जुब की बात यह है कि उस गाड़ी में 14 व्यक्ति ऐसे भी थे, जिनके पास बंदूकें थीं। दो अंग्रेज़ सशस्त्र फ़ौजी जवान भी थे। अंग्रेज़ ड्राइवर इंजन में ही लेटा रहा। एक अन्य अंग्रेज़ इंजीनियर शौचालय में जाकर छिप गया। शीघ्र ही काकोरी कांड में 40 व्यक्तियों को गिरफ्तार कर लिया गया। रामप्रसाद बिस्मिल, राजेंद्र लाहिड़ी, रोशनसिंह व अशफ़ाकुल्ला खां को दिसंबर 1927 में फांसी हुई। शचींद्रनाथ सान्याल को



चंद्रशेखर आज़ाद



अशफ़ाकुल्ला खां

आजीवन कारावास की सज़ा हुई। मन्मथनाथ गुप्त को 14 वर्ष की कैद हुई। कई क्रांतिकारियों को लंबी सज़ाएं हुईं। संभवतः अशफ़ाकुल्ला खां पहले भारतीय क्रांतिकारी मुसलमान थे, जो देश की स्वतंत्रता के लिए फांसी के तख्ते पर लटके थे।

काकोरी कांड में चंद्रशेखर आज़ाद भी सम्मिलित थे, परंतु वे सरकार के हाथ नहीं आए। उनका जन्म 23 जुलाई, 1906 को मध्य भारत के भावरा नामक गांव में हुआ था। ब्रिटिश सरकार ने इनकी गिरफ्तारी के लिए पुरस्कार की घोषणा की थी। फ़रारी के दिनों में वे पंजाब के क्रांतिकारियों से मिलते रहते थे। सांडर्स की हत्या में भगतसिंह के साथ इनका भी हाथ था। 23 दिसंबर, 1930 को वायसराय लॉर्ड इरविन की ट्रेन को उड़ाने के लिए इन्होंने एक योजना बनाई। 23 दिसंबर, 1930 को पंजाब के गवर्नर को भी मारने

की कोशिश की गई। जब वह पंजाब विश्वविद्यालय में दीक्षांत भाषण देने जा रहा था, तो हरकिशन तलवार ने गवर्नर पर गोली चला दी थी। गवर्नर घायल हो गया पर मरा नहीं। 9 जून, 1931 को हरकिशन को फांसी दे दी गई। चंद्रशेखर आज़ाद जब इलाहाबाद के अल्फ्रेड पार्क में बैठे किसी की प्रतीक्षा कर रहे थे, तभी पुलिस ने उन्हें वहां घेर लिया और चारों ओर से दनादन गोलियों से उनके शरीर को छेद डाला।

❐ सरदार भगतसिंह और दिल्ली की केंद्रीय एसेंबली पर बम

इसी भांति पंजाब में युवा क्रांतिकारियों के प्रतीक सरदार भगत सिंह थे। इनका जन्म 27 सितंबर, 1907 में लायलपुर ज़िले के बंगा नामक स्थान पर हुआ। प्रारंभ में भगतसिंह आर्य समाज से प्रभावित थे और इनके चाचा सरदार स्वर्णसिंह व सरदार अजीतसिंह क्रांतिकारी थे। डी.ए.वी. हाई स्कूल से मैट्रिक पास कर उन्होंने लाहौर में नवस्थापित नेशनल कॉलेज से इंटर पास किया। उनकी प्रेरणा के केंद्र मदनलाल ढींगरा व सरदार करतारसिंह सराबा थे। जलियांवाला हत्याकांड की घटना को वे भूले नहीं थे। उनका क्रांतिकारी जीवन उत्तर प्रदेश के क्रांतिकारियों के संपर्क से विकसित हुआ। कानपुर में उनका संपर्क गणेश शंकर विद्यार्थी, शचींद्रनाथ सान्याल व चंद्रशेखर आज़ाद से हुआ था। 1926 में उन्होंने छबील दास व यशपाल से मिलकर 'नौजवान सभा' की स्थापना की। बाद में एक नया दल 'हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन' का गठन किया गया। लाजपतराय की मृत्यु को, जो लाठीचार्ज के कारण हुई थी, एक राष्ट्रीय अपमान के रूप में ले लिया गया और उनके मासिक श्राद्ध पर अर्थात 17 दिसंबर, 1928 को ब्रिटिश पुलिस अधिकारी सांडर्स की हत्या कर दी गई। इस हत्या से पंजाब की सारी पुलिस चौकन्नी हो गई। अपना वेश बदलकर भगतसिंह लाहौर से निकल गए। उन्होंने दिसंबर 1928 में कलकत्ता के कांग्रेस अधिवेशन



सरदार भगतसिंह

में भी भाग लिया। वापस लौटने पर उन्होंने बम निर्माण की कई फैक्ट्रियां स्थापित कीं और इनके प्रयोग के लिए दिल्ली के केंद्रीय एसेंबली भवन को चुना।

केंद्रीय एसेंबली में बम फेंकने का उद्देश्य किसी की जान लेना नहीं था, बल्कि ब्रिटेन के बहरे कानों तक यह संदेश पहुंचाना था कि भारतवासी अब आज़ादी की ज़्यादा समय तक प्रतीक्षा नहीं कर सकते। 8 अप्रैल, 1929 को भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने केंद्रीय एसेंबली में बम फेंक कर संपूर्ण देश में जागृति का धमाका किया। न्याय का नाटक भी हुआ और भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को 23 मार्च, 1931 को फांसी पर लटका दिया गया। सरकार ने खुद ही इनके अधजले शवों को सतलुज नदी में फेंक दिया।

निःसंदेह भगतसिंह और उनके साथियों के बलिदान ने देश में एक नवजागृति पैदा की। देश की नवयुवक पीढ़ी को लगा कि भारत माता को स्वतंत्र कराना ही

उनका प्रमुख धर्म है। भगतसिंह ने अपने मुकद्दमे के दौरान अपने बचाव में जो बयान दिया वह इतिहास की धरोहर है, जिसमें उन्होंने भारत और संसार के अनेक क्रांतिकारियों, जैसे – गुरु गोविंदसिंह, छत्रपति शिवाजी, कमाल पाशा, जॉर्ज वाशिंगटन, गैरी बाल्डी और लेनिन को अनुकरणीय माना है। अतः उन्होंने देश के युवकों में परिवर्तनकारी स्वभाव, क्रांतिकारी कार्यों की ललक और राष्ट्रीय दृष्टिकोण की भावना पैदा की।

❑ चटगांव आर्मरी रेड

1930 में पूर्वी बंगाल में चटगांव नामक स्थान पर भी उल्लेखनीय क्रांतिकारी घटनाएं हुईं। यहां के क्रांतिकारियों ने सूर्यसेन के नेतृत्व में चटगांव, मेमनसिंह और बारीसाल के शस्त्रागारों पर हमले की योजनाएं बनाईं। इस कार्य ने कॉलेजों और स्कूलों के छात्र-छात्राओं को प्रेरित किया। यहां के क्रांतिकारियों में अंबिका चक्रवर्ती, लोकनाथ बाल, अनंतसिंह और गणेश घोष प्रसिद्ध हैं। नवयुवतियों में कल्पना दत्त और प्रीतिलता वाडेयर उल्लेखनीय हैं। 18 अप्रैल, 1930 की रात्रि में भारतीय सेना की वर्दी पहनकर चटगांव के शस्त्रागार पर आक्रमण कर दिया गया। यह आक्रमण चटगांव आर्मरी रेड (Chittgaon Armoury Raid) के नाम से प्रसिद्ध है। एक दल ने अफसर को गोली मार कर हथियार कब्ज़े में कर लिए, दूसरे दल ने टेलीफोन एक्सचेंज व तारघर को नष्ट करके शहर का संपर्क बाहर से काट दिया। तीसरे दल ने पुलिस बैरक पर कब्ज़ा कर लिया और इस तरह वंदेमातरम् का उद्घोष करते हुए चटगांव की मुक्ति की घोषणा कर दी। कई दिन शहर क्रांतिकारियों के कब्ज़े में रहा। लेकिन जल्दी में वे कारतूस उठाना भूल गए और वहां के बंदरगाह पर भी कब्ज़ा नहीं किया। किसी तरह ज़िला कमिश्नर भागने में सफल हुआ, जिसने बंदरगाह पर जाकर कलकत्ता से सेना मंगाई। सूर्यसेन और अंबिका चक्रवर्ती को जलालाबाद की पहाड़ियों की ओर भागना पड़ा। क्रांतिकारियों के साथ संघर्ष में कुछ क्रांतिकारी और सैनिक मारे गए, सूर्यसेन को विश्वासघात करके पकड़ लिया गया और मौत की सज़ा हुई। अंबिका चक्रवर्ती, गणेश घोष, लोकनाथ बाल को काले पानी की सज़ा दी गई। प्रीतिलता वाडेयर ने एक यूरोपीय क्लब पर हमला किया। कैद से बचने के लिए उसने आत्महत्या कर ली। कल्पना दत्त को गिरफ्तार कर लिया गया। अतः चटगांव आर्मरी रेड ने पूर्वांचल क्षेत्र में देश के युवकों को सशस्त्र विद्रोह के लिए प्रेरित किया। युवा महिलाओं ने पहली बार क्रांतिकारी आंदोलनों में स्वयं भाग लिया।

1930 से 1932 तक भारत के पूर्वोत्तर सीमा प्रांत में यहां के नागरिकों ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष प्रारंभ कर दिया। विद्रोह मणिपुर के उत्तर-पश्चिम में कबुई और काधा नागाओं में भी फैला। नागाओं का नेतृत्व रानी गुइंदाल्यू और यदुनाग ने किया। इस नागा रानी को गिरफ्तार करने के लिए पुरस्कारों की घोषणा की गई। कर माफ़ करने के भी आश्वासन दिए गए।



रानी गुइंदाल्यू

सेना की मदद से 17अक्टूबर, 1932 को समोमा ग्राम में रानी को पकड़ लिया गया। उसे आजन्म कैद की सज़ा हुई। इसी भांति कलकत्ता, असम, बर्मा और पेशावर में भी क्रांतिकारी गतिविधियां निरंतर चलती रहीं।

उपरोक्त क्रांतिकारी गतिविधियों को देखते हुए यह स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है कि इस काल के क्रांतिकारी मुख्यतः राष्ट्रवादी थे। ये व्यक्तिगत हिंसा की अपेक्षा सरकारी धन अथवा शस्त्रागार को लूटने में ज़्यादा व्यस्त थे। ये ब्रिटिश शासन को उलटना चाहते थे। साथ ही देश में जागरण लाना चाहते थे। इनकी गांधीवादी तरीकों में आस्था न थी। पूर्ण स्वतंत्रता का उद्‌घोष सर्वप्रथम क्रांतिकारियों ने ही भारत को दिया।

अभ्यास प्रश्न

1. राजनीति में प्रवेश से पूर्व महात्मा गांधी के जीवन व गतिविधियों पर प्रकाश डालिए।
2. महात्मा गांधी के प्रमुख विचारों पर निबंध लिखिए।
3. भारत में महात्मा गांधी के सत्याग्रह के प्रारंभिक प्रयासों का वर्णन कीजिए। ये सत्याग्रह महात्मा गांधी को भारत की राजनीतिक दशा समझाने में कहां तक सहायक हुए?
4. रॉलट ऐक्ट क्या है ? अंग्रेज़ों ने भारत में रॉलट ऐक्ट के विरोध में हुए सत्याग्रह (1919) को दबाने के लिए क्या कदम उठाए ?
5. खिलाफ़त आंदोलन के शुरू होने के क्या कारण थे? भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन में उसका क्या योगदान था?
6. 1921-1922 के अहिंसात्मक असहयोग आंदोलन की शुरुआती सफलता और उसकी अंततः समाप्ति पर प्रकाश डालिए।
7. 1922-1932 तक भारत में विभिन्न भागों में हुई क्रांतिकारी गतिविधियां बताइए। इन क्रांतिकारी गतिविधियों ने राष्ट्रीय भावना को किस प्रकार प्रभावित किया?
8. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए –

   (क) चंपारण सत्याग्रह

   (ख) खेड़ा सत्याग्रह

   (ग) सत्य और अहिंसा पर गांधी जी के विचार

   (घ) सरदार भगतसिंह

   (ङ) बटुकेश्वर दत्त

   (च) जलियांवाला बाग कांड

परियोजना कार्य

- महात्मा गांधी की विभिन्न गतिविधियों (1914-1932) के बारे में विभिन्न स्रोतों से जानकारियां इकट्ठा कीजिए और कक्षा में उन पर चर्चा कीजिए।।

3
अध्याय

संवैधानिक गतिविधियां (1919 –1937) और सविनय अवज्ञा आंदोलन

1919 से 1937 का इतिहास भारत में संवैधानिक परिवर्तनों और राजनीतिक घटना चक्रों की दृष्टि से अत्यंत रोमांचकारी है। इस राष्ट्रीय संघर्ष में अनेक महापुरुषों और देश के प्रायः सभी समुदायों, वर्गों, संप्रदायों ने भाग लिया। इस स्वराज्य की लड़ाई में किसान, मज़दूर, दलित, जनजातियां, पुरुष, स्त्री और बच्चे कोई भी पीछे नहीं रहे। यहां कुछ चुनी हुई घटनाओं, प्रसंगों और आंदोलनों का वर्णन ही संभव है।

संवैधानिक परिवर्तन (1919 और 1935)

भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में संवैधानिक अधिनियमों का समय-समय पर बनना राष्ट्रीय संघर्ष के महत्त्वपूर्ण मोड़ माने जाते हैं। ये अधिनियम लंबे विचार-विनिमय, भारत और विदेश में महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से विशद चर्चा और ब्रिटिश पार्लियामेंट में गहरे वाद-विवाद के परिणाम रहे हैं। अतः इनके विस्तृत और गहन अध्ययन की आवश्यकता है। जो अधिनियम लिखित रूप से पास हुए, उनकी अंतर्लिखित भावनाओं और मूल उद्देश्यों को जानना भी आवश्यक है। जहां कंपनी के काल में सभी चार्टर नियमों में ब्रिटिश आर्थिक हितों की प्राप्ति प्रमुख उद्देश्य दिखाई देता है, वहीं सीधे शासन की स्थापना के बाद उनके उद्देश्य आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व व भारतीय समाज में सामाजिक और सांस्कृतिक विघटन करने या अलगाव बढ़ाने में परिवर्तित हो गए। महारानी विक्टोरिया की घोषणा 1858, 1861 और 1892 के अधिनियम तत्कालीन परिस्थिति में केवल लीपा-पोती के अलावा कुछ न थे। 20वीं शताब्दी में राजनीतिक जागृति के साथ बंग-भंग और 1909 के मार्ले-मिंटो अधिनियम के द्वारा सांप्रदायिक चुनाव की स्वीकृति अंग्रेज़ों की कूटनीति की महान सफलता थी। जाने-अनजाने में 1916 के लखनऊ समझौते ने उनकी इस योजना में सहायता की। इसी भांति 1919 के भारत सरकार के अधिनियम, तीन गोलमेज़ कांफ्रेंसों और 1935 के अधिनियम के द्वारा इस सामाजिक-सांस्कृतिक विघटन और अलगाव की प्रक्रिया को ब्रिटिश सरकार ने आगे बढ़ाया। अंग्रेज़ सरकार ने इस बारे में दोहरी नीति अपनाई। एक ओर हिंदू-मुसलमानों की एकता को देश की आज़ादी के लिए अनिवार्य बताया, वहीं दूसरी ओर हिंदू-मुसलमानों

में भेद बढ़ाकर मुस्लिम लीग को प्रोत्साहन दिया। साथ ही हिंदू समाज को परस्पर बांटने, उनमें अलगाव बढ़ाने का भी पूरा प्रयत्न किया।

1919–1937 के काल में दो महत्त्वपूर्ण अधिनियम, क्रमश: 1919 और 1935 में स्वीकृत किए गए। इससे पूर्व 1914–1919 के दौरान महायुद्ध की परिस्थितियों ने ब्रिटिश सरकार के भारत मंत्री को 20अगस्त, 1917 को घोषणा करने के लिए मजबूर कर दिया। युद्ध की बिगड़ती स्थिति, मेसोपोटामिया में भारी हार और भारत में होमरूल आंदोलन और लखनऊ समझौते ने सरकार को भारतीयों के पक्ष में कुछ करने को मजबूर कर दिया। अत: भारत मंत्री ने इस घोषणा में भारतीयों को शासन में ज़्यादा स्थान देने, स्वशासन संस्थाओं का विकास और ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत उत्तरदायी शासन का आश्वासन दिया, परंतु न तो इसमें समय की कोई निश्चित अवधि और न ही कोई निश्चित प्रक्रिया स्पष्ट थी। वस्तुत: यह भी एक कुटिल चाल मात्र थी। भारत मंत्री मांटेग्यू ने अपनी डायरी में स्वयं लिखा कि 'यह केवल तत्कालीन परिस्थितियों में भारतीयों को कुछ समय तक उलझाने का मार्ग था।'

इसी भांति महायुद्ध में भारतीयों द्वारा तन-मन-धन से सहयोग के उपरांत 1919 का अधिनियम पारित हुआ। इसे मांटेग्यू-चैम्सफोर्ड सुधार भी कहते हैं। इसमें कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। प्रथम, प्रांतों में द्वैध शासन प्रणाली की स्थापना हुई। प्रांतीय विषयों को दो भागों में बांट दिया गया—आरक्षित तथा हस्तांतरित विषय। दूसरे, केंद्रीय ढांचे में बिना कोई परिर्वतन किए, केंद्रीय व्यवस्थापिका का विस्तार किया गया और उसके कुछ अधिकार बढ़ा दिए गए। केंद्र में पहले की भांति अनुत्तरदायी सरकार ही रही। तीसरे, केंद्र में पहले के विपरीत दो सदन वाला भवन बनाया गया। चौथे, भारत सचिव का भारत सरकार के हस्तांतरित विषयों पर नियंत्रण कम कर दिया गया। पांचवें, भारत कौंसिल का पुनर्गठन किया गया। छठे, एक नए पदाधिकारी भारतीय उच्चायुक्त की नियुक्ति की गई। सातवें, सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व को और अधिक विस्तृत किया गया। अब मुसलमानों के साथ सिक्खों, आंग्ल-भारतीयों, यूरोपीयों, ईसाइयों को विशेष प्रतिनिधित्व दिया गया। आठवें, केंद्र और प्रांतों में शक्ति का विभाजन किया गया, परंतु महत्त्वपूर्ण विभाग केंद्र के अधीन रहे। नवें, प्रांतीय और केंद्रीय कार्यकारिणियों में अधिक भारतीयों की नियुक्ति की गई।

व्यावहारिक रूप से 1919 का अधिनियम भारतीयों की अपेक्षाओं के अनुरूप ज़रा भी नहीं था। प्रांतों में द्वैध शासन प्रणाली का प्रारंभ और सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व को अधिक विस्तृत करना, राष्ट्रीय आंदोलन के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा थी। केंद्र में गवर्नर जनरल और प्रांतों में गवर्नर प्राय: निरंकुश से थे। अत: प्रांतों में कोई भी कानून बनाना संभव न था। वित्त सहित सभी महत्त्वपूर्ण विभाग सरकार के पास होते थे, इसलिए मंत्रियों द्वारा बनाई गई सभी योजनाएं अधूरी रहती थीं। ऐसी ही मूलभूत संवैधानिक कमियों के कारण प्रांतों में द्वैध शासन आंशिक रूप से ही सफल रहा।

स्वराज्य दल

असहयोग आंदोलन के स्थापित हो जाने पर जहां देश में सांप्रदायिक तनाव बढ़ा, वहां देश के नेताओं में झुंझलाहट आई। कांग्रेस के नेता दो भागों में बंट गए। पहले भाग में वे लोग आते हैं, जो असहयोग आंदोलन में विश्वास नहीं रखते थे और कांग्रेस के कार्यक्रमों में परिवर्तन चाहते थे। इनमें प्रमुख रूप से देशबंधु चित्तरंजन दास और मोतीलाल नेहरू थे, जिन्हें परिवर्तनकारी कहा जाता था। दूसरे भाग में वे लोग आते थे, जो अब भी गांधी जी के नेतृत्व में पूर्ण विश्वास रखते थे और असहयोग के पक्षपाती थे। ये विधान मंडलों के बहिष्कार में आस्था रखते थे। इन्हें अपरिवर्तनकारी कहा जा सकता है। इनमें प्रमुख राजगोपालाचारी और डॉ. एम. ए. अंसारी थे।



पं. मोतीलाल नेहरू

दिसंबर 1922 में गया में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, जिसकी अध्यक्षता चित्तरंजन दास ने की। उन्होंने प्रयत्न किया कि कौंसिल में प्रवेश का प्रस्ताव पास हो, लेकिन राजगोपालाचारी, डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने इसका विरोध किया। प्रस्ताव पास न हुआ। अतः चित्तरंजन दास ने इस्तीफ़ा दे दिया। मार्च 1923 में चित्तरंजन दास और मोतीलाल ने मिलकर इलाहाबाद में एक सम्मेलन कर 'स्वराज्य दल' की स्थापना की। इस नए दल को कांग्रेस के अंदर ही समूह के रूप में काम करना था। इसने कांग्रेस के कार्यक्रम को ही स्वीकार किया, मगर एक बात को छोड़कर कि यह दल कौंसिल के चुनावों में भाग लेगा। इसने नवंबर 1923 में होने वाले चुनाव में लड़ने का विचार किया। बाद में स्वास्थ्य के आधार पर 1924 में गांधी जी को जेल से छोड़ दिया गया और स्वराज्यवादियों ने गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रमों अर्थात छुआछूत दूर करने, हिंदू-मुस्लिम एकता, चरखा और नशाबंदी को स्वीकार किया।

नवंबर 1923 में विधान मंडलों के चुनाव हुए। स्वराज्य दल को अच्छी सफलता मिली। केंद्रीय विधान मंडल और सेंट्रल प्रोविंसिस में उनके चुने हुए सदस्यों को स्पष्ट बहुमत मिला। बंगाल में बहुमत न मिलने पर भी वे एक मज़बूत दल के रूप में सामने आए। अन्य प्रांतों में भी कुछ सीटें मिलीं। केंद्रीय विधान मंडल में स्वराज्य दल के नेता मोतीलाल नेहरू थे, जबकि बंगाल में चित्तरंजन दास ने इसका नेतृत्व किया।

स्वराज्य दल ने विधान मंडलों में कई महत्त्वपूर्ण कार्य किए। 1919 के अधिनियम में परिवर्तन करके भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना की मांग की। भारत के प्रतिनिधियों का भी एक सम्मलेन बुलाने को कहा। दमनकारी कानूनों के विरुद्ध प्रस्ताव पास किए। अनेक मामलों में इसे हार का भी सामना करना पड़ा। भारत सरकार के गृह सदस्य एलेक्ज़ैंडर मुडीमेन के नेतृत्व में सुधारों के लिए एक समिति बनाई गई, जिसने अपनी रिपोर्ट में दोहरे शासन को उचित ठहराया। केंद्रीय विधान मंडल में इस रिपोर्ट के विरुद्ध प्रस्ताव पास हुए।

प्रांतीय विधान सभाओं में भी स्वराज्य दल ने कुछ कार्य किए। उन्होंने हस्तांतरित विभागों के मंत्री पदों को स्वीकार नहीं किया। अनेक आर्थिक भागों को भी अस्वीकृत किया।

जून 1925 में चित्तरंजन दास की मृत्यु से स्वराज्य दल कमज़ोर होता गया। स्वराज्य दल के कुछ सदस्यों ने भी सरकार के प्रति सहयोग और सम्मान, प्रतिष्ठा व पद प्राप्त करने की नीति अपनानी प्रारंभ कर दी। उदाहरणतः सेंट्रल प्रोविंसिस में स्वराज्य दल के नेता एस.वी. तांबे ने गवर्नर की कार्यकारिणी

परिषद् में मंत्री पद स्वीकार कर लिया। कुछ सदस्यों ने लिबरल सदस्यों से मिलकर 'नेशनल पार्टी' नामक एक नया दल बनाया। परिणामस्वरूप स्वराज्य दल की प्रतिष्ठा कम हुई और 1926 के चुनाव में मद्रास को छोड़कर प्रायः सभी स्थानों पर स्वराज्य दल की हार हुई।

स्वराज्य दल की विधान मंडलों में रहते हुए अड़ंगा डालने की नीति को कुछ नेताओं ने पसंद नहीं किया। विपिन चंद्र पाल ने इस नीति को निरर्थक माना। सुरेंद्रनाथ बैनर्जी ने इसे अहंकार बताया, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि निराशा के वातावरण में स्वराज्यवादियों ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई और जनता में पुनः उत्साह पैदा किया। उन्होंने 1919 के अधिनियम का विरोध कर पुनः सुधारों की मांग की और गोलमेज़ सम्मेलन का पहली बार प्रस्ताव रखा। इन्होंने विशेषकर पढ़े-लिखे वर्ग को आकर्षित किया। स्वराज्य दल की गतिविधियां एक विशेष वर्ग तक ही सीमित रहीं। कांग्रेस का बहुमत और जनमानस गांधी जी के नेतृत्व का समर्थन करता रहा। कुछ भारतीय नेताओं की सरकारी पदों के प्रति लोलुपता भी लोगों के सम्मुख आई, जिससे उनका सम्मान कम हुआ।

साइमन कमीशन

1919 के ऐक्ट में यह प्रावधान भी था कि दस वर्ष के बाद यह देखा जाएगा कि वर्तमान ऐक्ट कहां तक उपयोगी साबित हुआ। अतः यह जांच आयोग 1929 में बैठना था। इंग्लैंड की बदलती हुई परिस्थितियों के कारण वहां की अनुदार पार्टी ने यह कमीशन 1927 में अर्थात दो वर्ष पहले ही नियुक्त कर दिया। इसका मुख्य कारण यह था कि इंग्लैंड के आगामी चुनावों में अनुदार दल को जीतने की आशा न थी और वे भारत के भविष्य को स्वयं ही निर्धारित करना चाहते थे। इसके अध्यक्ष सर जॉन साइमन के कारण यह 'साइमन कमीशन' के नाम से जाना जाता है। इसमें सात सदस्य थे और कोई भी भारतीय न था। अतः इसे 'वाइट मैन कमीशन' भी कहते हैं।

कमीशन के भारत आगमन से पूर्व ही इसका विरोध प्रारंभ हो गया। कांग्रेस, हिंदू महासभा, मुस्लिम लीग सभी ने इसका विरोध करने का निर्णय लिया। जब यह कमीशन 3फ़रवरी, 1928 को बंबई पहुंचा, इसे ज़बरदस्त विरोध का सामना करना पड़ा। देश के सभी प्रमुख नगरों में नवयुवकों ने हड़ताल करके, काली झंडियां दिखाकर और 'साइमन कमीशन वापस जाओ' के नारों से इसका स्वागत किया। केंद्रीय विधान सभा ने भी साइमन का स्वागत करने से मना कर दिया। लखनऊ में पं. जवाहरलाल नेहरू व गोविंद बल्लभ पंत के नेतृत्व में प्रदर्शन हुआ। लाहौर में वहां के विद्यार्थियों ने लाला लाजपतराय के नेतृत्व में एक विशाल जुलूस निकाला। पुलिस अधिकारी सांडर्स ने लाजपतराय पर लाठी से प्रहार किया। उनको सख्त चोटें आईं और एक महीने के बाद उनका देहांत हो गया। मृत्यु से पूर्व उन्होंने भाषण देते हुए कहा, 'मेरे शरीर पर लगी एक-एक चोट ब्रिटिश राज्य के कफ़न की कील सिद्ध होगी।' लाजपतराय की मृत्यु से युवा क्रांतिकारी क्रोधित हो गए और सांडर्स की हत्या कर दी। कमीशन का विरोध प्रायः सभी दलों व वर्गों ने किया। केवल मुस्लिम लीग के कुछ सदस्यों, ज़मींदारों और देशी रियासतों ने कमीशन का साथ दिया।

साइमन कमीशन की रिपोर्ट मई 1930 में प्रकाशित हुई। इसमें यह माना गया कि प्रांतों में प्रचलित दोहरे शासन का प्रयोग सफल नहीं रहा और इसे समाप्त कर स्वायत्तता की स्थापना की जाए। अल्पसंख्यकों के लिए गवर्नर जनरल और गवर्नरों को विशेष अधिकार देने की बात कही गई। शक्तिशाली केंद्र, सांप्रदायिकता के आधार पर मताधिकार बढ़ाने, सेना का भारतीयकरण, विधान मंडल का पुनर्गठन, गृह सरकार की शक्ति में कमी और देशी रियासतों के प्रतिनिधित्व की बात भी कही गई। इसके साथ ही बर्मा को भारत से एवं सिंध को बंबई प्रांत से अलग करने को कहा गया। उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत को भी पूरी तरह प्रांत का स्तर देने से मना कर दिया गया और संविधान को लचीला बनाने की भी बात कही गई।

भारतीयों ने इस रिपोर्ट को अस्वीकार कर दिया क्योंकि इसमें आकांक्षाओं के अनुरूप कहीं भी औपनिवेशिक स्वराज्य स्थापना की बात नहीं कही गई थी। साइमन कमीशन का आगमन और बहिष्कार संपूर्ण देश में बिखरी हुई राजनीतिक भावना को जोड़ने में सहायक हुआ। लाजपतराय की मृत्यु ने देश के नवयुवकों को उत्साहित किया। इस कमीशन की रिपोर्ट 1935 के ऐक्ट का आधार बनी और ब्रिटिश सरकार के लिए एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ साबित हुई।

नेहरू रिपोर्ट

इसी बीच भारतीय सचिव लॉर्ड बर्कनहेड ने ब्रिटिश पार्लियामेंट में भारतीयों को एक ऐसे संविधान निर्माण की चुनौती दी, जो सभी को मान्य हो। कांग्रेस ने इस चुनौती को स्वीकार किया। 28फ़रवरी, 1928 को एक सर्वदलीय सम्मेलन बुलाया गया, जिसमें 29 संस्थाओं ने भाग लिया। कुछ मौलिक बातों के बाद 10मई, 1928 को बंबई में दूसरी बैठक हुई, जिसमें आठ व्यक्तियों की एक समिति को भावी संविधान की रूपरेखा तैयार करने को कहा गया। इसके अध्यक्ष मोतीलाल नेहरू और सदस्य सुभाष चंद्र बोस, सर इमाम अली, सर तेजबहादुर सप्रू, जी.आर. प्रधान, एस. एस. अणे, शोएब कुरैशी व सरदार मंगल सिंह थे। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट जुलाई 1928 में प्रकाशित की जो 'नेहरू रिपोर्ट' के नाम से प्रचलित हुई। 10अगस्त, 1928 को यह रिपोर्ट कांग्रेस के अधिवेशन में रखी गई, जिसे सभी ने स्वीकार किया। इसमें प्रादेशिक स्वायत्तता (Dominion status) को ही तत्कालीन लक्ष्य माना गया। केंद्र में पूर्ण उत्तरदायी शासन, प्रांतों में स्वायत्तता, केंद्र और प्रांतों में शक्ति का बंटवारा और केंद्रीय विधान सभा में दो भवनों की मांग की गई। सांप्रदायिक चुनाव पद्धति समाप्त करने के साथ ही अल्पसंख्यकों की रक्षा की बात कही गई। सिंध व उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत को पूर्ण प्रांत बनाने को कहा गया। इसके अलावा मौलिक अधिकार, उच्चतम न्यायालय और प्रतिरक्षा समिति के गठन की बात भी कही गई।

सर्वदलीय सम्मेलन और नेहरू रिपोर्ट भारतीय राजनीतिक दलों द्वारा ब्रिटिश सरकार की चुनौती का एक महत्त्वपूर्ण उत्तर था। सुभाष चंद्र बोस ने इसके बारे में कहा था, 'नेहरू समिति की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि संविधान के विधान मंडलों के अंदर हिंदू, मुसलमान व सिक्खों के प्रतिनिधित्व के प्रश्नों का समाधान था।'

लेकिन पारस्परिक मतभेदों के कारण इसमें कमियां निकाली जाने लगीं। मुस्लिम लीग के प्रधान मुहम्मद अली ने इसे अप्रजातांत्रिक व प्रतिक्रियावादी, अल्पसंख्यकों विशेषकर मुस्लिम हितों के विपरीत बतलाया। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, डॉ. अंसारी और हकीम अजमल खां ने इसका समर्थन किया। सेंट्रल सिक्ख लीग के अध्यक्ष सरदार खड़कसिंह ने इसको अस्वीकृत करते हुए इसे रद्दी की टोकरी में फेंकने को कहा। जिन्ना ने मुसलमानों का एक अखिल भारतीय सम्मेलन बुलाकर अपनी 14 सूत्री योजना रखी। कांग्रेस में भी इसके बारे में काफ़ी मतभेद था। नेहरू और सुभाष डोमिनियन स्टेटस से संतुष्ट न थे। ब्रिटिश सरकार को यह चेतावनी दी गई कि 31दिसंबर, 1929 तक रिपोर्ट स्वीकार नहीं की गई, तो कांग्रेस एक अहिंसात्मक आंदोलन करेगी।

नेहरू रिपोर्ट को लाजपतराय ने भारतीय लोक जीवन की सर्वोत्तम परंपराओं का एक महत्त्वपूर्ण कार्य बताया था। इसी भांति मालवीय ने इसे स्वराज्य पक्ष को आलोकित करने वाली रोशनी बतलाया। भारतीय इतिहास में भारतीयों द्वारा यह पहला प्रयास था। इसका नकारात्मक प्रभाव भी हुआ। भारतीय नेताओं की कमज़ोरी और आपस की फूट सामने आई। अलगाव की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला। सरकार ने देश के नवयुवकों में बढ़ती हुई चेतना को दमनकारी तरीकों से दबाने की कोशिश की। श्रमिकों की हड़तालों व क्रांतिकारियों की गतिविधियों को देख सरकार ने दमनकारी सुरक्षा कानून पास किए।

सविनय अवज्ञा आंदोलन (1930-1934)

उपरोक्त बेचैनी के वातावरण में दिसंबर 1929 में कांग्रेस का लाहौर अधिवेशन हुआ। अधिवेशन स्थल का नाम लाजपतराय नगर रखा गया। 31दिसंबर, 1929 की मध्य रात्रि को रावी के तट पर पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास हुआ।

1930 के वर्ष का प्रारंभ राजनीतिक असंतोष और विपदाओं में हुआ। जहां आर्थिक मंदी ने कृषकों और मज़दूरों की अवस्था खराब कर दी, वहीं इससे दो वर्ष पूर्व सूरत ज़िले के बारदौली नामक स्थान पर सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में हुए सफल आंदोलन ने कृषकों में जागृति ला दी। विभिन्न मिलों में हुई हड़तालों से भी मज़दूरों में चेतना आई। ब्रिटिश सरकार की उपेक्षापूर्ण नीति और कांग्रेस की स्वाधीनता की घोषणा ने एक-दूसरे को संघर्ष की राह पर खड़ा कर दिया। मेरठ षड्यंत्र केस में अनेक व्यक्तियों को राजद्रोह के अपराध में जो सज़ाएं दी गईं, इससे भी युवकों में जागृति आई। 26 जनवरी को सारे देश में स्वाधीनता दिवस मनाया गया। फ़रवरी 1930 में साबरमती में हुई एक बैठक में गांधी जी को आंदोलन चलाने और उसका नेतृत्व करने के अधिकार दे दिए गए। गांधी जी ने 2 मार्च, 1930 को वायसराय को एक पत्र लिखकर समझौते का यत्न किया, जो संतोषजनक न था। गांधी जी ने नमक कानून तोड़कर इस आंदोलन को शुरू करने का विचार किया।

गांधी जी 78 चुने हुए सहयोगियों के साथ 200 मील की पदयात्रा कर 5 अप्रैल को दांडी पहुंचे और 6 अप्रैल को समुद्र के किनारे उन्होंने नमक कानून तोड़कर देशव्यापी आंदोलन कर दिया।

गांधी जी ने 9 अप्रैल को आंदोलन का कार्यक्रम प्रस्तुत किया, जिसमें गांव-गांव में गैर-कानूनी नमक बनाने, महिलाओं द्वारा शराब की दुकानों, अफ़ीम के ठेकों और विदेशी कपड़ों की दुकानों पर धरना देने, विदेशी वस्त्रों को जलाने, तकली व चरखा कातने, छुआछूत से दूर रहने, विद्यार्थियों द्वारा स्कूलों और कॉलेजों का बहिष्कार करने और सरकारी कर्मचारियों को नौकरियों से त्यागपत्र देने का आह्वान किया गया। साथ ही सरकार को टैक्स न देने की बात भी की गई।

शीघ्र ही यह आंदोलन तेज़ी से फैला। छात्रों, मजदूरों, किसानों और महिलाओं ने इसमें बढ़-चढ़कर भाग लिया। महिलाओं ने परंपरागत पर्दे को छोड़कर शराब की दुकानों पर धरने दिए। किसानों ने लगान बंद कर दिया। विद्यार्थियों ने स्कूल और कॉलेज छोड़े। विदेशी कपड़ों के बहिष्कार से कई अंग्रेज़ी मिलें बंद हो गईं।

इस आंदोलन से अधिकतर मुसलमान अलग रहे, परंतु उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत में खान अब्दुल गफ़्फ़ार खां के नेतृत्व में 'खुदाई खिदमतगार' नामक एक संगठन बना, जिसे 'लाल कुर्ता' आंदोलन भी कहा जाता था। इन्होंने गांधी जी का नेतृत्व स्वीकार किया। सरकार ने पठानों पर अनेक अत्याचार किए। पेशावर में स्थानीय नेताओं की गिरफ्तारी पर इतना रोष हुआ कि सरकार ने 18वीं रायल गढ़वाल राइफ़ल्स की कुछ टुकड़ियां इसे दबाने के लिए भेजीं। परंतु गढ़वाली सैनिकों ने निहत्थी मुस्लिम जनता पर गोली चलाने से मना कर दिया। बाद में ब्रिटिश सरकार ने हवाई टुकड़ियों की मदद से पेशावर पर हमला किया। अब्दुल गफ़्फ़ार खां शीघ्र ही 'फ्रंटियर गांधी' के नाम से विख्यात हो गए। दमन चक्र बढ़ा, गांधी व नेहरू गिरफ्तार किए गए। थोड़े ही समय में लगभग 60,000 लोग जेल में डाले गए।

गांधी जी की गिरफ्तारी से देशव्यापी प्रतिक्रिया हुई। बंबई में 50,000 मिल मज़दूर अपना काम छोड़कर प्रदर्शनकारियों से जा मिले। इसी तरह शोलापुर में एक भीड़ ने 6 थाने जला दिए। जुलाई तक यह आंदोलन पूर्णतः देशव्यापी हो गया। स्थान-स्थान पर मार्शल लॉ लागू किया गया। कांग्रेस संगठन को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया।

गोलमेज़ कांफ्रेंस

सरकार ने गोलमेज़ सम्मेलन बुलाकर विभिन्न दलों के साथ बातचीत करने का तरीका अपनाया। अतः प्रथम सम्मेलन 12 नवंबर, 1930 को लंदन में बुलाया गया, परंतु कांग्रेस के भाग न लेने पर और सांप्रदायिक प्रश्नों का हल न निकलने पर यह अधूरा रहा।

स्वस्थ वातावरण बनाने की दृष्टि से सरकार ने 26 जनवरी, 1931 को कांग्रेस पार्टी से प्रतिबंध हटा लिए। उसके नेता छोड़े गए। 8 मार्च, 1931 को 'गांधी-इरविन पैक्ट' हुआ। गांधी जी आंदोलन स्थगित करने को तैयार हो गए और उन्होंने दूसरे गोलमेज़ सम्मेलन में जाना स्वीकार किया। देश के अधिकतर नेताओं ने इस पैक्ट को पसंद नहीं किया। 7 सितंबर, 1931 को दूसरा गोलमेज़ सम्मेलन लंदन में हुआ। गांधी जी 12 सितंबर को पहुंचे, लेकिन पूर्ण स्वतंत्रता की मांग और सांप्रदायिकता के प्रश्न पर कोई समझौता नहीं हुआ। गांधी जी निराश वापस लौटे।

3 जनवरी, 1932 को पुनः सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ कर दिया गया। गांधी जी और सरदार पटेल गिरफ्तार कर लिए गए। कांग्रेस को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। आंदोलन के दौरान गांधी जी ने हरिजन समस्या की ओर ध्यान दिया।

सांप्रदायिक पंचाट और पूना समझौता

इस संदर्भ में डॉ. भीमराव अंबेडकर की भूमिका भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही। इनका जन्म 14 अप्रैल, 1891 को महू में एक महार कुल में हुआ था। इन्होंने बंबई के एलीफ़िंस्टन कॉलेज से बी. ए. किया। फिर एम. ए. और पी-एच.डी. की उपाधियां कोलंबिया विश्वविद्यालय से प्राप्त कीं। 1923 में वे बैरिस्टर बन गए।

जुलाई 1924 में उन्होंने बंबई में एक 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' बनाई, जिसका उद्देश्य अस्पृश्यों का नैतिक और आर्थिक उत्थान करना था। उन्होंने अछूतों के लिए मंदिरों में प्रवेश और कुंओं से पानी भरने की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया और दलितों में जागरण लाए।



डॉ. बी.आर. अंबेडकर

1930 तक डॉ. अंबेडकर की प्रसिद्धि राष्ट्रीय स्तर तक फैल गई और वह अछूतों, कमजोर और दलितों के नेता बन गए। उन्होंने प्रथम गोलमेज़ कांफ्रेंस में दलितों की दशा का सही चित्रण किया। उन्होंने उनके अलग मताधिकार की मांग भी की।

1932 में ब्रिटिश सरकार ने सविनय अवज्ञा आंदोलन को दबाने के लिए कठोर दमनकारी नीति अपनाई। कांग्रेस को अवैध घोषित कर दिया गया और अनेक नेताओं को बंदी बना लिया गया। इसी बीच ब्रिटेन के प्रधानमंत्री मेकडॉनल्ड ने 16 अगस्त, 1932 को एक घोषणा की, जिसे मेकडॉनल्ड निर्णय या सांप्रदायिक पंचाट (Communal Award) भी कहते हैं। इसके अनुसार दलितों को हिंदुओं से अलग मानकर उन्हें अलग प्रतिनिधित्व देने को कहा गया

और दलित वर्गों के लिए अलग निर्वाचन मंडल का प्रावधान किया गया।

गांधी जी ने इसका विरोध किया और जेल में ही 20 सितंबर, 1932 को आमरण अनशन कर दिया। उन्हें यह दलितों को हिंदुओं से अलग करने का सरकार का षड्यंत्र लगा।

गांधी जी के मरणासन्न होने पर देश के कई प्रमुख नेता जैसे डा. राजेंद्र प्रसाद, पं. मदन मोहन मालवीय, घनश्यामदास बिड़ला, राजगोपालाचारी के साथ डॉ. अंबेडकर भी पूना में इकट्ठे हुए। उन्होंने विचार-विनिमय कर गांधी जी और डॉ. अंबेडकर की स्वीकृति से एक समझौता किया, जो पूना समझौता कहलाता है। ब्रिटिश सरकार ने भी इसे मान लिया। इसके द्वारा सांप्रदायिक पंचाट में दलितों के लिए प्रांतीय व्यवस्थापिका सभाओं में प्रारंभ में राज्यों में 71 स्थान सुरक्षित किए गए थे, जो अब बढ़ाकर 148 कर दिए गए। दलितों के लिए अलग चुनाव क्षेत्र न होकर उनका चुनाव सभी हिंदुओं के साथ होना था। दलितों के प्रतिनिधित्व की उचित व्यवस्था स्थानीय संस्थाओं और सार्वजनिक सेवाओं में भी होनी थी। उनकी शिक्षा के लिए आर्थिक सहायता की सिफारिश की गई और यह योजना आरंभ में 10 वर्षों के लिए रहनी थी। अंत में गांधी जी ने 26 दिसंबर, 1932 को अपना अनशन तोड़ दिया।

तीसरा गोलमेज सम्मेलन 17 नवंबर से 24 दिसंबर 1932 तक चला। इसमें भी कांग्रेस ने भाग नहीं लिया। मार्च 1933 में ब्रिटिश सरकार ने एक श्वेतपत्र तैयार किया, जो 1935 के ऐक्ट का आधार बना।

जुलाई 1933 के कांग्रेस ने सामूहिक अवज्ञा आंदोलन के स्थान पर व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आंदोलन चलाने का निर्णय किया। गांधी को पुनः गिरफ्तार किया गया।

गांधी जी के नेतृत्व में यह दूसरा बड़ा महत्त्वपूर्ण आंदोलन था। इसका स्वरूप पहले की तुलना में अधिक व्यापक था। इसमें पहली बार किसानों ने भारी संख्या में भाग लिया। इस आंदोलन में कुछ संख्या में मज़दूरों ने भी भाग लिया। सामाजिक बंधनों को तोड़कर महिलाएं पहली बार पर्याप्त मात्रा में आगे आईं। विद्यार्थियों ने सक्रिय रूप से भाग लिया। कठोर दमन नीति के बाद भी आंदोलन ने देश के नवयुवकों में आत्मविश्वास, आत्मगौरव और दृढ़ता की भावना पैदा की।

कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष भी निकाला कि इस आंदोलन ने जनमानस में उमड़ते हुए असंतोष का पूरी तरह उपयोग नहीं किया। बीच-बीच में आंदोलन को स्थगित करने से बड़ी हानि हुई। कांग्रेस ने कोई सामाजिक और आर्थिक प्रोग्राम नहीं दिया। फलस्वरूप शीघ्र ही 'कांग्रेस समाजवादी पार्टी' की स्थापना हुई। आंदोलन से किसानों को कोई भी राहत न मिली। कुछ का यह भी कहना है कि आंदोलन का नेतृत्व पूंजीपतियों के हाथ में था और इसके उद्देश्य सीमित थे। कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं कि इस आंदोलन ने 1930-34 तक संघर्ष की ज्योति को प्रज्ज्वलित किए रखा और देश की युवाशक्ति को आगे आने के लिए प्रोत्साहित किया।

1935 का भारत सरकार का अधिनियम

1919 के अधिनियम में अगले दस वर्षों में इसके कार्यान्वित स्वरूप के बारे में विचार करना तय हुआ था। अनेक विचार-विनिमय और गोष्ठियों के बाद 1935 में दूसरा महत्त्वपूर्ण अधिनियम पारित किया गया। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। अब यह अधिनियम बहुत विस्तृत था, पूरे अधिनियम में 14 खंड और 10 अनूसूचियां थीं। कुल मिलाकर 451 धाराएं थीं। इस अधिनियम में केंद्र में एक अखिल भारतीय संघ (Federation) की स्थापना करने को कहा गया, जो ब्रिटिश भारत के प्रांतों और देशी रियासतों को मिलाकर बनना था। इसके दो भवन होने थे, जिनके नाम राज्य परिषद् (Council of States)

और संघीय सभा (Federal Assembly) होने थे। दूसरे, भारत कौंसिल को समाप्त कर दिया गया। तीसरे, गवर्नर-जनरल और गवर्नरों की नियुक्ति ब्रिटिश सरकार करती थी तथा वे उसी के प्रति उत्तरदायी थे। अब द्वैध शासन प्रणाली को समाप्त करके, पूर्ण स्वायत्तता की स्थापना की गई। चौथे, इस संविधान को कठोर बनाया गया, परंतु ब्रिटिश संसद को इसमें संशोधन का अधिकार दिया गया। पांचवें, प्रांतों में प्रांतीय स्वायत्तता की स्थापना की गई। छठे, केंद्र और प्रांतों के बीच विषयों का बंटवारा किया गया। सातवें, संविधान में एक संघात्मक न्यायालय की स्थापना की गई। आठवें, इस संविधान में केंद्र और प्रांतों में संरक्षण और आरक्षण का प्रावधान रखा गया। इन संरक्षण अधिकारों से गवर्नर जनरल निरंकुश बन सकते थे। नवें, सांप्रदायिक चुनाव पद्धति में कोई परिवर्तन न किया गया। अपितु इसका विस्तार किया। मज़दूरों एवं महिलाओं को प्रतिनिधित्व के लिए अलग अधिकार दिए गए और दसवें, बर्मा को भारत से अलग कर दिया गया। दो नए प्रांत उड़ीसा व सिंध बनाए गए।

1935 के अधिनियम के अंतर्गत प्रस्तावित संघ

1935 के अधिनियम द्वारा यह निर्णय किया गया कि केंद्र के ब्रिटिश प्रांतों और भारतीय रियासतों को मिलाकर एक संघ (Federation) स्थापित किया जाएगा। यह नियम ब्रिटिश प्रांतों के लिए अनिवार्य था, जबकि रियासतों के लिए ऐच्छिक था। इस संघ में सभी इकाइयों को अपने आंतरिक मामलों में पूरी स्वायत्तता थी। इसकी पूर्ति के लिए केंद्र में एक संघीय कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका सभा की स्थापना की भी योजना रखी गई। संघ और इसकी इकाइयों के परस्पर विवादों को हल करने के लिए एक संघीय न्यायालय की भी स्थापना की गई, परंतु यह प्रस्तावित संघ योजना लागू न हो सकी, क्योंकि रियासतें संघ में शामिल न हुईं।

इस प्रस्तावित संघ का न तो ब्रिटिश प्रांतों ने स्वागत किया और न ही भारतीय रियासतों ने। यह भारतीय रियासतों की इच्छा पर था कि वे इस संघ में शामिल हों अथवा नहीं। केंद्र, प्रांतीय सरकार की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली था। कानून में अविशिष्ट शक्तियों को भी गवर्नर जनरल के अधीन रखा गया। भारतीय रियासतों में निरंकुशता का साम्राज्य था। संघ में रियासतों को अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया, न कि वहां की जनता को। प्रसिद्ध विचारक सी. वाई. चिंतामणि ने इसे 'लंगड़ा संघ' कहा है। सभी भारतीयों ने इसे अस्वीकृत कर दिया। पं. जवाहरलाल नेहरू ने लिखा कि यह इतना अधिक प्रतिक्रियावादी था कि इसमें स्वविकास का बीज तक नहीं था। अत: 11सितंबर, 1939 को गवर्नर जनरल ने एक घोषणा द्वारा 1935 के अधिनियम के संघीय भाग को स्थगित कर दिया।

प्रांतीय स्वायत्तता (Provincial Autonomy)

इस अधिनियम में प्रांतों को स्वायत्तता दे दी गई। इसके द्वारा 1919 के कानून के अंतर्गत द्वैध शासन प्रणाली को समाप्त कर दिया गया। आरक्षित और हस्तांतरित विषयों के विभाजन को समाप्त कर दिया गया। प्रांतीय कार्यपालिका का प्रमुख गवर्नर होता था, परंतु उसे मंत्रियों की सलाह से शासन चलाने की बात कही गई। मंत्रियों के सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धांत को माना गया।

व्यावहारिक दृष्टि से यह योजना सार्थक न रही। गवर्नर जनरल और गवर्नर को ऐसे विशेषाधिकार दिए गए, जिनके द्वारा वे प्रांतीय कार्यों में रुकावट डाल सकते थे। गवर्नर, मंत्रियों की सलाह मानने को बाध्य नहीं थे। प्रांतीय शासन में असली शक्ति गवर्नर के पास थी। प्रांतीय स्वायत्तता के स्वरूप में अनेक दोषों के होते हुए भी कांग्रेस ने इस योजना के अंतर्गत आगामी चुनाव में भाग लेने का निश्चय

किया। वस्तुतः यह योजना पूर्व की व्यवस्थाओं से बेहतर थी।

उपरोक्त संविधान की कटु आलोचना की गई है। मोहम्मद अली जिन्ना ने कहा कि, '1935 की योजना पूर्णरूप से सड़ी हुई, मौलिक रूप से टकराव और पूर्णरूप से अस्वीकृति के योग्य थी।' पंडित नेहरू ने इसे दासता का 'घोषणा पत्र' बतलाते हुए इसे भारतीय राजा-महाराजाओं, ज़मींदारों और प्रतिक्रियावादी तत्त्वों को खुश करने वाला बताया। वास्तव में इस अधिनियम ने भी सांप्रदायिकता और पृथकतावादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया। संविधान में अखिल भारतीय संघ की योजना, आरक्षण और संरक्षण की व्यवस्था, सांप्रदायिक चुनाव प्रणाली और प्रांतीय स्वायत्तता के दिखावे में से कोई भी बात भारत की राष्ट्रीय भावनाओं और आकांक्षाओं को प्रतिबिंबित नहीं करती थी। इससे किसी प्रकार की संतुष्टि का तो प्रश्न ही नहीं था। कुल मिलाकर यदि 1909-1946 तक के विभिन्न चुनावों और अधिनियमों का अवलोकन करें तो पता चलता है कि 1909 के मार्ले-मिंटो सुधार में भारतीय जनसंख्या के केवल एक प्रतिशत, 1919 के मांटेग्यू-चैम्सफोर्ड सुधार में कुल ढाई प्रतिशत और 1935 के अधिनियम में 13 प्रतिशत से भी कम वोटर थे। बाद में 1946 के चुनाव भी इसी आधार पर हुए थे, जिसके अंतर्गत भारत में अंतरिम सरकार और संविधान सभा का निर्माण हुआ था।

कांग्रेस मंत्रिमंडलों का निर्माण

1935 के अधिनियम के अनुसार फ़रवरी 1937 में चुनाव हुए। कांग्रेस 1935 के अधिनियम के विरुद्ध थी, तो भी उसने चुनाव लड़ने का निश्चय किया। चुनाव में उसे शानदार सफलता मिली। मुस्लिम लीग की बुरी तरह पराजय हुई। 482 मुस्लिम सीटों में से वह केवल 81 स्थान जीत पाई। वायसराय लॉर्ड लिनलिथगो के परस्पर सहयोग देने के आश्वासन के बाद कांग्रेस ने 7 जुलाई, 1937 को 7 प्रांतों में मंत्रिमंडल में पद-ग्रहण की स्वीकृति दी।

अभ्यास प्रश्न

1. भारत सरकार अधिनियम 1919 के मुख्य लक्षणों का वर्णन कीजिए। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात यह भारतीय अपेक्षाओं को संतुष्ट करने में किस सीमा तक सफल हुआ?
2. स्वराज्यवादी कौन थे? राष्ट्रीय आंदोलन में स्वराज्य दल की भूमिका की विवेचना कीजिए।
3. साइमन कमीशन की नियुक्ति किन परिस्थितियों में की गई? इसकी मुख्य सिफारिशें क्या थीं और यह क्यों विफल रहा?
4. सविनय अवज्ञा आंदोलन के स्वरूप पर विचार कीजिए। इसकी प्रगति का वर्णन करते हुए इसकी विफलताओं के कारण बताइए।
5. भारत सरकार अधिनियम 1935 के मुख्य लक्षणों की विवेचना कीजिए। यह प्रांतीय स्वायत्तता कायम करने में किस हद तक सहायक सिद्ध हुआ?
6. पूना समझौते की भूमिका की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। इस समझौते से किस उद्देश्य की पूर्ति हुई?

7. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए –

   (क) स्वराज्य दल

   (ख) नेहरू रिपोर्ट

   (ग) गोलमेज अधिवेशन

   (घ) 1929 का लाहौर कांग्रेस सत्र

परियोजना कार्य

- महात्मा गांधी एवं बी.आर. अंबेडकर के महत्त्वपूर्ण कार्यों की सूची तैयार कीजिए। तत्कालीन भारतीय समाज की स्थिति पर उनके विचारों की तुलना कीजिए।

14

अध्याय

द्वितीय महायुद्ध और भारत का राष्ट्रीय आंदोलन

द्वितीय महायुद्ध की घोषणा और कांग्रेस का मंत्रिमंडल से त्यागपत्र

1935 के अधिनियम के अनुसार 1937 के चुनाव में सात प्रांतों में कांग्रेस मंत्रिमंडल का निर्माण हुआ। ये सात प्रांत उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत, सेंट्रल प्रोविंसिस, बंबई, बिहार, उड़ीसा, यूनाइटेड प्रोविंसिस और मद्रास थे। दो प्रांतों सिंध और असम में कांग्रेस के सहयोग से मंत्रिमंडल बने। पंजाब और बंगाल में गैर-कांग्रेसी मंत्रिमंडल बने।

इस काल में उन्होंने कुछ सुधार भी किए, जैसे— राजनीतिक कैदियों की रिहाई, प्रेस पर लगा प्रतिबंध हटाना, किसानों का ऋण माफ करना, शिक्षा प्रणाली में सुधार और मजदूरों के स्वास्थ्य के लिए कुछ कानून बनाना।

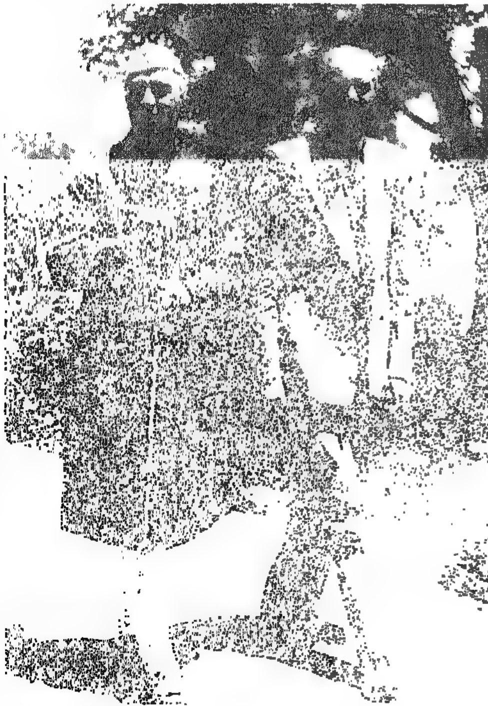
परंतु 1सितंबर, 1939 को दूसरे महायुद्ध की घोषणा हो गई। ब्रिटिश सरकार ने बिना भारतीयों से पूछे भारत को भी युद्ध में झोंक दिया। इस पर कांग्रेस ने कटु विरोध किया। कांग्रेस ने नारा दिया, 'न कोई भाई, न कोई पाई' और इतना ही नहीं कांग्रेस ने अपने द्वारा शासित प्रांतों के सभी मंत्रिमंडलों से भी त्यागपत्र दे दिया।

मुस्लिम लीग का 'मुक्ति दिवस' और पाकिस्तान प्रस्ताव

1937 के चुनावों में मुस्लिम लीग ने भी भाग लिया था। चुनावों में जैसा कि पहले बताया गया है, कांग्रेस को भारी सफलता मिली। जिन्ना ने यूनाइटेड प्रोविंसिस में मिलकर संयुक्त मंत्रिमंडल बनाने और कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम में सहयोग देने को कहा, लेकिन कांग्रेस ने इसे स्वीकार नहीं किया। मुस्लिम लीग इससे निराश ही नहीं हुई, बल्कि असंतुष्ट हुई और उसने विरोधी अभियान शुरू कर दिया। उसने कांग्रेस पर आरोप लगाया कि वह अल्पसंख्यकों के हितों को समाप्त करना चाहती है। नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस ने भी जन-संपर्क अभियान शुरू किया। लीग ने 'इस्लाम खतरे में है' का नारा लगाया। जिन्ना ने द्विराष्ट्रवाद का नारा भी दिया और कहा कि मुस्लिम लीग ही मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था है। जिन्ना ने 1937 के लीग के लखनऊ अधिवेशन में सांप्रदायिकता को

बढ़ाते हुए कहा, 'अब हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा होगी और वंदेमातरम् राष्ट्रगीत होगा। कांग्रेस के झंडे को प्रत्येक व्यक्ति को स्वीकार करना पड़ेगा और उसका आदर करना पड़ेगा। जो थोड़ी-सी शक्ति और ज़िम्मेवारी उनके हाथ में आई है, उसके प्रारंभ में ही इन बहुमत वालों ने अपनी करामात दिखा दी है और हिंदुस्तान हिंदुओं के लिए ही है।'

इसके साथ ही 1938 में पीरपुर रिपोर्ट और शरीफ रिपोर्ट में सांप्रदायिक भावना को बढ़ावा दिया गया। वस्तुत: ये सभी आरोप और रिपोर्ट सत्य पर आधारित नहीं थे। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने इनका डटकर विरोध किया और इन्हें सर्वथा झूठ बताया। लेकिन इन घटनाओं से मुस्लिम लीग और जिन्ना की लोकप्रियता बढ़ी।



पं. जवाहरलाल नेहरू और मोहम्मद अली जिन्ना

1939 में कांग्रेस मंत्रिमंडलों के त्यागपत्र पर मुस्लिम लीग ने 22 दिसंबर, 1939 को 'मुक्ति दिवस' के रूप में मनाया। लेकिन इस सांप्रदायिकता का विस्फोट 1940 में हुआ, जब मुस्लिम लीग ने लाहौर अधिवेशन में द्विराष्ट्र के सिद्धांत को पूर्णत: मानते हुए पाकिस्तान की मांग की और इसकी प्राप्ति को अपना लक्ष्य बताया। मोहम्मद अली जिन्ना ने मार्च 1940 में लाहौर में कहा, 'ये हिंदू और मुसलमान शब्द के नियमनिष्ठ अर्थ में धर्म नहीं है, अपितु वास्तव में भिन्न और स्पष्ट सामाजिक व्यवस्था है और यह एक स्वप्न है कि कभी भी हिंदू और मुसलमान मिलकर एक राष्ट्र बना सकते हैं... इन दोनों के धार्मिक दर्शन, सामाजिक रीति-रिवाज और साहित्य भिन्न हैं... ऐसी दोनों जातियों को एक राज्य में इकट्ठा बांधने से, जिसमें एक अल्पसंख्यक हो और दूसरा बहुसंख्यक... असंतोष बढ़ेगा और राष्ट्र ही नष्ट हो जाएगा।' उन्होंने पाकिस्तान की मांग की।

1941 में लीग के मद्रास अधिवेशन में इसी मांग को पुनः दोहराया गया। मुस्लिम लीग की इस मांग का कुछ मुसलमानों ने विरोध भी किया। जमायते-उल-उलेमा-ए-हिंद ने पाकिस्तान की मांग का तीव्र विरोध किया और कहा कि राष्ट्रीय दृष्टि से प्रत्येक मुसलमान भारतीय है। खुदाई-खिदमतगार, मजलिस-ए-अहरार-ए-हिंद और ऐसी कुछ अन्य मुस्लिम संस्थाओं ने भारत के विभाजन का विरोध किया। इन सबके विरोध के बावजूद मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की मांग सर्वोपरि बनी रही और आगामी सभी सरकारी और गैर-सरकारी प्रयत्नों में पाकिस्तान का मुद्दा छाया रहा।

व्यक्तिगत सत्याग्रह

द्वितीय महायुद्ध के दौरान भारतीयों का सहयोग प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने पहले 8 अगस्त, 1940 को एक घोषणा की, जो 'अगस्त प्रस्ताव' कहलाया। इसमें कहा गया कि युद्ध के पश्चात

भारतीयों की एक प्रतिनिधि सभा नए संविधान का निर्माण करेगी। साथ ही अल्पसंख्यकों को यह आश्वासन दिया गया कि सरकार ऐसी किसी शासन व्यवस्था को मान्यता नहीं देगी, जिसकी प्रभुता भारतीय अल्पसंख्यकों के एक बड़े और सशक्त दल को स्वीकार न हो। परंतु इससे विरोध कम न हुआ। गांधी जी को लगा कि अगस्त प्रस्ताव से कांग्रेस और सरकार के बीच टकराव बढ़ गया है। सितंबर 1940 में कांग्रेस ने बंबई प्रस्ताव द्वारा गांधी जी को ऐसी परिस्थिति में उचित निर्णय लेने की स्वतंत्रता दी। 27 सितंबर को गांधी जी वायसराय से मिले, पर कोई परिणाम न निकला। इस बार गांधी जी ने जन-सत्याग्रह की बजाए व्यक्तिगत सत्याग्रह का प्रस्ताव रखा और इस पर 11 अक्टूबर, 1940 को कांग्रेस की कार्य समिति ने विचार किया।

व्यक्तिगत सत्याग्रह स्वरूप में सीमित, प्रतीकात्मक और अहिंसात्सक था। इसमें सत्याग्रही का चुनाव गांधी जी पर छोड़ दिया गया। व्यक्तिगत सत्याग्रह का आरंभ 17 अक्तूबर, 1940 से हुआ। विनोबा भावे पहले सत्याग्रही थे और उन्हें तीन महीने की सज़ा दी गई। जवाहरलाल नेहरू दूसरे सत्याग्रही थे, जिन्हें 31 अक्टूबर को गिरफ्तार कर लिया गया और उन्हें चार महीने की सज़ा दी गई। तीसरे सत्याग्रही ब्रह्मदत्त थे। सरकार ने प्रेस पर नियंत्रण लगाए। गांधी जी के पत्र 'हरिजन बंधु' और 'हरिजन सेवक' बंद कर दिए। व्यक्तिगत सत्याग्रह में सरदार वल्लभभाई पटेल, प्यारेलाल, मौलाना अबुल कलाम आज़ाद पकड़े गए। इस सत्याग्रह में लगभग 30,000 लोग पकड़े गए।

व्यक्तिगत सत्याग्रह अक्टूबर 1940 से जनवरी 1942 तक अर्थात लगभग 15 मास चला। स्वरूप की दृष्टि से यह सीमित था और इसका उद्देश्य सत्य और अहिंसा में आस्था व्यक्त करना, स्वतंत्र भाषण और युद्ध के विरोध में भारतीयों को बोलने की स्वतंत्रता का अधिकार दिलाना था।

व्यक्तिगत सत्याग्रह असफल रहा। परंतु यह सत्याग्रह 'प्रतीकात्मक विरोध' प्रकट करने के लिए था, जिसमें सफलता मिली।

क्रिप्स मिशन 1942

इसी बीच वायसराय ने जुलाई 1941 में अपनी कार्यकारिणी समिति का विस्तार किया और पांच भारतीयों को इसमें लिया। युद्ध की बिगड़ती हुई अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों का सहयोग प्राप्त करने के लिए 23 मार्च, 1942 को सर स्टीफर्ड क्रिप्स को भारत भेजा। अमेरिका व चीन जैसे मित्र राष्ट्रों की शक्तियां भारत के प्रति सहानुभूतिपूर्वक विचार करने के लिए दबाव डाल रही थीं। क्रिप्स लगभग बीस दिन भारत रहा और भारत के विभिन्न दलों, नेताओं और देशी राजाओं से मिला। उसने युद्ध के बाद भारत में औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना, भारतीय संविधान सभा बनाने, जिसमें न केवल भारतीय रियासतों का भी हिस्सा होगा, बल्कि जिन प्रांतों को संविधान पसंद न होगा, उन्हें वर्तमान व्यवस्था में रहने या नए संविधान बनाने की इजाज़त देना और अल्पसंख्यकों की रक्षा का सुझाव दिया। क्रिप्स ने कुछ सुझाव युद्ध के दिनों में लागू करने का प्रस्ताव किया, जिसमें न केवल भारत की रक्षा की ज़िम्मेदारी ब्रिटिश सरकार की मानी गई, बल्कि एक भारतीय को रक्षा सदस्य के रूप में नियुक्त किए जाने की बात कही गई। भारत से सहायता की बात कही गई और युद्ध के दौरान किसी प्रकार के संवैधानिक परिवर्तन की बात नहीं मानी गई।

देश के प्रमुख दलों ने क्रिप्स के सुझावों को अस्वीकृत कर दिया। वे युद्ध के दिनों में भारतीयों की कोई प्रभावशाली भूमिका न होने पर नाराज़ थे और संविधान सभा में देशी रियासतों के प्रतिनिधि भेजने या भारत संघ से अलग रहने के अधिकार को नहीं चाहते थे। मुस्लिम लीग इसलिए नाराज़ थी कि इसमें पाकिस्तान की मांग स्वीकार नहीं की गई थी।

उन्हें डर था कि संविधान सभा में उन्हें हिंदुओं की दया पर रहना पड़ेगा। उदारवादियों को इससे भारत की सुरक्षा और एकता को खतरा महसूस हो रहा था। अतः क्रिप्स को शीघ्र ही भारत से वापस लौटना पड़ा। वस्तुतः क्रिप्स ने भारत की वस्तुस्थिति का विश्लेषण किया, न कि उसका कोई हल प्रस्तुत किया। मांटेग्यू घोषणा की भाँति उसने भी द्वितीय महायुद्ध में भारतीय राजनीतिज्ञों का मस्तिष्क उलझाए रखने की कोशिश की।

'भारत छोड़ो' आंदोलन (1942-1944)

क्रिप्स मिशन की यह असफलता और अंतर्राष्ट्रीय जगत में जापान द्वारा भारत पर आक्रमण का भय और अन्य परिस्थितियों में गांधी जी ने क्रिप्स मिशन के लौटते ही अंग्रेज़ों के समक्ष भारत छोड़ने संबंधी विचार रखने प्रारंभ कर दिए थे। 26 अप्रैल, 1942 में उन्होंने अपने लेख में अंग्रेज़ों का आह्वान किया, कि वे व्यवस्थित रूप से और समयानुसार भारत छोड़ दें। उन्होंने 24 मई, 1942 के एक अन्य लेख में अंग्रज़ों को भारत को भगवान के भरोसे छोड़ देने को कहा। गांधी जी को लगता था कि अंग्रेज़ों के भारत से हटते ही एक काम चलाऊ सरकार की स्थापना की जा सकेगी और हिंदू-मुस्लिम समस्या भी हल होगी।

जुलाई में वर्धा में कांग्रेस कार्य समिति ने 'भारत छोड़ो' आंदोलन प्रस्ताव पास किया। 7-8 अगस्त, 1942 को बंबई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में इस पर पुनः विचार हुआ। गांधी जी ने अपने प्रस्ताव में अंग्रेज़ों से भारत छोड़ने को कहा और मांग स्वीकार न होने पर आंदोलन करने की धमकी दी। उन्होंने भारतीयों को 'करो या मरो' का नारा दिया।

कार्यक्रम और प्रगति

1919 या 1930 के आंदोलनों की भाँति इस आंदोलन के कार्यक्रमों की निश्चित योजना नहीं बनाई गई। 'हरिजन' के 9 अगस्त, 1942 के अंक में भी कुछ बातें छपी थीं, जिन्हें इसका कार्यक्रम कहा जा सकता है। 12 सूत्री कार्यक्रमों की एक छोटी-सी पुस्तक कांग्रेस द्वारा प्रसारित की गई, जो 11 अगस्त, 1942 को ही सरकार द्वारा ज़ब्त कर ली गई। इसमें शांतिपूर्ण हड़ताल, सार्वजनिक सभाओं, नमक बनाने और भूमिकर न देने की बात कही गई।

8-9 अगस्त, 1942 को कांग्रेस के सभी प्रमुख नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया, जो अधिकतर बंबई में ही थे। सरकार की सोची-समझी कार्यवाही से एक बार तो भारतीय जनमानस चकित हो गया। लोगों को काफी देर तक पता ही न चला कि उनके नेताओं को उनसे अलग कर दिया गया है। गांधी जी को पूना में और पंडित जवाहरलाल नेहरू, अबुल कलाम आज़ाद, गोविंद बल्लभ पंत, डॉ. प्रफुल्ल चंद्र घोष, आसफ अली, डॉ. पट्टाभि सीतारमैया, डा. सैयद अहमद व आचार्य कृपलानी को अहमदनगर के किले में रखा गया। डॉ. राजेंद्र प्रसाद को पटना में ही नज़रबंद कर दिया गया। कांग्रेस संगठन को अवैध घोषित कर दिया गया। सैकड़ों नेताओं की गिरफ्तारी से जनता एक प्रकार से नेतृत्वहीन व दिशाहीन हो गई। वास्तव में यह विद्रोह की घोषणा थी, पर मार्ग निश्चित न था।

नेतृत्व उन नेताओं के हाथ में आया, जो गिरफ्तारी से बच गए थे। उस दिन कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की कार्यकारिणी की बैठक भी हो रही थी। इसके नेताओं ने भूमिगत रहकर आंदोलन चलाने का निश्चय किया। इसमें प्रमुख राम मनोहर लोहिया, अच्युत पटवर्धन, रामानंद मिश्र और एस. एम. जोशी थे। कांग्रेस कार्यकारिणी के अधिकारी जिसमें सुचेता कृपलानी और सादिक अली थे, उन्होंने भी ऐसी ही योजना बनाई। इस आंदोलन में जयप्रकाश नारायण की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। अनेक विद्यार्थियों ने भी स्कूल और कॉलेज छोड़कर आंदोलन का संचालन किया। भारत के विभिन्न भागों में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के नेताओं ने सन 1942 के आंदोलन को गति प्रदान की, उदाहरणतः गुजरात में छोटेभाई पुराणी (1885-1950) और बी. के. मजूमदार (1902-1981), यूनाइटेड प्रोविंसिस में



जयप्रकाश नारायण

रामलोचन तिवारी, झारखंड राय, संपूर्णानंद, के. डी. मालवीय, नंद किशोर वशिष्ठ, महाराष्ट्र में नाना पाटिल आदि। इसके साथ ही इसमें नवयुवकों ने बढ़-चढ़कर भाग लिया। उत्तर भारत में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, पटना विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ और दक्षिण में अन्नामलाई विश्वविद्यालय के छात्रों की भूमिका अद्वितीय थी। देश के कॉलेजों और स्कूलों के लगभग सभी छात्रों ने इसमें भाग लिया।

'भारत छोड़ो' आंदोलन को साधारणतः चार अवस्थाओं में से गुज़रना पड़ा। पहली, 9 से 11 अगस्त तक कही जा सकती है। इसमें नगरों, कस्बों में हड़तालें, प्रदर्शन और सभाएं हुईं। मिलों और फैक्ट्रियों में भी मज़दूरों की हड़तालें हुईं, परंतु जो मज़दूर रैडिकल डेमोक्रेटिक या साम्यवादियों के प्रभाव में थे, वे ब्रिटिश सरकार के प्रति वफ़ादार रहे। सरकार ने रेलवे मज़दूरों के महंगाई भत्ते बढ़ाने की तुरंत घोषणा की, जिससे सरकार का खर्च 2 लाख रु. की जगह 5 लाख रुपए हो गया।

दूसरी अवस्था में यह आंदोलन गांवों तक पहुंच गया। सरकार ने दमन का रुख अपनाया। सरकारी इमारतों, म्युनिसिपल भवनों, रेलवे स्टेशनों, पुलिस थानों, डाकघरों और रेलगाड़ियों पर ध्वंसात्मक प्रहार हुए। 11 अगस्त, 1942 को बंबई में दोपहर के ढाई बजे तक सरकार ने 13 बार गोलियां चलाईं। यूनाइटेड प्रोविंसिस के कुछ भागों में अस्थायी सरकार भी स्थापित की गई। अनेक स्थानों पर सरकारी न्यायालयों और जेलों पर भी हमले हुए, पर कहीं भी किसी यूरोपीय के विरुद्ध हिंसा न हुई।

तीसरी अवस्था में 23 सितंबर, 1942 से फ़रवरी 1943 तक का काल माना जा सकता है, जबकि सशस्त्र भीड़ द्वारा आक्रमण किए गए। बंगाल और मद्रास में सरकारी भवनों पर धावे बोले गए। बंबई और यूनाइटेड प्रोविंसिस में कई स्थानों पर बम फेंके गए। सरकार ने आंदोलन का बुरी तरह दमन किया। चौथी अवस्था में फ़रवरी 1943 से 9 मई, 1944 तक का काल आता है, जबकि गांधी जी को छोड़ दिया गया। इन दिनों अनेक प्रदर्शन व जुलूसों का आयोजन हुआ, राष्ट्रीय नेताओं की जयंतियां और राष्ट्रीय सप्ताह मनाए गए। 'भारत छोड़ो' आंदोलन देश की आज़ादी के लिए अंतिम प्रयास था। इसमें विद्यार्थियों, किसानों और मज़दूरों ने बढ़-चढ़कर भाग लिया। मुसलमान सामान्यतः अलग रहे। समाज के उच्च वर्ग और उपाधि प्राप्त वर्ग ने भी सरकार का साथ दिया। मज़दूर वर्ग विभाजित रहा। पुलिस व नौकरशाही राजभक्त रही। निम्न मध्यम वर्ग ने आंदोलन में सक्रिय योगदान दिया। डॉ. अंबा प्रसाद ने इसे एक 'विद्यार्थी-किसान मध्यम वर्गीय विद्रोह' कहा है।

यह आंदोलन ब्रिटिश सरकार के लिए भयंकर साबित हुआ। इसमें सरकार ने 538 बार गोलियां चलाईं। इसमें 60, 229 व्यक्तियों को जेल में डाला। सेना ने 6 बार मशीनगनें चलाईं। इसमें कम-से-कम 7000 व्यक्ति मारे गए।

साम्यवादियों ने अगस्त 1942 के कांग्रेस प्रस्तावों का विरोध किया। मुस्लिम लीग ने इसे खतरनाक आंदोलन बताया। उदारवादियों ने भी जनांदोलन का विरोध किया। सावरकर ने सरकार की आलोचना की, लेकिन अपने अनुयायियों को आंदोलन में भाग न लेने को कहा। इसी तरह एंथोनी के नेतृत्व में ऐंग्लो-इंडियन समाज ने इसका विरोध किया। सिक्ख संप्रदाय की भूमिका हिंदू महासभा जैसी थी। पारसियों ने इस आंदोलन का समर्थन किया।

'हिंदू महासभा' की स्थापना 1915 में कुंभ मेले के अवसर पर मदन मोहन मालवीय द्वारा की गई। इसमें वी. डी. सावरकर, डॉ. वी. एस. मुंजे, लाला लाजपतराय जैसे नेताओं ने भाग लिया। इसका उद्देश्य प्रारंभ में मालवीय जी ने हिंदुओं में सामाजिक और सांस्कृतिक जागृति लाना बताया। बाद में 'हिंदू महासभा' ने अखंड भारत का नारा भी दिया। इसका राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में सीमित प्रभाव रहा।

आंदोलन की असफलता के तीन मुख्य कारण थे– इसके संगठन और कार्यक्रमों में कमियां, सरकारी राजभक्तों की वफ़ादारी और सरकार की कई गुणा दमनकारी शक्ति। उद्देश्य की दृष्टि से इस आंदोलन को ज़्यादा तैयारी और विस्तृत योजना की आवश्यकता थी।

कुछ भी हो, इस आंदोलन के महत्त्व को कम नहीं माना जा सकता। इस आंदोलन ने भारत की आज़ादी का मार्ग प्रशस्त किया। भारतीयों में वीरता, उत्साह, शौर्य और देश के लिए सर्वस्व त्याग की भावना जाग्रत की। सरदार पटेल ने कहा, 'भारत में ब्रिटिश राज्य के इतिहास में ऐसा विद्रोह कभी नहीं हुआ जैसा कि पिछले तीन वर्षों में हुआ। लॉर्ड लिनलिथगो ने इसे 1857 के बाद का सबसे भयंकर विद्रोह बतलाया। उसने प्रधानमंत्री चर्चिल को एक पत्र में लिखा, 'मैं यहां 1857 के विद्रोह के बाद बहुत गंभीर विद्रोह से जूझ रहा हूं। इसकी गहनता और विस्तार को मैंने सैनिक सुरक्षा की दृष्टि से विश्व से अब तक छिपाया है।' इस आंदोलन से देश में नेतृत्व की एक नई पीढ़ी आगे आई और लोगों में संघर्ष करने की हिम्मत और शक्ति बढ़ गई। अतः कहा जा सकता है कि इस विद्रोह की अग्नि से औपनिवेशिक साम्राज्य की सारी बत्तियां जल गईं। भारतवर्ष अब संपूर्ण स्वतंत्रता से कम कुछ नहीं चाहता था। अंग्रेज़ों का भारत छोड़ना निश्चित हो गया। यह ब्रिटिश साम्राज्यवाद को बड़ा भारी धक्का था। यह एक ऐसा विशिष्ट आंदोलन था, जिसमें तीन पीढ़ियों – विद्यालयों के छात्रों, महाविद्यालय व विश्वविद्यालयों के युवकों और अनुभवी राजनीतिज्ञों ने सामूहिक रूप से भारत राष्ट्र की स्वतंत्रता में भाग लिया था।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान साम्यवादियों की भूमिका

भारत के साम्यवादी दल का उदय 1925 में हो गया था, परंतु ब्रिटिश सरकार प्रारंभ से इससे चौकन्नी थी और 1934 में इनकी गतिविधियों पर प्रतिबंध लगा दिया था और इसे गैर-कानूनी घोषित कर दिया था। 1942 तक यह गैर-कानूनी था।

सितंबर 1939 के द्वितीय महायुद्ध की घोषणा के समय सोवियत संघ जर्मनी का मित्र था। सोवियत संघ ने इस युद्ध को 'साम्राज्यवादी युद्ध' कह कर उसकी कटु आलोचना की थी और ब्रिटेन का विरोध भी किया, परंतु जून 1941 में नाज़ी जर्मनी की सेनाओं ने जब सोवियत भूमि पर एकाएक आक्रमण

किया तो सोवियत संघ ब्रिटेन के साथ मिल गया। इसके फलस्वरूप भारत में भी साम्यवादियों ने अपनी नीति को बिल्कुल बदल दिया। तत्कालीन गुप्त दस्तावेज़ों से ज्ञात होता है कि भारत में साम्यवादी पार्टी ने अब अंग्रेज़ों को युद्ध में पूरी तरह सहायता का वायदा किया तो अंग्रेज़ सरकार ने इसके बदले जुलाई 1942 में भारत की साम्यवादी पार्टी से प्रतिबंध हटा लिया गया।

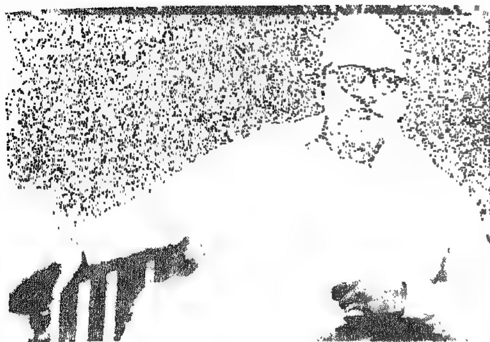
इस बारे में भारत की साम्यवादी पार्टी ने एक प्रस्ताव भी पारित किया, जिसमें कहा गया 'हम एक व्यावहारिक पार्टी हैं और अब नई परिस्थितियों में हमारा केवल यही कर्तव्य नहीं कि इसके लिए एक शक्ति का नया रूप विकसित करें, बल्कि नए नारे भी दें... अब हमारी पार्टी का मुख्य नारा है 'भारतीय जनता जन-युद्ध में जनता की भूमिका अपनाए। (Make the Indian people play a people's role in the people's war)।' अतः रातों रात वे महायुद्ध को 'साम्राज्यवादी युद्ध' के स्थान पर 'जन-युद्ध' कहने लगे। अब उन्होंने 1942 के राष्ट्रीय आंदोलन को असफल करने में ब्रिटिश सरकार की सहायता की।

जब अगस्त 1942 में कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो' आंदोलन शुरू किया, तो साम्यवादियों ने आंदोलनकारियों को पकड़वाने और राष्ट्रीय आंदोलन को कुचलने में ब्रिटिश सरकार की सहायता की। इस महान घटना क्रम में भारत की साम्यवादी पार्टी की भूमिका नकारात्मक रही। साम्यवादियों के इस परिवर्तनकारी रवैए की राष्ट्रवादियों ने कड़ी आलोचना की और यह ज्ञात हो गया कि भारत के साम्यवादी दल की नीति का संचालन देश के बाहर से होता है।

इसके साथ ही, 1941 में एक पत्रक द्वारा भारत के साम्यवादी दल ने बहुराष्ट्रीयता के सिद्धांत की घोषणा की। इसके कुछ काल बाद घोषणा की कि भारत एक बहुराष्ट्रीय देश है। सितंबर 1942 में भारत के साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति ने एक प्रस्ताव में कहा, 'भारत की जनता का प्रत्येक भाग, जिसका अपने साथ लगा होमलैंड, समान ऐतिहासिक परंपरा, समान भाषा, समान संस्कृति, समान मनोवैज्ञानिक चिंतन और समान आर्थिक रहन-सहन है, उसे एक पृथक राष्ट्रीयता के रूप में मान्यता दी जाएगी।' इस प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि किसी भी भाग को यह अधिकार होगा कि वह स्वतंत्र भारत के साथ संघ या राज्य समूह के अंतर्गत एक स्वायत्त राज्य के रूप में रहे या वह चाहे, तो अपने अलग हो जाने के अधिकार का उपयोग करे। इस भांति उन्होंने पाकिस्तान की मांग का समर्थन करना प्रारंभ किया। उन्होंने बहुराष्ट्रीयता के सिद्धांत के आधार पर भारत को एक राष्ट्र की बजाए, अनेक छोटे-छोटे स्वायत्त राज्यों का समूह बतलाया। उन्होंने 1946 में कैबिनेट मिशन के सम्मुख एक स्मृति-पत्र में भारत को 17 पृथक पूर्ण राज्यों में बांटने का प्रस्ताव रखा। अतः स्वतंत्रता के संदर्भ में उनका दृष्टिकोण भारत को छोटे-छोटे टुकड़ों में बांटने का था।

सुभाष चंद्र बोस

द्वितीय महायुद्ध के दौरान क्रांतिकारी और सशस्त्र प्रयास भी होते रहे। निश्चित रूप से इन प्रयासों में सुभाष चंद्र बोस का योगदान सर्वोपरि है। उनका जन्म 23 जनवरी, 1897 को उड़ीसा के कटक नामक स्थान पर हुआ। 1920 में आई.सी.एस. की परीक्षा पास की, पर घर की नौकरी की बजाए देश सेवा को प्रमुखता दी। राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति उन्हें प्रेरित करने में देशबंधु चित्तरंजन दास का विशेष हाथ था। असहयोग आंदोलन में उन्हें 6 महीने की सज़ा दी गई थी। सरकारी गुप्त दस्तावेज़ों से ज्ञात होता है कि कलकत्ता कॉर्पोरेशन के एक कर्मचारी ने उन्हें छुड़ाने की कोशिश की, परंतु सुभाष ने मना कर दिया। 1923 में वे कलकत्ता के मेयर चुने गए, पर उन्हें शीघ्र ही अक्टूबर 1924 में गिरफ्तार कर लिया गया और मांडले जेल भेज दिया था। इसके बाद भी उन्हें



सुभाष चंद्र बोस

कई बार जेल भेजा गया। साइमन कमीशन का विरोध करने में भी वे आगे थे। भगतसिंह को फांसी लगने पर उन्होंने संपूर्ण देश का दौरा कर देश के नवयुवकों में एक नवचेतना जाग्रत की थी। देश के लिए सुभाष संपूर्ण स्वतंत्रता की मांग करने वाले प्रथम व्यक्तियों में से थे। 1938 में वे हरिपुर कांग्रेस अधिवेशन में इसके अध्यक्ष चुने गए। परंतु अपनी क्रांतिकारी मान्यताओं के कारण कुछ मामलों में उनके विचार गांधी जी से नहीं मिलते थे। वे चाहते थे कि कांग्रेस को आज़ादी प्राप्ति की एक निश्चित तारीख तय कर देनी चाहिए। अगले वर्ष सुभाष पुनः कांग्रेस अध्यक्ष के पद के लिए खड़े हुए। उनके मुकाबले में गांधी जी के आशीर्वाद से पट्टाभि सीतारमैया को खड़ा कर दिया गया। इस बार भी सुभाष कांग्रेस के अध्यक्ष तो चुने गए, लेकिन उनका गांधी जी से वैचारिक संघर्ष चल पड़ा। 1 मई 1939 को सुभाष चंद्र बोस ने कांग्रेस के भीतर ही एक नए गुट का गठन किया जिसे फारवर्ड ब्लाक (Forward Block) कहा गया। इस पर गांधीवादी लोगों की तीव्र प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उन्हें कांग्रेस के अध्यक्ष पद से त्यागपत्र देना पड़ा।

जब यूरोप में द्वितीय महायुद्ध के बादल मंडरा रहे थे, तो सुभाष भी इस युद्ध का लाभ देश की आज़ादी के लिए उठाने को लालायित थे। इसी बीच 13 मार्च, 1940 को लंदन में पंजाब के सुनाम नामक स्थान के सरदार ऊधमसिंह ने पंजाब के भूतपूर्व लैफ्टिनेंट गवर्नर डायर की गोली मारकर हत्या कर दी। इस घटना से भी युवकों में क्रांतिकारी कार्यों के लिए उत्साह पैदा हुआ था। इन्हीं दिनों सुभाष कलकत्ता में सार्वजनिक स्थानों से अंग्रेज़ों की मूर्तियां हटाने के लिए आंदोलन करने वाले थे। विद्वान लेखक बालशास्त्री हरदास के अनुसार इन्हीं दिनों सुभाष की भेंट सावरकर से हुई और सावरकर ने सुभाष को छोटे-मोटे आंदोलन छोड़कर रास बिहारी बोस की तरह, अंग्रेज़ों को धोखा देकर भारत से बाहर चले जाने और हिंदुस्तान की स्वतंत्रता के लिए प्रयास करने को कहा। परंतु जुलाई 1940 में भारत सुरक्षा कानून के अंतर्गत उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया।

सुभाष ने जेल से निकलने के लिए अनशन कर दिया। सरकार ने उन्हें मुक्त तो कर दिया, लेकिन कलकत्ता में उनके घर के बाहर पहरा बैठा दिया। शीघ्र ही वे अपनी भावी योजना में जुट गए। बीमारी का बहाना बनाया, दाढ़ी बढ़ाई और 16 फ़रवरी, 1941 की रात को अंधेरे में पुलिस को चकमा देकर एक पठान के वेश में अपने मकान से निकल गए। अपने साथी भगतराम के साथ छिपते हुए काबुल पहुंचे। एक गूंगे के रूप में काबुल की मस्जिद में रात बिताई। वहां से वे जर्मनी पहुंचे और हिटलर से भेंट की। जर्मनी में ही उनको सर्वप्रथम 'नेता जी' कहकर पुकारा गया। इस बीच जापान भी जर्मनी के साथ युद्ध में शामिल हो गया था तथा जापान ने कई महत्त्वपूर्ण सफलताएं प्राप्त कर ली थीं और 16 फ़रवरी, 1942 को सिंगापुर पर कब्ज़ा कर लिया।

आज़ाद हिंद फ़ौज

पहली आज़ाद हिंद फ़ौज के गठन का श्रेय कैप्टन मोहन सिंह को है जिन्होंने 1 सितंबर 1942 को आज़ाद हिंद फ़ौज का पहला डिविजन बनाया पर जापानी अधिकारियों से सेना की संख्या और इसकी भूमिका के प्रश्नों पर मतभेद हो गए और यह सफल

नहीं हो सकी। 2 जुलाई, 1943 को सुभाष चंद्र बोस सिंगापुर पहुंचे, जहां उन्होंने 'दिल्ली चलो' का नारा दिया। सुभाष को 5 जुलाई, 1943 को 'भारतीय स्वतंत्रता लीग' का अध्यक्ष और अक्टूबर में आज़ाद हिंद फ़ौज का सर्वोच्च सेनापति बनाया गया। उन्होंने आज़ाद भारत की स्थाई सरकार की घोषणा की। उन्होंने उद्घोष किया 'तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आज़ादी दूंगा'। उन्होंने आज़ाद हिंद फ़ौज की रेजीमेंट बनाई। उन्होंने देश को 'जय हिंद' का नारा दिया। फ़ौज का झंडा कांग्रेस के तिरंगे झंडे की भांति था, जिस पर दहाड़ते हुए शेर का चिह्न था। तीन ब्रिगेडों के नाम सुभाष ब्रिगेड, गांधी ब्रिगेड और नेहरू ब्रिगेड थे। उन्होंने महिलाओं की रेजीमेंट झांसी की रानी लक्ष्मीबाई के नाम पर 'लक्ष्मीबाई रेजीमेंट' बनाई। सुभाष की अस्थाई सरकार को जापान, जर्मनी, इटली, चीन, आयरलैंड, बर्मा और फिलिपींस ने मान्यता दी और वहां बसे आप्रवासी भारतीयों ने उन्हें पूरी सहायता की। 8 नवंबर, 1943 को जापान ने अंडमान और निकोबार द्वीप भी सुभाष को सौंप दिए। नेता जी ने इनका नाम क्रमशः 'शहीद द्वीप' और 'स्वराज्य द्वीप' रखा।

आज़ाद हिंद फ़ौज ने जिस गति से कोहिमा को जीत कर इंफाल की ओर कूच किया, वह सैनिक अभियानों के इतिहास में चमत्कारिक एवं दिशाबोधक महान घटना थी। परंतु मौसम की खराबी के कारण भारतीय सैनिकों को बहुत हानि हुई। वे घास की रोटियां, घोड़ों और हाथी का मांस खाकर कुछ समय तक जीवित रहे। नागा की पहाड़ियों पर और कोहिमा पर्वत की चोटी पर आज़ाद हिंद फ़ौज का झंडा लहराया। सेनाएं अब इंफाल की ओर बढ़ीं। भारी वर्षा और जापान की सहायता से वंचित रहते हुए ये आज़ादी के दीवाने आगे बढ़ते गए। परंतु 7 मई, 1945 को अचानक जर्मनी ने पराजय स्वीकार कर ली। 6 अगस्त, 1945 को हिरोशिमा और नागासाकी नामक दो प्रसिद्ध जापान के नगरों पर बम वर्षा की गई। परिणामस्वरूप 15 अगस्त, 1945 को जापान ने पराजय स्वीकार कर ली। जापान के अधीन सभी प्रदेश अंग्रेज़ों के अधिकार में आ गए। ऐसी अवस्था में कुछ का मत है कि टोकियो जाते हुए फार्मूसा द्वीप के बाद अचानक हवाई जहाज़ में आग लग जाने से सुभाष चंद्र बोस 18 अगस्त, 1945 को मारे गए, परंतु इस दुर्घटना को अभी तक प्रामाणिक नहीं माना गया है।

आज़ाद हिंद फ़ौज के सैनिकों पर दिल्ली के लाल किले में मुकद्दमा चलाया गया। पं. जवाहरलाल नेहरू, भोलाभाई देसाई और तेज बहादुर सप्रू ने उनको छुड़ाने के लिए मुकद्दमे की पैरवी की। आखिर में फ़ौज के तीन बड़े सेनापति शाहनवाज़ खां, पी. के. सहगल और गुरुदयाल ढिल्लो को छोड़ दिया गया।

आज़ाद हिंद फ़ौज को यद्यपि सफलता नहीं मिली, लेकिन देशभक्ति और राष्ट्रीयता की जो भावना उन्होंने पैदा की, उसे भुलाया नहीं जा सकता। इस सेना ने ब्रिटिश शासन का नैतिक बल गिरा दिया। द्वितीय महायुद्ध के दौरान सुभाष के साहसपूर्ण कार्यों ने उन्हें अमर बना दिया और विश्व के प्रथम श्रेणी के नेताओं में लाकर खड़ा कर दिया।

वायुसेना और जलसेना का विद्रोह

आज़ाद हिंद फ़ौज की गतिविधियों से प्रेरित हो भारतीय सेनाओं में भी हलचल हो गई। कराची में 20 जनवरी, 1946 को वायुसेना के कुछ सैनिकों ने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध हड़ताल कर दी। बंबई, लाहौर, दिल्ली में भी यह शीघ्र ही फैल गई। लगभग 5,200 सैनिकों ने इसमें भाग लिया। इनकी प्रमुख मांग थी कि भारतीय और अंग्रेज़ सैनिकों में बराबरी का व्यवहार किया जाए।

जलसेना में भी 19 फ़रवरी, 1946 को कुछ भारतीय टुकड़ियों ने विद्रोह कर दिया। 5,000 सैनिकों

ने आज़ाद हिंद फ़ौज के बिल्ले लगाए। उन्होंने भी बराबरी की मांग की। कुछ को गिरफ्तार किया गया। इस हड़ताल में बंबई में नागरिकों ने भी इनका बढ़-चढ़कर साथ दिया। ब्रिटिश शासन ने गोलियां चलाकर विद्रोह को दबाने की कोशिश की। किसी तरह सरदार पटेल के बीच-बचाव से यह विद्रोह समाप्त हुआ। अतः भारत की आज़ादी में इन सैनिकों के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता।

अभ्यास प्रश्न

1. 'भारत छोड़ो' आंदोलन एवं सविनय अवज्ञा आंदोलन के बीच सांप्रदायिक राजनीति के विकास का ब्यौरा दीजिए।
2. क्रिप्स मिशन द्वारा प्रस्तावित संवैधानिक बदलावों पर विचार व्यक्त कीजिए। भारत के प्रमुख राजनीतिक दलों ने इसके प्रस्तावों को क्यों अस्वीकार कर दिया?
3. 1942 में महात्मा गांधी ने 'भारत छोड़ो' आंदोलन क्यों चलाया ? इस आंदोलन के कार्यक्रमों, प्रगति एवं परिणामों पर विचार प्रकट कीजिए।
4. भारत के स्वतंत्रता-संग्राम में सुभाष चंद्र बोस की भूमिका पर विचार व्यक्त कीजिए।
5. भारतीय राष्ट्रीय सेना के गठन एवं कार्यकलापों का विवरण दीजिए।
6. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—

   (क) व्यक्तिगत सत्याग्रह

   (ख) द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भारतीय साम्यवादियों की भूमिका

   (ग) आज़ाद हिंद फ़ौज

परियोजना कार्य

- निम्नलिखित दस्तावेज़ों की विषय-वस्तु संकलित कीजिए : लाहौर कांग्रेस का प्रस्ताव और 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव।

15
अध्याय

भारत विभाजन की ओर

भारत के सत्ता हस्तांतरण के लिए वार्ताएं

1939-45 तक विश्व द्वितीय महायुद्ध से आक्रांत रहा। इस काल में भारतीयों ने भी स्वतंत्रता आंदोलनों को तीव्र गति से बढ़ाया। युद्ध की बिगड़ती परिस्थितियों में अंग्रेज़ों को भारतीयों से सहयोग की आशा थी। 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन और अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं ने अंग्रेज़ों के लिए और संकट खड़े कर दिए। अतः अंग्रेज़ों ने कूटनीतिक ढंग से भारतीय नेताओं से वार्तालापों का दौर प्रारंभ किया। वेवल योजना, शिमला सम्मेलन और कैबिनेट मिशन योजना इसी की महत्त्वपूर्ण कड़ियां थीं।

❑ *वेवल योजना और शिमला कांफ्रेंस*

सरकार ने 1942 के आंदोलन के हिंसात्मक कार्यों की सारी ज़िम्मेदारी कांग्रेस और गांधी जी पर डाली। अक्टूबर 1943 में लॉर्ड वेवल भारत के नए वायसराय बनकर आए। उन्होंने घोषणा की कि 'मैं अपने थैले में बहुत-सी चीजें ला रहा हूं।' लेकिन 6 मई 1944 को गांधी जी को जेल से छोड़ने के अतिरिक्त कुछ नहीं मिला।

इस बीच संवैधानिक गतिरोध को हल करने के लिए मार्च 1944 में राजगोपालाचारी ने एक फार्मूला तैयार किया, जिसे जिन्ना ने स्वीकार नहीं किया। 14 जून, 1945 को लॉर्ड वेवल ने भी एक योजना रखी, जो वेवल योजना के नाम से जानी जाती है। योजना का मुख्य कारण भारत में व्याप्त जनाक्रोश को कम करना, जापान के विरुद्ध भारत का सहयोग प्राप्त करना और ब्रिटेन के आगामी चुनावों के लिए अनुदार दल के प्रति जनमत प्राप्त करना था। योजना की मुख्य शर्तें लगभग क्रिप्स मिशन जैसी ही थीं। इसमें स्वशासन की मांग और वायसराय की कार्यकारिणी की समिति में मुसलमानों व हिंदुओं की संख्या बराबर करने को कहा गया।

स्वस्थ वातावरण बनाने के लिए वेवल ने देश के सभी दलों के प्रमुख नेताओं को 25 जून, 1945 को शिमला आमंत्रित किया। यह कांफ्रेंस 25 जून से 14 जुलाई तक शिमला में हुई, इसमें 21 भारतीय नेताओं को आमंत्रित किया गया। इसमें मुस्लिम लीग के मुहम्मद अली जिन्ना, कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना



पं. जवाहरलाल नेहरू

अबुल कलाम आज़ाद, पंडित जवाहरलाल नेहरू, लियाकत अली खां, मास्टर तारासिंह और भोलाभाई देसाई प्रमुख थे। इस सम्मेलन को वेवल योजना पर विचार करने के लिए बुलाया गया। सम्मेलन स्वस्थ वातावरण में प्रारंभ हुआ, परंतु सम्मेलन में जिन्ना इस बात पर अड़ गए कि केवल मुस्लिम लीग ही भारत के समस्त मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करती है, अतः सम्मेलन असफल रहा।

1945 के चुनाव

इसी बीच महायुद्ध में हुई विजय का लाभ उठाते हुए चर्चिल ने आगामी चुनावों की घोषणा कर दी। परंतु परिणाम विपरीत निकले। इंग्लैंड में लेबर पार्टी की सरकार बनी। लॉर्ड एटली प्रधानमंत्री और लॉर्ड पैथिक लॉरेंस भारत मंत्री बने। बदलती हुई परिस्थितियों को देखते हुए 19 सितंबर, 1945 को वेवल ने युद्ध के कारण स्थगित हुए भारत के चुनाव कराने की घोषणा की और शीघ्र ही पूर्ण स्वशासन की स्थापना, अपना लक्ष्य बतलाया।

❑ *कैबिनेट मिशन योजना*

लॉर्ड एटली की ब्रिटिश सरकार ने 15 मार्च, 1946 को एक घोषणा की, जिसमें भारतीयों के आत्मनिर्णय के अधिकार और संविधान बनाने को मान लिया गया। इस ऐतिहासिक घोषणा के बाद ब्रिटिश कैबिनेट के तीन सदस्यों–पैथिक लॉरेंस, सर स्टीफोर्ड क्रिप्स और ए. बी. एलेक्जेंडर को भारत भेजा गया। यह मंत्रिमंडलीय शिष्टमंडल यानी कैबिनेट मिशन 24 मार्च, 1946 को दिल्ली पहुंचा। इस शिष्टमंडल ने भारत के भिन्न-भिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं से बातचीत की, परंतु इसका कोई हल न निकला। जिन्ना पाकिस्तान की मांग पर अड़े रहे। बातचीत के लिए शिमला में एक कांफ्रेंस भी बुलाई गई, पर सफलता न मिली। इसलिए शिष्टमंडल ने अपनी ओर से संवैधानिक समस्या का हल प्रस्तुत किया। ये प्रस्ताव लॉर्ड वेवल और मंत्रिमंडलीय शिष्टमंडल ने एक संयुक्त वक्तव्य में 16 मई, 1946 को प्रकाशित किए। इसे 'कैबिनेट मिशन योजना' भी कहा जाता है। इसमें उन्होंने एक ऐसे त्रिस्तरीय संविधान का प्रस्ताव रखा, जिसने भारत की राजनीतिक एकता को बनाए रखने का प्रयास किया। कैबिनट मिशन ने ब्रिटिश भारत और भारतीय राजाओं को मिलाकर एक भारतीय संघ के निर्माण का प्रस्ताव रखा, जिसमें उनके पास केवल विदेशी मामले, प्रतिरक्षा व संचार विभाग तथा शेष शक्तियां राज्यों के पास रहनी थीं। यह भी प्रस्तावित था कि प्रांतों को अलग-अलग कार्यपालिका और विधान सभा के साथ-साथ अपने समूह बनाने का अधिकार होगा। दूसरे, एक संविधान सभा का निर्माण किया जाएगा,

जिसमें प्रत्येक प्रांत में जनसंख्या के अनुपात में, सांप्रदायिक आधार पर प्रतिनिधि होंगे। तीसरे, इसके साथ ही एक अंतरिम सरकार की भी योजना रखी गई। यह संविधान सभा तय संविधान के आधार पर नवीन सरकार के गठन होने तक रहेगी। चौथे, यह भी कहा गया कि संविधान सभाओं को शक्ति के हस्तांतरण से उत्पन्न मामलों पर एक संधि करनी होगी। मिशन ने इस बात पर बल दिया कि ब्रिटिश सेना तब तक नहीं हटाई जाएगी, जब तक संविधान सभा अपना कार्य पूरा न कर ले और उसकी योजनानुसार स्वतंत्र भारत की सरकार की स्थापना न हो जाए।

कैबिनेट मिशन योजना को विभिन्न राजनीतिक दलों ने अपनी-अपनी दृष्टि से देखा। कांग्रेस ने योजना में अनेक दोष पाए। लीग को पाकिस्तान की मांग पूर्ति होती नहीं दिखी। परंतु मुस्लिम लीग ने 6 जून को और कांग्रेस ने 25 जून, 1946 को इस योजना को स्वीकार कर लिया।

योजना को स्वीकार किए जाने के पश्चात संविधान सभा के निर्माण के लिए चुनाव जुलाई 1946 में कराए गए। कांग्रेस ने 214 सामान्य स्थानों में से 205 स्थान प्राप्त किए। उन्हें 4 सिक्ख सदस्यों का भी समर्थन प्राप्त था। मुस्लिम लीग को 78 मुस्लिम स्थानों में से 73 स्थान मिले। चुनाव परिणामों से जिन्ना क्षुब्ध हो गए, उन्होंने पृथक विधान सभा की मांग की और कहना शुरू कर दिया कि हिंदू-मुसलमान एक राष्ट्र नहीं हो सकते। साथ ही मुसलमानों को हिंसात्मक कार्यवाही के लिए भड़काना भी शुरू कर दिया।

प्रत्यक्ष कार्यवाही

अंतरिम सरकार कांग्रेस द्वारा मुसलमानों को नामजद करने के अधिकार को मुस्लिम लीग ने मान्यता नहीं दी और जुलाई के अंत में कैबिनेट मिशन के वक्तव्य को भी अस्वीकार कर दिया व प्रत्यक्ष कार्यवाही की घोषणा कर दी गई। 16 अगस्त, 1946 को 'प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस' निश्चित किया गया। इससे बंगाल, यूनाइटेड प्रोविंसिस, पंजाब, सिंध व उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत में दंगे भड़के।

बंगाल में नरसंहार और बिहार में प्रतिक्रियाएं

इसका सबसे ज़्यादा व्यापक प्रभाव कलकत्ता में हुआ, जहां सांप्रदायिक दंगे भड़क उठे। मुस्लिम लीग ने घृणा और अराजकता का वातावरण पैदा किया। इन दंगों से महात्मा गांधी बड़े दुःखी हुए। गांधी जी ने मुस्लिम लीग की मांग के इस तरीके की तीव्र भर्त्सना की और इसे 'पापमय' बतलाया।

13 अक्टूबर, 1946 को नोआखली में भी दंगे भड़क उठे। शीघ्र ही इन दंगों ने भयंकर रूप धारण कर लिया। कलकत्ता में सैकड़ों लोग मारे गए। बंगाल में, नोआखली में और टिपेरा (Tippera) ज़िले के ग्रामों में अनेक विनाशकारी घटनाएं हुईं। सरकारी आंकड़ों के अनुसार नोआखली में 300 व टिपेरा में 350 घर जलाए और लूट लिए गए। 29 अक्टूबर को गांधी जी नोआखली पहुंचे। बिहार में इन दंगों की तीखी प्रतिक्रिया हुई, वहां भी अनेक दंगे और लूटमार की घटनाएं हुईं। इन दंगों की जांच के लिए एक जांच समिति की मांग की गई, परंतु ब्रिटिश सरकार ने वह ठुकरा दी। इन दंगों का पंजाब और दिल्ली में भी वीभत्स रूप रहा। एक प्रमुख समाचार-पत्र ने दिल्ली के बारे में लिखा कि जो दिल्ली हमेशा खुश दिखाई देती थी, गांधी जी के 8 सितंबर, 1947 के दिल्ली पहुंचने पर लगा कि वह मुर्दों का शहर हो गया है। हिंदुस्तान की महान धरती श्मशान घाट में परिवर्तित हो गई थी। गांधी जी ने लिखा कि 'मेरे चारों ओर दावानल जल रहा है'। यह दृश्य पंजाब, रावलपिंडी, अटक, मियावली और शेखपुरा में दिखाई दिया।

अंतरिम सरकार की स्थापना

कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार 2 सितंबर, 1946 को पंडित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में अंतरिम

सरकार का गठन किया गया। अंतरिम सरकार के बारे में कैबिनेट मिशन योजना में कहा गया कि युद्ध विभाग सहित सभी विभाग भारतीय मंत्रियों के पास होंगे। इस अंतरिम सरकार के 14 सदस्य होंगे, जिसमें 6 कांग्रेस, 5 मुस्लिम लीग, 1 भारतीय ईसाई, 1 सिक्ख और 1 पारसी होगा। योजना को पूरी तरह सफल होने में सरकार ने पूर्ण सहयोग का आश्वासन दिया था।

लॉर्ड वेवल ने अंतरिम सरकार बनाने के लिए प्रयत्न किए और कांग्रेस व लीग को निमंत्रण दिया। 9 दिसंबर, 1946 को वायसराय ने संविधान सभा बुलाने का निश्चय किया। लीग ने पहले देश के बंटवारे की मांग की। अतः लीग के सदस्य इसमें शामिल नहीं हुए, परंतु 26 अक्टूबर, 1946 को लीग अंतरिम सरकार में सम्मिलित हो गई। इसलिए नहीं, कि उसे सफल बनाया जा सके, अपितु इसलिए कि उसे अंदर से तोड़ा जा सके। लेकिन वह संविधान सभा में सम्मिलित न हुई।

माउंटबेटन का आगमन और भारत विभाजन की योजना

20 फ़रवरी, 1947 में प्रधानमंत्री एटली ने हाउस ऑफ कॉमंस में यह घोषणा की कि जून 1948 तक प्रभुसत्ता भारतीयों के हाथ में दे देंगे। यह भी कहा कि यदि तब तक एक संविधान का निर्णय न किया गया तो वे जिसे चाहे शक्ति सौंप देंगे, एटली ने वेवल के स्थान पर लॉर्ड माउंटबेटन को भारत भेजने का निश्चय किया।

लॉर्ड माउंटबेटन 24 मार्च, 1947 को प्रचुर निर्णायक शक्ति प्राप्त कर भारत आए। माउंटबेटन को भारत का बंटवारा और पाकिस्तान की स्थापना आवश्यक लगी। उन्हें लगता था कि परिस्थितियां इतनी बिगड़ चुकी हैं कि आगे प्रतीक्षा करने से हानि होगी।

विचार-विनिमय के बाद 3 जून, 1947 को लॉर्ड माउंटबेटन ने भारत विभाजन की योजना रखी। इसमें संविधान सभा का कार्य जारी रखने को कहा गया। यह भी कहा गया कि यह संविधान उन पर लागू नहीं होगा, जो इसके इच्छुक नहीं हैं। दूसरे, पंजाब व बंगाल की विधान मंडल मुस्लिम और गैर-मुस्लिम ज़िलों के अनुसार बांटी जाएगी। तीसरे, बलूचिस्तान के लोगों को आत्मनिर्णय का अधिकार होगा। चौथे, पंजाब, बंगाल व सिलहट में संविधान सभा के लिए प्रतिनिधियों का चुनाव होगा और भारतीय राजाओं को संप्रभुता लौटा दी जाएगी।

इस पर भारतीय नेताओं ने अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त कीं। कांग्रेस और जिन्ना ने स्वीकृति दे दी, गांधी जी ने दुःख भरे शब्दों में कहा, 'भगवान मुझे और अपमान से बचाएं'। खान अब्दुल गफ़्फ़ार खां को यह सीमा प्रांत के लोगों के साथ विश्वासघात लगा। पुरुषोत्तमदास टंडन ने पाकिस्तान स्वीकार करने पर कांग्रेस की कटु आलोचना की।

संभवतः कांग्रेस के नेताओं ने पाकिस्तान की मांग को देश की अराजकता की ओर बढ़ती हुई परिस्थिति को ध्यान में रखकर स्वीकार किया। गोविंद बल्लभ पंत ने कहा—आज हमें पाकिस्तान अथवा आत्महत्या में से एक चुनना पड़ेगा। पटेल ने भी माना कि यदि इस प्रकार चलता रहा, तो हमें एक पाकिस्तान नहीं, कई पाकिस्तान बनाने पड़ेंगे।

इस प्रकार भारत को दो भागों में बांटने की योजना बन गई।

माउंटबेटन योजना की मुख्य शर्तें

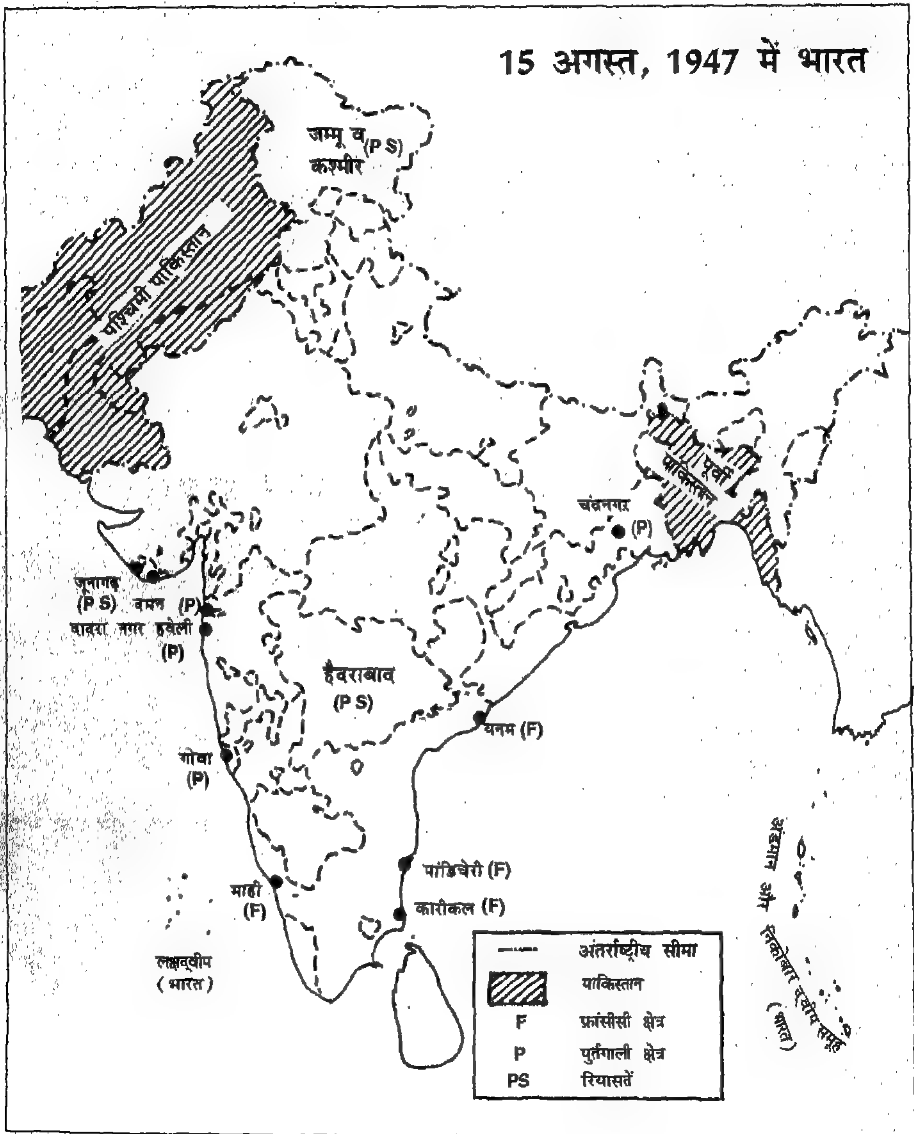
3 जून, 1947 की माउंटबेटन योजना भारतीय इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अतः इसकी मुख्य शर्तें जानना आवश्यक है। प्रथम, इसमें कहा गया कि ब्रिटिश सरकार 15 अगस्त, 1947 को भारत की सत्ता ऐसी सरकार को दे देगी, जिसका निर्माण जनता की इच्छा के अनुकूल हुआ हो। दूसरे, वर्तमान संविधान सभा में सरकार किसी प्रकार की बाधा नहीं डालेगी। तीसरे, संविधान को उन भागों में लागू किया जाएगा, जो उसे

स्वीकार करते होंगे। चौथे, इस योजना के अंतर्गत भारत को दो हिस्सों में बांट दिया जाएगा, भारतीय संघ और पाकिस्तान तथा दोनों को जून 1948 की बजाए 15 अगस्त, 1947 को आज़ादी दे दी जाएगी। पांचवें, यह तय किया गया कि बंगाल और पंजाब में विधान सभाओं के अधिवेशन दो भागों में किए जाएंगे। एक भाग में मुस्लिम बहुल ज़िलों के प्रतिनिधि होंगे और दूसरे में हिंदू बहुल ज़िलों के। प्रत्येक भाग बहुमत के आधार पर तय करेगा कि वे अपने प्रांत का विभाजन चाहते हैं अथवा नहीं। यदि बहुमत विभाजन के पक्ष में हो तो फैसला करना होगा कि वे वर्तमान संविधान सभा में मिलना चाहते हैं या एक अलग संविधान सभा का निर्माण करना चाहते हैं। छठे, सिंध की विधान सभा तय करे कि वह भारत की संविधान सभा में मिलना चाहती है अथवा नहीं। सातवें, असम के मुस्लिम बहुल प्रांत सिलहट ज़िले में इस बात का निर्णय जनमत संग्रह द्वारा किया जाएगा कि वहां की जनता असम में रहना चाहती है या पूर्वी बंगाल में। आठवें, बलूचिस्तान भी भारत संघ में रहेगा या अलग रहने का अधिकार चाहेगा। नवें, उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत में जनमत संग्रह द्वारा निर्णय होगा। दसवें, बंगाल, पंजाब और असम के ज़िलों के विभाजन और सीमा-निर्धारण का कार्य एक कमीशन करेगा। ग्यारहवें, भारत और पाकिस्तान राज्यों के बीच लेन-देन व विभाजन के लिए भी समझौता होगा। बारहवें, देसी रियासतों को भी भारत या पाकिस्तान में अपनी इच्छानुसार मिलने की छूट होगी और अंतिम, भारत और पाकिस्तान को राष्ट्रमंडल की सदस्यता छोड़ने का अधिकार होगा।

कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने आखिर माउंटबेटन की योजना को स्वीकार कर लिया। ब्रिटिश पार्लियामेंट ने 4 जुलाई, 1947 को भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम पास कर दिया जिसके परिणामस्वरूप 15 अगस्त, 1947 को भारतीय संघ और पाकिस्तान के रूप में दो अधिराज्यों का प्रादुर्भाव हुआ।

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम 1947

माउंटबेटन योजना को 18 जुलाई को ब्रिटिश सरकार ने विधिवत स्वीकृति दे दी। इस अधिनियम में कुल 20 धाराएं थीं। इनमें से कुछ प्रमुख धाराओं में बताया गया–प्रथम, 15 अगस्त, 1947 को भारत और पाकिस्तान नामक दो हिस्से बना दिए जाएंगे और ब्रिटिश सरकार उन्हें सत्ता सौंप देगी। दूसरे, दोनों हिस्सों का वर्णन किया गया और यह भी बताया कि बंगाल और पंजाब की विभाजन रेखा निश्चित करने के लिए आयोग के द्वारा एक सीमा निश्चित होगी। तीसरे, दोनों हिस्सों की संविधान सभाओं को शासन की सत्ता सौंपी जाएगी। इन्हें अपना संविधान बनाने का पूर्ण अधिकार होगा। चौथे, इन दोनों अधिराज्यों को अधिकार होगा कि वे ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के सदस्य रहें या उसे त्याग दें। पांचवें, दोनों के लिए एक अलग-अलग गवर्नर जनरल होगा जिसकी नियुक्ति उनके मंत्रिमंडल की सलाह से होगी। छठे, इन हिस्सों के विधान मंडल को कानून बनाने का अधिकार होगा। 15 अगस्त, 1947 के बाद ब्रिटिश सरकार का इन पर कोई अधिकार नहीं होगा और न ही उनका कोई कानून लागू होगा। सातवें, भारत मंत्री का पद समाप्त कर दिया जाएगा। आठवें, जब तक दोनों संविधानों का निर्माण हो तब तक दोनों हिस्सों और प्रांतों का शासन 1935 के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार चलेगा, परंतु इन पर गवर्नर जनरल, प्रांतीय गवर्नर का कोई विशेषाधिकार नहीं रहेगा। नवें, जब तक नए विधान के अनुसार चुनाव होंगे, वर्तमान प्रांतीय विधान मंडल कार्य करेंगे। दसवें, 15 अगस्त, 1947 से ब्रिटिश सरकार की देशी रियासतों पर से सर्वोच्चता समाप्त कर दी जाएगी। इसके पश्चात देशी रियासतें नवीन अधिराज्यों से अपने राजनीतिक संबंध स्थापित करने में स्वतंत्र होंगी। अब वे इच्छानुसार भारत और पाकिस्तान में मिल सकेंगी, अथवा स्वतंत्र रह सकती हैं। ग्यारहवें, भारतीय नागरिक सेवाओं के सदस्य अधिकारों को बनाए रखा जाए।



15 अगस्त, 1947 का भारत

अतः उपरोक्त स्वतंत्रता अधिनियम के द्वारा भारत और पाकिस्तान के रूप में दो अधिराज्यों की स्थापना हो गई। भारत में कांग्रेस के सुझाव पर स्वतंत्र भारत का प्रथम गवर्नर जनरल लॉर्ड माउंटबेटन को बनाया गया और पाकिस्तान में मुहम्मद अली जिन्ना पहले गवर्नर जनरल बने। भारत की देशी रियासतों से अंग्रेजों की सर्वोच्चता समाप्त हो गई। अधिकतर भारतीय रियासतों ने भारत में विलयीकरण चाहा। संविधान सभा का कार्य चलता रहा। देश के विभाजन के अनेक कटु परिणाम हुए। खून-खराबों और सांप्रदायिक दंगों का दौर प्रारंभ हुआ। भारत की संपत्ति का बंटवारा हुआ। दोनों देशों में तनाव की स्थिति हो गई, जिसके दूरगामी परिणाम हुए। सबसे दुखद घटना 30 जनवरी, 1948 को दिल्ली में हुई जब प्रार्थना सभा में जाते हुए महात्मा गांधी की नाथूराम गोड्से द्वारा हत्या कर दी गई।

अभ्यास प्रश्न

1. वेवल योजना क्या थी? लॉर्ड वेवल की भूमिका का महत्त्व एवं इस योजना की गतिविधियों एवं शिमला सम्मेलन पर प्रकाश डालिए।
2. कैबिनेट मिशन के उद्देश्यों का उल्लेख कीजिए। इससे किन लक्ष्यों की पूर्ति हुई?
3. माउंटबेटन योजना क्या थी, इसके मुख्य प्रावधान क्या थे ?
4. 1947 के भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम की मुख्य विशेषताओं पर विचार प्रकट कीजिए।
5. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए –

   (क) प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस

   (ख) पंडित जवाहरलाल नेहरू की अंतरिम सरकार

परियोजना कार्य

- 1935 और 1946 के मध्य भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के प्रमुख परिणामों को दर्शाते हुए एक सारणी बनाइए।

16
अध्याय

भारतीय संविधान का निर्माण और गोवा एवं पांडिचेरी की स्वतंत्रता

भारतीय संविधान का निर्माण

अभी तक यह भी निश्चित न था कि भारत का भावी राजनीतिक ढांचा क्या होगा। भारतीय संवैधानिक सभा का निर्माण 1946 में कैबिनेट मिशन प्लान के अंतर्गत हुआ था। डॉ. राजेंद्र प्रसाद इसके अध्यक्ष थे। संविधान सभा का उद्देश्य स्वतंत्र भारत के लिए एक संविधान का निर्माण करना था। संविधान सभा के अधिवेशन 9 दिसंबर, 1946 से 26 नवंबर, 1949 तक हुए। इस लंबे काल में इसके 11 अधिवेशन हुए, जिसमें 165 दिन लगे।

मूल संविधान 395 धाराओं, 22 भागों और 8 अनुसूचियों में विभक्त है, जिसमें बाद में अनेक संशोधन हुए।

संविधान के निर्माण में डॉ. बी.आर. अंबेडकर का योगदान सर्वोपरि रहा। उन्होंने विश्व का सबसे विस्तृत संविधान लिखा, जिसमें लगभग 90,000 शब्द हैं।

संविधान का निर्माण होने पर 26 नवंबर, 1949 को डॉ. राजेंद्र प्रसाद, अध्यक्ष, संविधान सभा ने उस पर हस्ताक्षर करते हुए दो बिंदुओं पर अवसाद प्रकट किया था कि भारत का संविधान मूल रूप से अंग्रेजी में है और इसमें किसी भी पद के लिए कोई भी शैक्षणिक योग्यता नहीं रखी गई है।

संविधान में भारत को एक प्रभुतासंपन्न प्रजातांत्रिक गणतंत्र घोषित किया गया। उद्देशिका के साथ-साथ इसमें 7 मूल अधिकारों और राज्यनीति के निदेशक तत्त्वों की घोषणा की गई। इस संविधान में संघीय कार्यपालिका का प्रावधान किया गया, जिसमें राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति व मंत्रिपरिषद् होगी। यह भी कहा गया कि प्रधानमंत्री, मंत्रिपरिषद् का मुखिया होगा, जिसकी नियुक्ति राष्ट्रपति करेंगे। संघीय संसद दो भवन वाली होगी, जिसको लोकसभा और राज्यसभा कहा जाएगा। संविधान में संसद की शक्तियों की विस्तृत चर्चा की गई। इसी तरह प्रांतों में विधान मंडलों की रचना संख्या के आधार पर की गई। उनमें गवर्नरों की नियुक्ति का प्रावधान किया गया। संविधान के अनुरूप एक उच्चतम न्यायालय की स्थापना की गई, जिसमें 25 न्यायाधीश होंगे। इसके ही आधार पर 26 जनवरी, 1950 को भारतीय संविधान लागू हुआ। डॉ. राजेंद्र प्रसाद देश के प्रथम राष्ट्रपति और पं. नेहरू प्रथम प्रधानमंत्री बनाए गए।



डॉ. राजेंद्र प्रसाद

अत: इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारत की पराधीनता समाप्त होते ही, इसे अनेक कठिनाइयों और विपत्तियों ने घेर लिया, परंतु भारतीय जनमानस ने एक-एक करके इनसे बाहर आने का मार्ग खोजा और इन पर विजय प्राप्त की।

स्वतंत्रता और तत्कालीन समस्याएं

15 अगस्त, 1947 को भारत देश स्वतंत्र हो गया, परंतु साथ ही कठिनाइयों और कष्टों का काल भी प्रारंभ हो गया। देश के विभाजन से भारत और पाकिस्तान में दंगों, हत्याओं और लूटमार का भयंकर दौर प्रारंभ हुआ। भारत को विरासत में मिला – बिखरा हुआ देश, लाखों की संख्या में शरणार्थी, जर्जर अर्थव्यवस्था, राजनीतिक अस्थिरता, अज्ञात भारत के भावी ढांचे का स्वरूप और अनेक समस्याएं।

देशी राज्यों का विलयीकरण

आज़ादी से पहले इन देशी रियासतों की संख्या 562 थी, जो संपूर्ण भारत के क्षेत्रफल का 48 प्रतिशत और जनसंख्या का 20 प्रतिशत था। इनमें कुछ राज्य जैसे कश्मीर, हैदराबाद और मैसूर इतने बड़े थे कि उनकी तुलना यूरोपीय महाद्वीप के कुछ देशों से की जा सकती थी। साथ ही कुछ राज्य इतने छोटे भी थे, जिनकी आमदनी एक सामान्य होटल से भी कम थी।

देशी रियासतें प्राय: अंग्रेज़ों की पक्षपाती रहीं। देशी रियासतों में राजकीय जागरण 1921 से प्रारंभ हुआ। 1926 में 'अखिल भारतीय देशी राज्य प्रजा परिषद्' का जन्म हुआ, जिसका पहला अधिवेशन एलौर के प्रसिद्ध नेता दीवान बहादुर एम. रामचंद्र राय की अध्यक्षता में 1927 में हुआ। 1934 में डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने रियासतों में उत्तरदायी शासन की बात कही। 1936 के बाद देशी रियासतों में जनांदोलन तेज़ी से बढ़ा। 1935 के अधिनियम में देशी रियासतों को मिलाकर एक संघ बनाने की बात कही गई। द्वितीय महायुद्ध हो जाने पर यह योजना खटाई में पड़ गई। आज़ादी से पूर्व कैबिनेट मिशन, लॉर्ड एटली की घोषणा और लॉर्ड माउंटबेटन की योजना में भी देशी राजाओं के बारे में विचार रखे गए और प्राय: कहा गया कि अंग्रेज़ों के चले जाने के बाद वे स्वतंत्र होंगे। उनकी इच्छा हो तो वे भारत या पाकिस्तान में सम्मिलित हों या स्वतंत्र रहें।

भारत के आज़ाद होते ही 562 राज्यों का यह बिखराव भी एक बड़ी विकट समस्या थी। 27 जून, 1947 को इसे हल करने के लिए भारत सरकार की देख-रेख में एक राज्य विभाग बनाया गया, जिसके अध्यक्ष सरदार वल्लभभाई पटेल बनाए गए। वस्तुत: यह उनकी कूटनीतिज्ञता और दूरदर्शिता का ही परिणाम था कि उन्होंने इस समस्या को सुलझाने का प्रयास किया। 5 जुलाई, 1947 को देशी राजाओं से उन्होंने अपील की कि वे विदेश विभाग, यातायात और सुरक्षा की ज़िम्मेदारी भारत को सौंप दें और शेष मामलों में वे स्वतंत्र रहेंगे। 40 दिन के अपने तूफानी दौरे अर्थात 5 अगस्त तक के काल में उन्होंने विभिन्न देशी राजाओं को भारत में मिलने के लिए तैयार किया। केवल हैदराबाद, जूनागढ़ एवं कश्मीर ने तब तक अपना फैसला न किया था। वास्तव में पटेल के एकीकरण का यह प्रयास विश्व के इतिहास में एक



सरदार वल्लभभाई पटेल

बेजोड़ मिसाल थी, निश्चित रूप से वह इस संदर्भ में जर्मनी के बिस्मार्क से कहीं अधिक ऊंचे, सफल और गहरे कूटनीतिज्ञ साबित हुए।

जूनागढ़ का शासक एक मुसलमान था और वहां की जनसंख्या अधिकतर हिंदू थी। फ़रवरी 1948 में आत्मनिर्णय के द्वारा जनमत ने भारत के साथ मिलने की इच्छा व्यक्त की। जूनागढ़ का नवाब पाकिस्तान भाग गया।

कश्मीर के प्रश्न पर पाकिस्तान से टकराव रहा। जून 1947 में लॉर्ड माउंटबेटन कश्मीर गए और उन्होंने वहां के महाराजा से विलय के बारे में शीघ्र आत्मनिर्णय पर ज़ोर दिया और जनमत संग्रह की बात भी कही। महात्मा गांधी भी महाराजा से मिले, परंतु अगस्त 1947 में पाकिस्तानियों ने कबाइलियों के वेष में जम्मू-कश्मीर में घुसपैठ करनी प्रारंभ की। 26 अक्टूबर को कश्मीर के महाराजा हरिसिंह ने अपने प्रधानमंत्री मेहरचंद महाजन को विलय के पत्रों पर हस्ताक्षर करके दिल्ली भेजा जो स्वीकृत कर लिए गए। लेकिन इसी बीच 21-22अक्टूबर, 1947 को पाकिस्तान ने पठान कबाइलियों सहित कश्मीर पर आक्रमण कर दिया और ये आक्रमणकारी श्रीनगर तक बढ़ गए। 26 अक्टूबर को महाराजा कश्मीर के कहने पर भारतीय सेनाओं ने 27 अक्टूबर को पाकिस्तान के आक्रमणकारियों को रोका और उन्हें पीछे खदेड़ते हुए जवाबी कार्यवाही की। भारत के प्रधानमंत्री पं. नेहरू ने पाकिस्तान की इस घुसपैठ के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् में अपील की। सुरक्षा परिषद् ने सोच-विचार में लंबा समय लिया। 13 अगस्त, 1948 को दोनों सेनाओं को युद्ध विराम करने, अपनी-अपनी सेनाएं हटाने और जनमत संग्रह करने को कहा। अभी तक लगभग एक तिहाई भूमि पर पाकिस्तान का अवैध कब्ज़ा है, जिसे वह आज़ाद कश्मीर के नाम से पुकारता है।

इसी तरह हैदराबाद का निज़ाम भी निर्णय न लेकर सीधे ब्रिटिश साम्राज्य के साथ सांठ-गांठ कर एक स्वतंत्र राज्य का स्वप्न देख रहा था। उसकी पाकिस्तान से भी गुप्त वार्ताएं चल रही थीं। अक्टूबर 1947 में उसके साथ भी एक विशेष समझौता किया गया, जिसमें उसे एक वर्ष तक यथावत स्थिति रखने की बात कही गई, लेकिन उस पर किसी भी प्रकार की सैन्य वृद्धि या बाहरी मदद लेने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। निज़ाम की कुटिल चालें चलती रहीं और उसने पाकिस्तान से हथियार मंगवाए तथा रज़ाकारों की मदद से मनमानी करनी चाही। सितंबर 1948 में उसे चेतावनी भी दी गई। न मानने पर 13 सितंबर, 1948 को हैदराबाद में कार्यवाही की गई और पांच दिन में न केवल रज़ाकारों को खदेड़ दिया गया, बल्कि निज़ाम ने भी विलय-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिए। निज़ाम को कुछ विशेष सुविधा देते हुए वहां का राज प्रमुख बना दिया गया।

हिंदू-मुस्लिम दंगे और विस्थापितों की समस्या

विश्व में एक स्थान से दूसरे स्थान पर व्यक्तियों का गमन बहुत पहले से है। लेकिन भारत के विभाजन से भारत की जनसंख्या में हुई अदला-बदली विश्व इतिहास में एक अनूठा और वीभत्स प्रयोग था। दुनिया के इतिहास में कभी भी जनसंख्या का इतना बड़ा अदल-बदल इससे पूर्व नहीं हुआ था। ये आस्ट्रेलिया की दुगुनी जनसंख्या और कनाडा की कुल जनसंख्या को मिलाकर करने से भी अधिक था। इससे पूर्व 1923 में लोसान (Laussane) की संधि में ग्रीक व टर्की में जनसंख्या की अदला-बदली हुई थी, जो अधिक-से-अधिक एक लाख पच्चीस हज़ार की थी और जिसे बदलने में 18 महीने लगे थे, जबकि भारत पाकिस्तान में लगभग एक करोड़ बीस लाख जनसंख्या का आवागमन हुआ और जिसको केवल तीन महीने में किया गया। एक अन्य आंकड़े के अनुसार 49 लाख भारतीय पश्चिमी पाकिस्तान से और 25 लाख पूर्वी पाकिस्तान (बंगलादेश) से उजड़ कर आए।

> भारत का विभाजन आधुनिक भारतीय इतिहास का एक अत्यन्त विवादास्पद विषय है। जहां एक विचारधारा भारत के विभाजन को ब्रिटिश साम्राज्य की 'बांटो और राज करो' की नीति की परिणति मानती है, वहीं दूसरी विचारधारा इस विभाजन को मुस्लिम लीग द्वारा समर्थित 'द्विराष्ट्र' के सिद्धांत के परिणाम के रूप में चित्रित करती है। कुछ अन्य इतिहासकार विभाजन पूर्व के कुछ संभावित या आकस्मिक कारणों की भूमिका को विभाजन के लिए उत्तरदायी मानते हैं।

स्वाभाविक रूप से इस जनसंख्या परिवर्तन से भयंकर रक्तपात, खून-खराबा और सांप्रदायिक दंगे हुए। सामूहिक हत्याएं, लूट, अपहरण, बलात्कार की हज़ारों घटनाएं हुईं। बंगाल में नोआखली, यूनाइटेड प्रोविंसिस में गढ़मुक्तेश्वर और पंजाब में लाहौर, रावलपिंडी, मुल्तान, अमृतसर तथा गुजरात में भयंकर लूटमार हुई। अनेक लोग मारे गए। 150 करोड़ से अधिक की संपत्ति की हानि हुई।

अदला-बदली के साथ विस्थापितों की समस्या भी विकराल रूप में खड़ी हुई। अनेक सहायता केंद्र खोले गए। पुनर्वास की योजनाएं बनीं। मकान, दुकान, व्यवसाय, रोज़गार और छोड़ी गई संपत्ति और बदले में उसकी व्यवस्था जैसी अनेक समस्याओं से सरकार जूझती रही। यह समस्या मुख्यतः 1956 तक चलती रही।

जर्जरित आर्थिक ढांचा और विकास

अगस्त 1947 में अंग्रेज भारत से गए। भारत की अर्थव्यवस्था शताब्दियों के आर्थिक लूट और शोषण से पहले ही लड़खड़ा रही थी और पाकिस्तान के निर्माण से वह अनेक प्राकृतिक साधनों से वंचित हो गई। भारत एक निर्धन देश बन गया और इसकी प्रति व्यक्ति आय विश्व के निम्नतम देशों में से थी। इसे 1948 में 246 रुपया प्रति व्यक्ति माना गया है, जो ब्रिटेन की आय का कुल 10 प्रतिशत और अमेरिका का केवल 5 प्रतिशत थी।

पाकिस्तान के निर्माण से आर्थिक असंतुलन हो गया और उद्योग, व्यापार, कृषि अत्यधिक प्रभावित हुए। आर्थिक क्षेत्र का विभाजन असंतुलित ढंग से किया गया। पाकिस्तान को रुई उत्पादन का 40 प्रतिशत क्षेत्र, जूट उत्पादन का 85 प्रतिशत क्षेत्र और गेहूं उत्पादन का 40 प्रतिशत क्षेत्र मिला, जबकि इनकी मुख्य मिलें और कारखाने भारत के हिस्से में थे। अतः भारत में कच्चे माल का अभाव हो गया, जिससे वस्त्रोद्योग और अन्न की कमी हो गई। 1947-48 के भारत-पाक संघर्ष ने भारतीय व्यापार को भी बुरी तरह प्रभावित किया। विस्थापितों के आर्थिक झगड़ों ने इसमें और कटुता ला दी। परस्पर सिंचाई और यातायात व्यवस्था के टूटने से गंभीर परिणाम हो रहे थे। अतः 1949 में महायुद्ध के काल से उद्योगों में लगभग 30 प्रतिशत की कमी हो गई।

उत्पादन के कम होने से बेकारी, बेरोज़गारी तेज़ी से बढ़ी। उदाहरणतः पूर्वी पंजाब में 1946-47 व 1947-48 के दौरान औद्योगिक कर्मचारियों की संख्या 1/3 कम हो गई। इसके साथ ही अभी तक भारत के विभिन्न उद्योगों में विदेशी पूंजी भी बहुतायत में थी। भारत की आर्थिक व्यवस्था उखड़ी हुई थी, जिसमें आंतरिक विकास और बाहरी देश से अपनी आर्थिक नीति की दिशा का निर्धारण करना ही था। इसके लिए आर्थिक नियोजन के कई प्रकार के सुझाव सम्मुख आए।

1948 में भारत की आर्थिक नीति की घोषणा की गई, जिसमें कई योजनाएं रखी गईं। इसमें दो योजनाएं उल्लेखनीय हैं। प्रथम योजना श्री जयप्रकाश नारायण द्वारा जनवरी 1950 को रखी गई 'सर्वोदय योजना' थी, जिसका उद्देश्य अहिंसा के मार्ग से शोषण रहित समाज का निर्माण करना बताया गया। इसमें आय व संपत्ति की असमानता को दूर करने, भूमि का पुनः बंटबारा, सरकारी खेती, उद्योगों का समाज द्वारा संचालन और विदेशी लाभ कमाने वाले प्रतिष्ठानों पर नियंत्रण रखना बताया गया। आय का 50 प्रतिशत ग्राम पंचायतों द्वारा और 50 प्रतिशत शासन द्वारा प्राप्त करने का प्रस्ताव रखा गया। जनवरी 1950 में ही संयुक्त राष्ट्रमंडल की राष्ट्रीय सरकारों का एक सम्मेलन कोलंबो में हुआ।

भारत के योजना आयोग के अध्यक्ष पं. जवाहरलाल नेहरू स्वयं थे। भारत के आर्थिक विकास के लिए पहली पंचवर्षीय योजना रखी गई। यह योजना सरकारी रूप से स्वीकृत हो गई। 1 अप्रैल, 1951 से 31 मार्च, 1956 तक पहली योजना बनी। ऐसी नौ योजनाएं पूरी हो चुकी हैं और दसवीं योजना चल रही है। इन योजनाओं का उद्देश्य आत्मनिर्भरता, राष्ट्रीय आय की बढ़ोतरी, प्रति व्यक्ति आय में बढ़ोतरी, आर्थिक रोज़गार, कल्याण कार्य और समाजवादी समाज की स्थापना तय किया गया। देश की आर्थिक उन्नति के लिए ये योजनाएं महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन अभी अपेक्षित परिणाम नहीं आ पाए हैं।

भारतीय संविधान की मुख्य विशेषताएं

भारतीय संविधान की उद्देशिका

भारतीय संविधान की अनेक विशेषताएं हैं। इनमें सर्वप्रमुख है इसकी उद्देशिका जो भारतीय संविधान की मूल भावना, स्वरूप और दिशा का स्पष्ट संकेत देती है। उद्देशिका भारतीय संविधान का उद्देश्य और इसकी भावी रूपरेखा का चित्र बताती है। इसकी उद्देशिका इस प्रकार दी गई है –

"हम, भारत के लोग, भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्वसंपन्न, समाजवादी, लोकतंत्रात्मक, पंथ-निरपेक्ष, गणराज्य बनाने तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समानता प्राप्त कराने के लिए तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखंडता सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए दृढ़संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज 26 नवंबर, 1949 को इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"

उपरोक्त संविधान की उद्देशिका को ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि इसका प्रत्येक शब्द बहुत चिंतन, मनन के बाद इसमें जोड़ा गया --

1. इसे संपूर्ण प्रभुत्वसंपन्न राष्ट्र कहा गया, जिसकी प्रभुता भारतीय लोगों में निहित है। इसका अर्थ है कि यह किसी भी बाहरी और आंतरिक दबाव से मुक्त है, यह अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी इच्छानुसार कार्य करने में पूर्णतः स्वतंत्र है।
2. इसे समाजवादी माना गया है। संविधान सभा में इस प्रश्न पर गंभीर वाद-विवाद हुआ। अनेकों का मत था कि इससे विवाद बढ़ेंगे। 42वें संवैधानिक संशोधन में संविधान की उद्देशिका में भारत को

'समाजवादी राज्य' घोषित किया गया। परंतु मार्च 1977 में पुनः संशोधन हुआ, जिसमें 44वें संशोधन द्वारा समाजवादी शब्द रहने दिया गया। परंतु इसका अर्थ सभी प्रकार के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक शोषण से मुक्ति दिलवाना बताया गया। अतः यहां समाजवाद का अर्थ यूरोपीय देशों में प्रचलित शब्द से भिन्न है।

3. इसे पंथनिरपेक्ष कहा है। इसके बारे में यह ध्यान रहना चाहिए कि उक्त शब्द 1976 में आपातकाल के दौरान संविधान में संशोधन करके जोड़ा गया है। मूल संविधान में यह न था। अंग्रेज़ों के सेकुलर राज्य का हिंदी अर्थ पंथनिरपेक्ष माना गया है न कि धर्मनिरपेक्ष।
4. इसे लोकतांत्रिक माना गया है, जिसमें इसके चार मूल तत्व – न्याय, स्वतंत्रता, समानता और भातृत्व की बात कही है, जो इसके मूल उद्देश्य हैं, जिसे मूल अधिकार और राज्यनीति के निदेशक तत्वों के अध्यायों में विस्तृत रूप से बताया गया है।
5. इसका स्वरूप गणराज्य माना गया है। इसमें राष्ट्रपति का पद पैतृक या वंशानुगत नहीं माना गया, बल्कि उसका निर्वाचन जनता के प्रतिनिधियों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से 5 वर्ष के लिए होना है।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि भारत के संविधान की उद्देशिका स्पष्ट रूप से भारत की भावना और आकांक्षा का दर्पण है।

राज्यनीति के निदेशक तत्त्व

मूल अधिकारों की भांति संविधान के भाग चार में राज्यनीति के निदेशक तत्त्वों का विवेचन किया गया है। इससे संबंधित अनुच्छेद क्रमांक 36 से 51 तक हैं। वास्तव में ये निदेशक तत्त्व केंद्र और राज्यों के लिए हैं। इसमें आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तत्त्वों को स्पष्ट करते हुए कल्याणकारी राज्य की स्थापना पर प्रकाश डाला गया है।

इन तत्त्वों में आजीविका के लिए पर्याप्त साधनों, पुरुष व स्त्रियों को समान कार्य के लिए समान वेतन, राज्य द्वारा 14 वर्ष तक की आयु के लिए निःशुल्क शिक्षा, दूध देने वाले पशुओं विशेषकर गाय की हत्या पर रोक, ऐतिहासिक वस्तुओं की सुरक्षा की व्यवस्था, ग्राम पंचायतों की स्थापना, कृषि व पशुपालन का आधुनिकीकरण,कार्यपालिका व न्यायपालिका को अलग करना, हरिजनों, पिछड़ी जातियों व जनजातियों के लिए कानून, नशाबंदी करवाना, कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन, वृद्धावस्था, बीमारी व विकलांग होने पर सहायता देने के निर्देश दिए गए हैं।

इसके अलावा इसमें समान न्याय व निःशुल्क कानूनी सहायता, नागरिकों के लिए एक समान सिविल संहिता, लोक स्वास्थ्य को सुधारना, पर्यावरण का संरक्षण व सुधार और वन्य जीवों की रक्षा, अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा की अभिवृद्धि के लिए भी तत्त्वों का समावेश किया गया है।

इसके साथ ही भारत के प्रत्येक नागरिक के लिए अनुच्छेद 51 क में कुछ मूल कर्तव्यों का भी विवेचन किया गया। परंतु उल्लेखनीय है कि नीति निदेशक तत्त्वों का पालन करवाने के लिए कोई भी नागरिक न्यायालय के माध्यम से सरकार को मजबूर नहीं कर सकता है। वस्तुतः ये राज्यों के कानूनी निदेशक तत्त्व नहीं, बल्कि राज्यों के नैतिक कर्तव्य बतलाए गए हैं। निश्चय ही उपरोक्त नीति निदेशक तत्त्व किसी भी केंद्र अथवा राज्य सरकार के पथ-प्रदर्शक तत्त्व हैं। वे राष्ट्र अथवा राज्य की उन्नति करने में बड़े सहायक हैं, जिनके माध्यम से लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना में सहायता मिलती है।

वयस्क मताधिकार पर आधारित गणतंत्र

भारतीय संविधान की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता इसमें प्रत्येक स्त्री-पुरुष के मतदान का समान अधिकार है। इसके द्वारा सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व को समाप्त कर मूलतः 21 वर्ष या उससे अधिक आयु के प्रत्येक

नागरिक को मतदान का अधिकार दिया गया। अब यह आयु 18 वर्ष हो गई है। मताधिकार प्राप्ति के लिए इंग्लैंड जैसे देशों को लगभग 100 वर्ष (1832-1928) तक संघर्ष करना पड़ा था। प्रो. श्रीनिवास का कथन सही है, 'सांप्रदायिक चुनाव पद्धति की समाप्ति और वयस्क मताधिकार का प्रारंभ नए संविधान की महान और क्रांतिकारी विशेषता है।'

सामाजिक न्याय

भारतीय संविधान में केवल राजनीतिक न्याय को पर्याप्त नहीं माना गया, बल्कि सामाजिक न्याय की बात भी कही गई। अनुच्छेद 38 में कहा गया है कि 'राज्य ने ऐसी सामाजिक व्यवस्था की, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे, भरसक कार्यसाधक रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक-कल्याण की उन्नति का प्रयास करे।

इसमें 39 क अनुच्छेद में समान न्याय और निःशुल्क कानूनी सहायता की बात कही गई। इसमें सामाजिक न्याय दिलाने की दृष्टि से अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य दुर्बल वर्गों को शिक्षा और अर्थ संबंधी हितों की अभिवृद्धि के लिए कहा गया है। राज्य को निर्देश दिए गए हैं कि वे देखें कि सभी प्रकार के सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के शोषण से उनका संरक्षण हो।

धर्म, समता और विचारों की स्वतंत्रता

भारतीय संविधान के मूल अधिकार और राज्य के नीति निदेशक तत्त्वों में इस संदर्भ में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। मूल अधिकारों में धर्म, समता, स्वतंत्रता के अधिकारों, शोषण के विरुद्ध अधिकार, सांस्कृतिक और शिक्षा संबंधी अधिकारों की चर्चा की गई है। संविधान की उद्देशिका में भी धर्म, विश्वास और उपासना की स्वतंत्रता को मान्यता दी गई है।

सभी धर्मों की उपासना को समान माना गया है और किसी भी विशिष्ट धर्म को प्रमुखता नहीं दी गई। वस्तुतः इसके द्वारा भारत की प्राचीन परंपरा, समधर्म समभाव की अभिव्यक्ति की गई है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार धार्मिक उपासना, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता है। किसी भी धर्म या संप्रदाय का व्यक्ति अपने विद्यालयों की स्थापना कर सकता है। किसी भी अल्पसंख्यक समुदाय के लोग भी अपने धर्म और भाषा के विकास के लिए अपनी संस्थाएं खोल सकते हैं। किसी भी सरकार द्वारा संचालित विद्यालयों में सभी धर्मों और भाषा के लोगों के प्रवेश को पूर्ण स्वतंत्रता दी गई। अतः केंद्र या राज्य को नागरिकों के धार्मिक जीवन में किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप का अधिकार नहीं हो सकता, परंतु देश की सुरक्षा, समान हित और नागरिकों की उन्नति के लिए राज्य धार्मिक मामले में दखल दे सकता है।

भारतीय संविधान की उद्देशिका, मूल अधिकारों की विवेचना और राज्यनीति के निदेशक तत्त्वों में समता के अधिकार को बहुत महत्त्व दिया गया है। सामाजिक क्षेत्र में नागरिकों के समता के सिद्धांत का संविधान के अनुच्छेद 14 से 18 में विवेचन किया गया है। इसमें धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग या जन्म-स्थान के आधार पर विभेद को अस्वीकार किया है। राज्य के अधीन किसी पद पर नियोजन या नियुक्ति से संबंधित विषयों में सभी नागरिकों के लिए अवसर की समता को माना गया है। अस्पृश्यता का अंत कर दिया गया है। इसमें कहा गया है कि 'अस्पृश्यता से उपजी किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा, जो विधि के अनुसार दंडनीय होगा।' राज्य, सेना या विद्या संबंधी किसी सम्मान के अतिरिक्त अन्य उपाधियों का अंत कर दिया गया है।

भारतीय संविधान में वाक्-स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार दिया गया है। नागरिकों को शांतिपूर्ण सम्मेलन करने, संघ बनाने, भारत के किसी भाग में निवास करने या बस जाने या कोई भी आजीविका या व्यापार करने का अधिकार दिया गया है।

पांडिचेरी और गोवा की मुक्ति

1947 में भारत की स्वतंत्रता के पश्चात विदेशी सत्ता के अब भी दो अवशेष रह गए थे। ये थे पांडिचेरी और गोवा। पांडिचेरी अभी भी फ्रांस का एक छोटा-सा उपनिवेश था। पांडिचेरी भारत में फ्रांसीसियों के अधिकार-क्षेत्र में रहे इलाकों का एक भाग था। अन्य भाग थे – कारीकल, माही, यनम और चंद्रनगर। चंद्रनगर जनमत संग्रह द्वारा स्वतंत्र भारत में मिल गया था। परंतु पांडिचेरी पर फ्रांसीसी शासन था। भारत की अन्य रियासतों की भांति यहां के लोगों ने भी स्वतंत्रता के लिए प्रयास किए। 1946 में पांडिचेरी में 'फ्रैंच इंडियन नेशनल कांग्रेस' और 'फ्रैंच इंडियन स्टुडेंट्स कांग्रेस' की स्थापना हुई थी। इसके अलावा कुछ अन्य छोटे-छोटे दल भी बने। इन सभी ने पांडिचेरी को फ्रांसीसियों से मुक्त कर भारत में विलय करने की इच्छा प्रकट की। कई बड़ी-बडी सभाएं कीं। फ्रांस की सरकार ने दमन का सहारा लिया, परंतु सरकार को सफलता न मिली।

भारत के स्वतंत्र होने पर पांडिचेरी की जनता का आक्रोश बढ़ता गया। सरकार ने मीटिंग करने पर प्रतिबंध भी लगाए। 1948 में एक बड़ा जन-सम्मेलन हुआ। भारत सरकार ने भी फ्रांस की सरकार से बातचीत की। 1954 में जनता के संघर्ष के फलस्वरूप सरकार के अधिकार-क्षेत्र में रहे कुछ इलाकों में स्वतंत्रता घोषित कर दी। उदाहरणतः यनम (आंध्र प्रदेश) 13 जून, 1954 को स्वतंत्र घोषित किया गया। परिणामस्वरूप फ्रैंच सरकार को भी झुकना पड़ा था। उसने भारत की सरकार से वार्ता की। 31अक्टूबर, 1954 को व्यावहारिक रूप से भारत में फ्रैंच क्षेत्र भारत को सौंप दिए गए। पुनः दो वर्ष बाद सभी पांचों क्षेत्रों पर भारत का नियंत्रण हो गया। कानूनी रूप से पूर्ण हस्तांतरण 1962 में हुआ। भारत सरकार ने इसे एक केंद्र शासित क्षेत्र बनाया। आज इसका क्षेत्रफल 492 वर्ग किलोमीटर है और इसकी कुल जनसंख्या 9,73,829 है और यहां की 45 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर आधारित है।

इसी भांति दूसरा प्रमुख क्षेत्र गोवा, दमन, दीव था, जो आज़ादी के समय भी पुर्तगाली उपनिवेश था। पुर्तगालियों का गोवा पर 1510 से, दीव पर 1546 और दमन पर 1559 से आधिपत्य था। दादरा और नगर हवेली मिलाकर यह सारा क्षेत्र गोवा कहलाता था।

स्वतंत्रता के बाद भी यहां पुर्तगाली सरकार का कठोर नियंत्रण था। वे इस पर अपना आधिपत्य बनाए रखना चाहते थे। भारत सरकार ने पुर्तगाली सरकार से गोवा छोड़ने का आग्रह किया। इसके लिए पुर्तगाल की राजधानी लिस्बन में एक भारतीय कार्यालय भी खोला। परंतु पुर्तगाली सरकार के कठोर रवैए के कारण 11 जून, 1953 को इसे बंद करना पड़ा था। स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए सभी राजनीतिक दलों की गोवा मुक्ति सेना बनी। कई प्रदर्शन किए गए। 18 जून, 1954 का सत्याग्रह महत्त्वपूर्ण था, जिसमें तिरंगा झंडा लहराने पर कुछ सत्याग्रहियों को गिरफ्तार भी किया गया, परंतु पुर्तगाली सरकार ने अभी भी अपनी हठधर्मिता को न छोड़ा। तत्कालीन भारत के राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने गोवा की मुक्ति में विशेष रुचि ली। 22 जुलाई को दादरा व नगर हवेली पर गोवा मुक्ति आंदोलनकारियों का अधिकार हो गया। पूना में महाराष्ट्र के नेताओं की एक समिति भी बनी, जिसके अध्यक्ष केशवराव जेधे और मंत्री एन. जी. गोरे थे। 15 अगस्त, 1955 को अनेक भारतीय भी गोवा, दमन, दीव में घुसे। इस प्रदर्शन में काफी संख्या में प्रदर्शनकारी मारे गए। तत्कालीन भारत के प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने इस क्रूर और असभ्य व्यवहार की आलोचना की। भारत में भी इसके विरुद्ध जगह-जगह पर जनाक्रोश, प्रदर्शन और सभाएं हुईं। नवंबर 1961 में पुर्तगाली शासकों ने 'एस. एस. साबरमती' नामक जलयान के एक सदस्य को घायल कर दिया और एक मछुआरे की हत्या कर दी। आखिर भारत सरकार

ने गोवा की स्वतंत्रता के लिए 'ऑपरेशन विजय' किया। यह सामरिक कार्यवाही 17, 18 दिसंबर, 1961 को जनरल जे. एम. चौधरी के नेतृत्व में की गई और 19 दिसंबर तक पूरी हुई। इस तरह से भारतीय सेना ने गोवा, दमन, दीव को मुक्त करा दिया। प्रारंभ में इसे केंद्र शासित क्षेत्र बनाया गया परंतु, बाद में 12 अगस्त, 1987 को गोवा को पूर्ण राज्य का दर्जा देकर भारतीय संघ का पच्चीसवां राज्य बना दिया गया।

अभ्यास प्रश्न

1. भारतीय रियासतों के भारतीय संघ में समन्वय की प्रक्रिया का उल्लेख कीजिए।
2. 1950 के भारतीय संविधान की प्रस्तावना की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. 15अगस्त, 1947 के बाद भी भारत के कौन-से भाग विदेशी शासन के अधीन थे ? ये भाग भारत की स्वतंत्रता के पश्चात किस प्रकार स्वतंत्र हुए?
4. सरदार वल्लभभाई पटेल ने भारतीय रियासतों को भारतीय संघ में मिलाने में क्या योगदान दिया?
5. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए –

   (क) डा. राजेंद्र प्रसाद

   (ख) भारतीय संविधान की रूपरेखा

   (ग) पंचवर्षीय योजनाएं

   (घ) सामाजिक न्याय

परियोजना कार्य

- भारत के मानचित्र पर उन क्षेत्रों को दर्शाइए, जो 1947 तक पुर्तगालियों एवं फ्रांसीसियों के अधीन थे।

शब्दावली

अंजुमन	:	समिति या संस्था
उलेमा	:	मुस्लिम विद्वानों का एक वर्ग जो इस्लाम के पवित्र नियमों और उसके धर्म-शास्त्रों में पारंगत हो।
चौथ	:	मराठा सरकार द्वारा लिए जाने वाले राजस्व या कर का एक चौथाई हिस्सा
ज़मींदार	:	ज़मीन का स्वामी, सरकार की ओर से कृषकों से राजस्व इकट्ठा करने वाला
जागीरदार	:	जागीर का स्वामी
तंजीम	:	संगठन
तबलीग	:	धर्मांतरण
ताल्लुकदार	:	छोटा ज़मींदार
दारुल हरब	:	एक गैर-मुस्लिम देश
दीवान	:	प्रांत या रियासत का प्रमुख राजस्व अधिकारी
द्विराष्ट्रवाद	:	दो राष्ट्रों का सिद्धांत
द्वैध शासन	:	दोहरा शासन या दो स्वतंत्र निकायों द्वारा चलाई जाने वाली सरकार
धन का निष्कासन	:	उपनिवेश से साम्राज्यवादी राष्ट्र की तरफ़ निरंतर एकतरफ़ा संपत्ति का स्थानांतरण
नवाब	:	मुगलकालीन अर्धस्वतंत्र सूबों का प्रबंधक
नायब सूबेदार	:	सहायक सूबेदार
निज़ाम	:	हैदराबाद के वंशानुगत राजा की उपाधि
निज़ामत	:	फ़ौजदारी न्यायालय
पंचायत	:	भारतीय गांव में पांच सदस्यों की एक समिति
पुनर्जागरण	:	19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और 20वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में सामाजिक तथा सांस्कृतिक जागृति का काल
पेशवा	:	शिवाजी के अष्ट प्रधानों में से एक प्रमुख
पैन इस्लामवाद	:	सर्वत्र इस्लाम धर्म का प्रचार तथा प्रभाव कायम करने का प्रयास
प्रांतीय स्वायत्तता	:	ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत उपनिवेशों में आंतरिक मामलों के लिए स्वशासन की व्यवस्था
फ़रमान	:	आदेश
बहुराष्ट्रीयता	:	अनेक राष्ट्रों का सिद्धांत
भत्ता	:	वेतन के अतिरिक्त आय
मनसब	:	मुगल अधिकारी को दिया गया पद या ओहदा
मनसबदार	:	मनसब का अधिकारी

मीर बख्शी	:	मुगल काल में सेना का प्रमुख
राष्ट्रमंडल	:	ब्रिटेन तथा ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत रहे राष्ट्रों के समूह की अंतर्राष्ट्रीय संस्था
रेज़ीडेंट	:	भारतीय रियासतों के दरबार में गवर्नर जनरल का प्रतिनिधि
रेज़ीडेंसी	:	भारतीय रियासतों में गवर्नर जनरल के प्रतिनिधि का सरकारी मकान
रेजीमेंट	:	पल्टन
लैफ्टिनेंट कर्नल	:	एक प्रमुख सेनाधिकारी
लैफ्टिनेंट गवर्नर	:	भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान प्रांतों में प्रशासन का प्रमुख
सती	:	वह महिला जो अपने पति की चिता के साथ स्वयं भी जल जाती है
सनद	:	अनुबंध जिसमें अधिकारों और कर्तव्यों का ब्यौरा हो
सरदेशमुखी	:	कर का दसवां भाग जो कि शिवाजी ने यह कहकर लिया कि वह वंशानुगत सरदेशमुख (ग्राम प्रमुख) हैं
सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व	:	धर्म के आधार पर केंद्रीय व प्रांतीय विधान सभाओं में चयन या मनोनयन
सूबेदार	:	मुगल सूबे या प्रांत का गवर्नर, ब्रिटिश काल में एक भारतीय अधिकारी
स्वराज्य	:	स्वशासन, स्वतंत्रता

required by maize is useless to oats and also conditions where warmth and dryness prevail together.

A study of the charts will tell why the U.S.S.R. is the world's greatest grower. Sowing in late April affords an ample growing season for three months followed by a short warm period for harvesting. There is also plentiful rainfall. In our country the charts indicate good wheat conditions, but in the west where there is too much rain and in Scotland where the temperature is also too low, oats flourish exceedingly. It will also be noticed that the wetter states of the U.S.A. are great oats growers and also the regions of poor soil in France and Germany.

In the picture are familiar scenes from the oats country and a busy dockside with the grain already sacked waiting to be lowered by a crane into a ship's hold. The milling by which the rolled oats for porridge and the meal for cakes and biscuits is obtained, is usually performed at the port of Landing. It should be noted that all the oats imported into England come from America.

93. Geographical Chart—Rice Production. (*Vol. VIII., p. 492.*) Rice is the staple food of southern and eastern Asia. From the preceding charts the children now understand that each cereal demands its own particular climate and soil. They might give reasons why certain regions are unsuitable for these grains; e.g., there is too much or too little rain, rain does not fall at the right season and the season for growth is too short or too cool. This map shows the cultivated areas to be regions mainly of great heat and heavy rainfall. River valleys or deltas can be associated in each case and

the conclusion will be that rice is a grain peculiarly fitted for hot, swampy lands. It may be noticed that in certain countries, northern Italy for example, climatic conditions are not the same as those along the river Ganges although rice is shewn as a product. This could lead to talks on the importance of the grain causing the use of irrigation in order to provide the water necessary for the development of the plant.

The graphs indicate very clearly the great heat and torrential rains such as are brought by the S.W. monsoon that together make the Ganges valley ideal for rice cultivation. A temperature of from 60° to 80° F., is necessary during the growing period and a minimum of 50 ins. of water during the year. The enormous quantity grown in China and in India show not only the great productiveness of the plant, 70 bushels to the acre, but also the density of the population dependant upon it. In proportion to this huge supply, little is imported into England as wheat is the main bread food of western peoples.

In the picture, the primitive methods of the native farmer that still exist, can be seen. The use of the water buffalo for field work, the rude waggon, the palm trees and the employment of native labour for loading the ship all indicate the character of the rice producing region. An interesting point is the suggestion of the Taj Mahal in the distance.

94. The Line of a Vase. (*Vol. V., p.* 424). This Plate illustrates how children can make a simple curve for a vase. Suppose we wish our vase to be 6 in. high. An opening at the top 2 in. across will be about right for the bunches of flowers. What size shall we make

the vase at the bottom? Our first aim is to keep things simple, therefore, we do not want to add another size if we can avoid it, so we will try making the bottom and top the same size, 2 in. That gives us a simple framework on which to draw our vase. Notice that two is a third of six, so that our sizes are already definitely related.

The first picture shows the framework of pencil lines. Now draw curves which join the top and bottom points on either side, like Fig. 1. If compasses are used to draw the curves, the point of the compass would be on the centre line that goes across the page.

Now let us try another shape on the framework. With compasses extended to $1\frac{7}{8}$ in. move the point on the upright middle line until the radius touches the top corners A and B, and draw parts of a circle on each side. With a straight edge draw lines joining these radii with points at the bottom. Fig. 2 is exactly the same as Fig. 3, only the curves are at the top instead of at the bottom. For Figs. 4 and 5 we have only put convex curves in place of the straight lines; and for Fig. 6 draw concave curves. Fig. 6, when turned up the other way, shows a conventional Oriental shape. All these shapes should be cut out in paper by the children.

Measurements are given to ensure some sort of uniformity. Let the children draw the curves and shapes by eye alone. Teach them to use the scissors for cutting and their hands for modelling. Encourage them to make large curves with the arm at full length, using the shoulder as a radius. Pivot at the elbow and wrist to make smaller curves.

95. Proportion. (*Vol. V.*, p. 426). The curved sides of the vase shapes which are here shown down the left-hand side of the Plate are exactly the same shapes that were drawn for the last Class Picture only here they are reduced in size.

It is important to realise that directly the general proportion is altered it is necessary to alter the curves to suit the new proportion.

Let us take the first three shapes. Suppose it is decided to make vessels more square in general proportion. The former vases were all 6 in. in height. We draw exactly the same curves with more material between them, until we have shapes 6 in. wide as well as high. The result is seen in the three middle examples, 2A, 4A, 6A. They look rather dull, heavy, cumbersome shapes. We feel immediately the need for rounder, fuller and more generous curves in order to get more feeling of life into the shapes. The examples shown to the right of these—2B, 4B, 6B,—show something of the sort of curves and shapes at which we should aim. In these we have necessarily had to reduce the size of the base and also the opening in the top of each vase, but our shapes have ample stability and sufficiently wide mouths, so we find that with *more* material and squarer shapes, we must use fuller and more generous curves.

Let us see what happens if we use *less* material, as shown in the diagrams at the foot of the Plate.

We have only to draw the original curves (as in Figs. 5 and 6) closer together to make a vase half the width of these, to find that the shapes have not sufficient base on which to stand safely, or sufficiently wide necks in which to put anything. In any case, it becomes

obvious that for a tall slender vessel we need much flatter curves, thus making it more graceful and elegant, slimmer in fact, something like 5B and 6B. With 6B, too, we should probably add a rim to enlarge the base to allow the vase to stand safely. So we find that our feelings about the mass or general proportion dictate what sort of curves we use.

There is one proportion which is generally accepted nowadays and has existed and been in use for centuries. It is known by several names and is referred to as the Golden Rod, the Golden Rule, the Golden Measure, or the Divine Proportion. To give a rough idea of it, take a stick or strip of paper 8 in. long; mark off 3 in. from one end so that the other end is 5 in. long. This proportion of 3 to 5 represents the Golden Rod.

Much of our furniture and interior decoration use this principle. An excellent example occurs in some ladder-back chairs where the spaces between the back slats decrease in depth as they go upward, Fig. 7.

In most chest of drawers all the drawers are not made of the same depth. The bottom drawer is deepest and those above graduate in depth with the shallowest at the top. The tallboy chest of drawers (Fig. 9) shows this clearly. It not only makes differently shaped receptacles for various kinds of articles, but is such an arrangement of shapes and proportions that is pleasing to the eye—in fact, it is a handsome piece of furniture.

96. Japanese Prints. (*Vol. V., p.* 428) In the top corner picture of two girls gathering shellfish, the setting or background for the two figures is simply grey and blue—the ordinary colours of the seashore

eminently suited to and expressive of the girls' quiet occupation. From this very peaceful, quiet picture, pass to the central one which has yellow and gold in sharp contrast to black. This is a portrait of an actor playing the part of the heroine (for in Japan the women's parts were always played by men). The colour at once shows that the real subject is nobility and tragedy.

No. 3 is again a quiet scene from a series on silkworm culture. It shows a girl spinning the silk from the cocoon and another talking to her. It is a more domestic scene than that of the first picture and consequently is painted in a warmer colour scheme.

Below these are two landscapes by Hiroshige (pronounced Hero-she-jee, soft *j*) who was one of the world's greatest landscape painters. Along the top and bottom of each of these scenes there is a sudden gradation into deep colour. This is so contrary to our Western ideas that we wonder what it means and what it does. Let us take the left-hand view first—a yellow sky gradating into grey to black. The black is menacing but the yellow is cheerful and reassuring. It means a *passing shower*. The descending lines across the sky suggest the first falling drops of rain, while the people crossing the bridge hurry for shelter.

The artist knows that the sky is not so black in nature, but he feels justified in a slight exaggeration—for with the Oriental, each picture is a dramatisation of expression.

This gradation at the top and bottom of the picture is used to influence the beholder in several ways:

1. It sets the mood of the picture—menacing, but ultimately reassuring.

2. It suggests the dome of the sky.

3. It serves to make a balance of darks throughout the picture.

4. The exaggeration in depth of colour puts the landscape part back in its proper place and gives distance and perspective.

5. It serves to call our attention to the full limits, from top to bottom of our picture space.

6. The small upright river scene in moonlight shows the gradations used to express depth and surface of water.

So we find that a simple device which at first sight looked strange and unusual has at least half a dozen different meanings for us.

97. Decoration of China and Earthenware. *(Vol. V., p.* 430.) Naturalistic bunches or sprays of flowers for the decoration of china-ware still survive from Victorian times. Naturalistic roses, violets, pansies, lilies, etc., are all out of place on any kind of pottery. Flowers are used as decoration because of their colour, but they should be formalised and not made to look real.

This Class Picture illustrates some good examples of decoration. Here we notice how simple the patterns are—this is because the shapes of the articles are good, so that there is no need for a great deal of fancy work. For instance, on two of the dinner services, Nos. 3 and 4, there is no decoration beyond a slight ribbing, and even this is not an added pattern but something which occurs during the manufacture of the article. Each style is in a self-colour—No. 3 is a beautiful deep golden yellow; No. 4 has a cream or pale yellow glaze. You

would have to look closely at No. 3 to notice the ribs or grooves indented round each piece of the set, for this is decoration at its very slightest, depending entirely on shape and colour for its effect.

In No. 4 the slightly scalloped lines running round each article are broad and sufficiently marked to divide the larger spaces and to follow and accentuate the main lines.

On No. 1, a tea service, a gold line runs round the outside edge of each piece, while another gold line runs round the inner edge of the rim of the plate and at a similar distance on each of the other pieces. Just inside the edge each piece has a continuous line of loops suggesting leaves formed by tiny brush strokes of bright green. This simple decoration of gold and green on the white background is most effective.

No. 5, a breakfast, dinner and tea service, has four lines alternately gold and green running at equal distances round the rim of each piece.

No. 6 is equally simple, but requires more detailed description and explanation. Just within the outer edge of each piece is a line made up of arched brush strokes inside which are four lines of dots. The purpose of the dots is to relieve the monotony of an otherwise flat surface.

The small centre decoration, in bright colour, gives a note of gaiety, at the same time illustrating the important fact that flowers should be formal rather than realistic in design—it is impossible to tell what flowers they are since they are merely spots of colour well arranged. It should be noticed that this central *motif* necessitates a side handle on the lid of the vegetable dish.

Example No. 2 on the Class Picture is a delightful little tea-set on a tray. With its evenly distributed spots of colour, the decoration, while producing an air of brightness and gaiety, breaks up and hides or camouflages the shapes. Each example on the Class Picture suggests some particular mood—each set has a character of its own. Service No. 1 is refined; No. 3 is homely and comfortable; No. 4 is simple and dignified; No. 5 is clean and healthy, while No. 6 is pleasant and somewhat select.

98. Cups and Saucers. (*Vol. V., p.* 432.) On the examples of cups and saucers, all decoration has been cleared so that the shapes can be examined. It will be seen at once that there are not more than half a dozen distinct shapes, but infinite variations on these shapes can be seen everywhere.

No. 2 in the centre top is the most ordinary and commonplace shape.

Nos. 1 and 3 are scalloped like shells, but in No. 1 the scalloping is both outside and inside, and the lines conflict and disturb. In No. 3 the scalloping is on a larger scale and seems to distort the outline shape. Both Nos. 1 and 3 are single curve shapes.

Nos. 4, 5 and 6 are what we may call double bulge curves, which do not, in themselves, give a pleasing or satisfactory line.

No. 7 was taken from a Chinese egg-shell porcelain example. This is a very appropriate and simple shape, which is quite pleasing.

Nos. 8 and 9 have a slight outward flair and a definite stand at the base which gives more stability. Nos. 10, 11 and 12 are double curves, concave and convex.

Nos. 10 and 11 have the concave curve above which gives a slight flair to the edge.

There is little variation in the saucers. Within narrow limits, the diameter alters slightly in proportion to the cup. The saucer also has the general shape and curve of the cup, and is sometimes deeper or shallower to give better proportion.

Now let us look at the handles. On No. 3 is a dotted line in a half circle running from one end of the saucer over the cup, to the other end of the saucer. The handle is, and should be, in such a position that it lies comfortably within that half circle. There it projects least and will stand less chance of being knocked or broken. Also it will be found as the best balanced position for holding, whether the cup is full or empty.

The feel of the handle is quite as important as its shape. No. 1 has a handle that is twisted and which reminds us of rope or string. This is surely an unfortunate suggestion in a part which demands stability. No. 2 handle is supposed to be stronger, which is doubtful, and the shape is not pleasing.

Several of the other examples have projections. For instance, by comparing the handle of No. 8 with that of No. 9, it can be seen that the projection is quite unnecessary. It would obviously catch in things and get broken off. No. 10 is a bad handle; it projects too much, is ugly in shape and appears insecurely attached.

Having considered the chief features of these cups and saucers, we notice that in each case it is simplicity which counts most.

99. Teapots and Coffee Pots. (*Vol. V., p.* 434.) Nos. 1, 2, 3 and 5 are of metal, the first three being

coffee pots and the last a teapot. Notice the distinctive shapes of the coffee pots, for as both teapot and coffee pot may appear together on the breakfast table, there must be no danger of being unable to tell which is which. Roughly, one is tall and slender, and the other short and round. These three silver or silver-plated coffee pots are good in general shape and proportion, but one is struck by the fact that they consist of a number of parts put together. To a certain extent this is inevitable in metal and is made more apparent by the necessity for a non-conductor of heat for the handles. Metal handles would become too hot to hold comfortably, so ebony or ebonite is sometimes used instead. The method of attaching the ebonite to the metal, however, is seldom satisfactory, and when the top part of the handle is joined to a flat collar or flange, it never appears safe, even though we may know it is quite secure. If a thing looks uncomfortable or unconvincing it should be avoided; Nos. 1 and 5 on the Plate show this point.

The tendency in design to-day is towards angularity. One result of this is that these angles make things more difficult to clean and, what is more important to our consideration of beauty, they become curious mixtures of straights and curves, such as No. 2.

No. 4 is the common brown glazed cottage teapot, but in this case there is a disparity between the spout and the handle. The handle seems much too slender to support the weight.

No. 8 is quite consistent in shape and design, and is evidently not intended for a large tea-party, for it would hold sufficient tea for two people only.

No. 7 looks more like a bathroom or dental surgery

fitting than something to grace a tea-table, while No. 9 allows no space for fingers and we doubt whether it would pour out properly. But although at first sight we may not like these lines, it is on this pattern that the teapot, to suit modern needs and conditions, must develop.

The last three examples on the Plate are "Moorcroft Powder Blue Ware;" they are strong, well designed and shapely. Perhaps they are a trifle heavy in appearance, but the colour chosen for these articles is the one colour that will correct any heaviness. This powder blue is a very atmospheric colour and so makes things appear less near and objective; it recedes and so puts objects further away from the eye, and that has the effect of reducing solidity and weight. This is an excellent example of the way in which form can be modified by colour.

100. Glassware. (*Vol. V., p.* 440.) Ornamental and table glass is roughly speaking of two kinds—glass and crystal. These two materials are similar, but each has a separate character. Glass is much softer, and in its heated state is more plastic and flowing. Crystal is hard, perfectly clear and luminous; much more jewel-like than glass. It is adapted for cutting and polishing, so producing many refracting surfaces.

The best things are those which show off the essential qualities of the material, so in glass we should expect to find smooth bulb-like shapes and flowing lines, and the less ornament there is to distract the attention the more we shall be aware of the line and shape. With crystal we should expect heavier and more solid articles, as they must have sufficient thickness to cut into.

in design is one that appears to have been the outcome of a new invention—the radio receiver—which has spread to our furniture and utensils.

A knife handle in this style will be found at the bottom left corner of the Plate. But we are not at all sure that this knife would be comfortable to handle. On gripping the handle to cut anything, there are four sharp ridges which press into the palm of the hand. Made in metal, these sharp corners would take years to get rounded off.

On all the other handles illustrated on the Plate there is nowhere a sharp point or ridge, with the exception of the fiddle pattern spoon, No. 30, and it is for that reason that we prefer the Old English design above it, No. 29, which is a beautiful shape.

In No. 8 the curve of the blade, called pistol pattern, is repeated in the handle. A curved handle could similarly be applied with good effect to No. 5, while No. 2 could equally well have a curved blade like No. 8.

With carving knives of all kinds it is highly important that the handle should have a surface which gives a good grip. There is no particular reason why they should be exactly like the table knives. It is best to choose the things that are the safest and most comfortable for the purpose for which they are intended.

Forks were introduced from Italy in the reign of James I. Old English (No. 29), fiddle (No. 30) and rat tail (No. 31) are the simplest and most satisfactory shapes in both spoons and forks.

There are many people who believe that if articles are fashioned and made entirely for their purpose, beauty can be ignored or dispensed with; or at the most, beauty is a later addition, which does not affect

the purpose and use of the article in any way. In the centre near the top of the Plate is illustrated a small wooden spoon (No. 15) and a silver salt spoon, No. 16. These are drawn the same size as the originals, but the drawing of the silver spoon gives only a general idea and hardly makes one realise the sheer beauty of the design. The back is even finer than the front, the bowl being a delightfully worked shell-shape. The design is the work of one of our great traditional English craftsmen-silversmiths, and has his initials on the back. The wooden spoon is the kind supplied by ice cream vendors. Two tiny objects, both for a similar purpose, but what worlds apart!

There seems also to be a general idea that beauty means decoration, but beauty lies much more in line, shape and proportion.

102. Pots, Kettles and Pans. *(Vol. V., p.* 436.) In the middle of the upper part of the Plate are illustrated two articles that have made cleaning very much easier work; No. 4 is a carpet sweeper and No. 5 an electric vacuum cleaner.

The carpet sweeper has two spiral brushes which revolve as the wheels are pushed across the carpet. The dust is brushed directly into the box, which is easily emptied. For all light work these are efficient and necessary articles.

The vacuum cleaner is a more powerful worker altogether. It thoroughly sucks the dirt out of carpets and textiles by means of a revolving fan run by a small electric motor. There are all sorts of attachments for getting into corners and sucking up the dirt from out-of-the-way places. A vacuum cleaner has become an indispensable article in a great many homes.

In a really up-to-date kitchen one sees little more than a number of cupboard doors. Everything is put away in its place. The children can prepare a list of the various articles in use in a large, modern kitchen. There are all sorts of saucepans, of varying sizes and shapes—preserving pans, fish kettles, fish fryers, stew-pans, and porringers or double saucepans for heating milk. These are made of metal—aluminium, copper or iron. Copper stewpans are used for fruit, because copper is not affected by the juice. Many saucepans and steamers are made of aluminium which is light to handle, durable, and requires less heat for cooking.

There are kettles of many sizes and shapes, kettles that whistle when they boil, quick boiling kettles, some in enamelled iron, most in aluminium and still a few made in brass or copper.

There are casserole dishes made of earthenware with their quaint stumpy handles, or having glazed covers and a flat handle at each end.

There are all sorts of bowls, pie dishes, and pudding basins; earthenware jugs of unusual shape, and jars, large and small. The big ones with lids are used for storing cereals and other food products.

There are fireproof oven-glass dishes in which to cook bread, cakes and pies, or to stew or casserole. All these are of good shape and appearance, so that they can be used both to cook the food in and to serve at table.

The children should be led to notice that there is a clear-cut division between the things used for cooking, and the articles used for serving. We look for something finer on our tables than in the kitchen; articles daintier, more elegant, and more showy. That is natural.

From a purely aesthetic point of view, we should say that there is nothing ugly about the cooking vessels and only a slight difference between them and the serving vessels. That difference is largely due to the craftsmanship and the material. It is obviously not fair to contrast the tin saucepan (machine made by mass-production methods) with silver ware produced by highly skilled craftsmen.

103. Chairs. (*Vol. V., p.* 442.) The chairs, Nos. 5, 6, 9 and 10, illustrated on the Plate, are four period chairs, each a beautiful thing in itself. No. 5 has a square character relieved by curved arms and legs, but the square shapes dominate and give decision and stability. No. 6 has similar opposition of straight lines and curves, but they are used in the reverse way. In this case the back and seat are curved and the legs, back and stretchers are in thin spindle shapes. But note how beautifully the whole chair is a balance of line and shape. The seat, being the only solid part, dominates, and its curve and saddle shape invite one to rest. What a lovely flowing curve there is from the tips of the arms round the back! The stretchers to the legs repeat the pattern of the spindles in the back. This is a splendid specimen of a tub chair.

No. 9 is consistently curved everywhere. This gives it a rather feminine appearance when compared with No. 5, in which the square is more masculine. Note also the rich brocade on both these arm chairs. At the time these chairs were made the seats and backs were embroidered by hand or else with rich woven tapestries made on a draw loom.

No. 7 is a modern copy of No. 9, but note the difference in the curves! Note, too, in the period chair how the arm supports flow into and become part of the legs, and see how little of this there is in the modern copy.

No. 11 is a modern square box shape. It is of no use to blame the craftsmen or manufacturers for these designs. They have been fashioned for utility alone, for such is the demand of certain people in this practical age. Line, form, proportion, beauty, all have been sacrificed for utility, and many homes are filled with these shapeless, uncouth chairs.

A good deal of modern furniture that may not be actually badly designed in itself is out of place and in the wrong setting in the home. The chair that looks big and cumbersome in a small room may look quite inviting in an hotel, club room or large lounge. The chromium plated tubular furniture, such as Nos. 3 and 4, is also out of place in the home. It is bright and clean, and generally gives an idea of efficiency; consequently it is suited to offices, workshops, restaurants, tea rooms, clubs and such places. The home should be as different as possible from the office or workshop, so as to bring change and variety into our daily lives.

Nos. 1 and 2 are Austrian bentwood chairs that were in fashion about thirty years ago. No. 8 is a cane chair contemporary with No. 1. It had every conceivable exaggeration of shape and proportion imaginable, and it creaked and groaned at long intervals after anyone had sat in it!

104. Tables. (*Vol. V., p.* 444). Although a table is such a simple object—just four legs and flat top—a

great deal of ingenuity has been utilised in its design and fine craftsmanship has gone to its making.

No. 1 on the Plate is not symmetrical; the legs are not upright, the drawer is on the slant and the whole article has a cant to the right. This table has been included because some people believe that irregularity is a proof of age and this is the sort of thing they look for in old furniture. It is not necessarily any kind of proof, and a thing that is twisted and distorted is uncomfortable to look at and live with; so if possible it should be put right. A piece that is of genuine antiquity does not lose by being made symmetrical. Distortion usually suggests rough usage, and that is an uncomfortable feeling, particularly when associated with age.

Nos. 4, 7 and 8 are also period pieces. No. 4 was included to show how tables could be shaped and decorated with dignity and refinement. There is one feature about its cabriole legs that should be noticed, that is, the claw and ball foot, which is shown separately at No. 5. It is an instance of the skill, care and craftsmanship shown in details. This ball and claw *motif* terminating the legs of chairs, side-boards, settees, etc., occurs in other periods after Queen Anne's time.

No. 7 is a James II side table, which means that it usually stood against a wall. It has a drawer as most of these side tables had. Compare the legs of Nos. 7, 8 and 9.

No. 9 is a plain hexagonal upright, with only four turned indentions on the centre pedestal at each end —a plain, simple-shaped leg. No. 8 is baluster turned, with the square left at the top and near the floor to make secure points for the table frame and stretcher.

The turned part breaks the surface with a number of sparkling little lights which help considerably to give a feeling of lighter construction. No. 7 with its twisted barley-sugar turning has the same effect on a larger scale. Glance from No. 7 to No. 9 and see how severe the latter looks, and how bright and sparkling No. 7 looks in comparison.

No. 8 is an old gate-legged table. As we have sat at one exactly like this for thirty years, we can guarantee it as being satisfactory in every way. Six people can sit at this table in comfort, and every evening one leaf is closed down and the table is moved so that we can see to work.

Of the more modern examples on the Class Picture, the legs of No. 9 have already been considered. The table is a simplification of the older gate-legged. There are only six legs, where the old ones had eight, and it opens out to a rather longer and narrower rectangular table with the corners cut off instead of being oval in shape.

No. 6 is a refectory table, and however modern the example may be it still has something of the air of a monastery and whispers of monks and fasts and penances. It is a stout and useful table for the modern home.

No. 2, a draw leaf table, is an elegant piece of furniture, excellent in every way, but it might mean that the chairs to go with it would also need to have cabriole legs, and it would be necessary to consider whether that would be suitable with the other furniture in the room. For No. 3, another draw leaf table, we cannot pretend to have much use. The space between the legs being filled with plywood gives a false effect of

massiveness, where one's knees would be grateful for the space.

105. Cabinets and Sideboards. (*Vol. V., p.* 446). The modern tendency is to build small houses and flats with plenty of built-in cupboards, so that furnishing can be reduced to a minimum. In one or more bedrooms, however, wardrobes are still required. These have become in recent years extremely simple pieces of furniture—plain, rectangular boxes with perhaps a slightly curved top or a bow front. All useless ornament has been discarded; surfaces are smooth and plain, without panels, recesses or mouldings to collect dust. However well arranged the interior, the outside achieves a Spartan restraint and simplicity. With simple shape and good proportion, the only other factor necessary is beautiful material; and that is offered in a profusion of rare woods from all parts of the world. The illustration of the wardrobe (No. 9) is a really beautiful piece of furniture in the prevailing style.

The first three sideboards illustrated are all simple in design and construction, but each is distinctive. The distinction lies in the proportions. In No. 2 the containing or outline shape is well proportioned and is raised on a framework extending slightly beyond each edge and supporting it adequately and comfortably.

No. 1 is very simple and yet complete. The stand and body are one, while the main part is divided into three drawers and two cupboards; a useful, unassuming and comfortable piece of furniture to live with.

No. 3 is not quite so plain; the straightness and squareness are modified with slight curves, bow front and cabriole legs. The inlay adds variety to the surface.

In No. 5 the stand is splendidly designed to carry and support the cabinet. The soft flow of the curves from the floor upwards is like a plant growth. This is a lovely transition from the slender legs up to the cabinet itself with its slightly bowed front and curved sides. Its elegance alone is sufficient to separate it from our own time to a period more fanciful and gentle mannered.

No. 4 is a bad example of a sideboard which has very heavy ornamentation, highly rounded panels and fantastic decoration in half circles which not only neutralises all proportions but actually runs across one end of each drawer, so that whenever a drawer is opened the ornamental scheme ceases to exist until the drawer is shut again.

The other sideboard (No. 6) has its surface broken up in every possible way. The cupboard doors have square panels of lighter wood placed diagonally across them; the horizontal bars above and below the cupboards and the upright supports are all rounded and that effect is intensified by coating them with dark varnish and then rubbing it away in places, to give the effect of a rounded surface. A great deal of this effect aims at an appearance of massive solidity, which is quite unnecessary and unlikely in a piece of furniture of this kind. It also has bad handles and ungainly feet.

No. 7 has some resemblance to a bathing tent. Not at all an object one would wish to see when one first wakes each morning. How much more soothing is the simplicity of No. 9. The pattern of the grain of the wood is most pleasing.

No. 8 is an elegant, modern piece, dignified, well proportioned and arranged. The central mirror is

pivoted to tilt in its frame, while the two side ones are hinged to swing. It has little cabinets of three drawers on each side, while the larger centre drawer is set back to allow more foot space when sitting before the mirror. Notice particularly the way in which the blocks on which the cabinets rest are stepped back to keep them out of the way. One should always look at the feet of furniture. Avoid those that are ugly and noticeable and especially if they project in such a way that one would be sure to stub one's toes against them. This dressing table is a very satisfying piece of furniture. In spite of its squareness it has lightness and elegance, and forms an appropriate reflector for daintiness and charm.

106. Bookcases and Books. (*Vol. V., p.* 448). The two fancy-shaped bookshelves, Nos. 2 and 3 on the Plate, formerly appeared in almost every room in the house, possibly in the company of the one at the top centre. They are still to be found in many seaside boarding houses with the oddest assortment of volumes, together with the queerest-shaped vases. The bookcases are generally attached to the wall by tiny brackets and two nails, so that if one is not careful when selecting a book, down comes the whole thing, disclosing a patch of discoloured wall paper. Flower vases and books are things better kept separate—that is if one values the books.

Nos. 4, 5 and 6 are plain and simple book cabinets —neat, attractive and without ornament. Their aesthetic interest comes from proportion and the nature of the wood. Notice particularly how carefully the pattern of the wood grain has been selected and arranged

on the larger panels. Although the outline shapes are simple, the eye travels from one end to the other and everywhere finds something to interest and delight.

We come to the unit system of bookcase, No. 7. These units can be bought separately so that as the library grows the bookcase is built up to contain it. The units are made in different lengths, heights and depths, and each unit has two glass doors which slide along in metal grooves. This arrangement enables books to be kept free from dust and in proper order.

The illustration gives a good idea of the way in which these units can be built up and help to furnish a room. By alternating between cupboards and book-shelves, one gets a maximum variety without disturbing the general unity of the scheme. A long bare wall with one or two of these cabinets in position immediately becomes of interest, while very little floor space has been occupied. The steps made by the varying heights can be made to lead the eye in whatever direction is desired.

It is from this variation of height that the idea of steps has invaded a good deal of modern furniture. It relieves the boxlike structure in a simple and agree-able way and makes the rooms less formal and con-ventional while it retains the essentially architectural character which should be a feature of all furniture and furnishing. By an architectural character is meant that the things are four square, solid and having the appearance of being built-in as a part of the room. They have a permanent character, while the fancy and ornamental things have a temporary character. The one is durable and lasting; the other is passing and impermanent.

Turning from this bookcase No. 7 to No 2 (an Empire bookcase with open shelves) it will be seen that one has only to take out a few books from one of these long shelves to have all the rest lying at angles.

When discussing with the children Class Picture No. 106, point out that Nos. 1 and 3 have no real design, but are flimsy and ornamental, difficult to fix securely on a wall, and at best makeshift arrangements for holding books, with unnecessary brackets for flower vases.

In contrast with these, it will be a simple matter to show the architectural design and construction of Nos. 4 to 7. Show the children how they are kept quite simple in outline shape and interior arrangement, with an eye to proportion and balance all through, and how their chief effect comes from the material itself—the grain of beautiful wood, kept either in its natural colour or slightly stained to bring out the pattern more clearly.

107. Type, Printing and Lettering—Capitals. (*Vol. V., p.* 450). In any lettering, whether printed or drawn, it is most essential that it should be easily read. Thus, it is very necessary to see that lettering is well shaped, well designed, and founded on a good alphabet.

The English alphabet in use to-day is derived from the Romans. In most respects it contains the same letters as can be found on Roman inscriptions in Great Britain and on the Continent. This alphabet, by its boldness and mathematical proportion, is an ideal one for inscription on stone, and its use for this purpose crystallised its form to one of absolute simplicity, directness and intelligibility.

That is what happened to our alphabet. In 1525 Albert Durer, one of the world's great artists, produced an alphabet simple in construction which can be readily reconstructed by mechanical methods. This alphabet was in turn derived from the inscription on the Trajan Column. From Albert Durer these two alphabets, *Roman Capitals* (Class Picture No. 107) and *Lower Case and Numerals* (Class Picture 108), have been designed and drawn by Leslie Badham, R.I., R.B.A. By following the guide lines on these Class Pictures anyone with a pair of compasses, a rule and a set square should be able to reproduce these letters exactly.

Each letter is composed within a square, and every part and every circle used in the construction bears some relation in proportion to the square. No attempt has been made to keep slavishly each letter strictly to the square space—B, E, F, K, I, J, P, R, S, T, each occupy little more than half the square. M and W have rather more than a square. This has been done for the sake of due proportion.

Each letter was drawn in a square of $3\frac{3}{8}$ in.; that is $\frac{27}{8}$ in. Each thick stroke is $\frac{1}{9}$ of the square—$\frac{3}{8}$ in., and the thin strokes $\frac{1}{3}$ of the thick strokes—$\frac{1}{8}$ in. Every radius used is some proportion of the square.

On both Class Pictures this construction is clearly shown. In capital letters which have a central horizontal stroke—B, E, F, H, P, R—the thickness of this is measured from the centre of the square upward, so that the stroke comes just above the centre to give the upper part rather lighter weight than the lower part. The centre of the S is also above the centre line for a like purpose. Note that the W is two V's and occupies a square and a half.

108. Type, Printing and Lettering—Lower Case. (*Vol. V., p.* 452). The lower case letters and numerals on Class Picture No. 108 may appear complicated, but as all the working construction is clearly shown it will be found much simpler than it looks.

The essential features of these two alphabets is that being built on a strictly geometric and mathematical basis, with all the parts of each letter related in size and proportion to the square that contains it, there is a uniformity which has ample variation and a consequent rhythm that delights the eye. That rhythm is carried on and completed by the spacing between the letters. Here there is no guide and one must trust to the eye alone. Hence, although the letters are constructed and designed, there is still a difficult part of the copyist to perform, for in each combination of letters there are irregular shapes between letters, and one should endeavour to make these balanced spaces of white paper.

109. Carpets and Rugs. (*Vol. V., p.* 454). The carpet is an important feature in any room. On its colour depends the general scheme and to a certain extent the style of furnishing. The chief difference between carpets and rugs is one of size.

Carpets can be roughly divided into three classes: (1) old Oriental; (2) modern reproductions; (3) modern. The first are of course expensive.

On the Class Picture, the top three are Ryijy rugs from Finland. The first with its trees and candles on a rich orange ground and its delightful picture panel is a very unusual design in a rug, and very lovely in colour. No. 2 has something of the look of a sampler —the same simple kind of pattern making. Notice

how the stars or crosses on the outer border are used to soften the line in parts but not equally all round. It has all sorts of artistic touches of that kind, a feeling for design that is very different from knowledge or skill, and that makes it precious. No. 3 has much the same quality, only in a more evenly distributed pattern. It, too, is a lovely colour.

We should particularly notice in these three examples the life, vitality and joyousness both in the pattern and in the colour. These are from 130 to 230 years old, and yet they retain their brilliance and harmonious colour.

Below these are three Oriental rugs, reproduced from genuine old rugs of considerable age, which have kept their life and sparkle and colour.

The following test might be used with the class. Take a sheet of paper and just cover the lower five examples on the Class Picture. Look at the upper part for a minute or two, endeavouring to keep the mind on the colour and general effect. When you have thoroughly absorbed the impression and can retain a mental picture on the retina of the eyes, quickly reverse the paper so that the lower part of the Class Picture is shown. Repeat this change over three or four times, until you have two definite impressions to compare—two impressions of colour. We think that all the adjectives you would use to describe the upper part would be on the joyous side—bright, sparkling, warm, cheerful, clean, healthy, and so on, while for the lower part they would be just the reverse.

The pattern of the five lower examples is modern. Some are only parts of a carpet, but enough is illustrated to show pattern and colour. Most of this modern

pattern is meaningless—it is without purpose, organisation or intention. It wanders about aimlessly in a distracted way. The parts are unrelated and the effect is worrying and fussy.

110. Curtains and Covers. (*Vol. V., p.* 456). When furnishing a house, a good deal of difficulty is always experienced in the selection of suitable curtains and covers. The kind of material must be decided by considering its wearing qualities, its thickness and texture, its surface and the way it drapes.

The colour must be in harmony or in contrast with other furnishing. It must give the right atmosphere to the room, and a further thought is—"Will it quickly fade?"

Pattern is difficult to decide. It will be useful to consider the pattern of the materials illustrated on this Class Picture. Taking the three pieces of material at the top, No. 1 is an all-over spot pattern; No. 2 is a soft fuzzy pattern; No. 3 is a bold vigorous one. These simple terms, spot pattern, soft pattern, and bold pattern, enable us to divide pattern into three groups, not that there are any hard and fast divisions between the three kinds. Some spot patterns are designed on a geometrically planned base; others have a linear pattern running through and holding them together. They may be dark spots on a light ground or light spots on a dark ground.

No. 2 is simply a soft wavy pattern. The essential character of this kind of material is that it is quiet and retiring, mysterious and elusive.

No. 3, a bold pattern, is geometrically planned. It has a horizontal, vertical amd diagonal arrangement.

No. 8 is a modern design, original in many ways. It is entitled the "Pleiades" and includes sky and clouds, stars and planets, rainbows and huntress and unicorn. It is well designed and drawn, unusual in colour, clean and fresh in appearance. It is printed on a smooth, fine white cotton, and is a chintz. The name "chintz" is applied to-day to any glazed printed cotton. Any unglazed printed cotton is called a "cretonne."

No. 9 is a pleasing and effective pattern, and shows just what is meant by *formalising* in treatment. All ordinary visual proportions are discarded; one or two big leaves suffice to *suggest* the tree.

The charming little groups of deer, herons and tall reeds and grasses, are all treated in the same simple decorative way and fill in and complete the pattern.

No. 7 is printed on linen in the natural shade of the flax. It is a most beautiful printed fabric. Designed expressly to go with Persian carpets, it has been very successful. The colour is a delight. Printed in nine or ten colours, a great deal of thought and ingenuity have been used to get variation and quality through every part, so that while it is essentially a *printed* material, it has a similar effect and appearance to a fine Persian carpet. Note in this one the diagonal planning which resolves the basic pattern into a series of diamond shapes.

No. 4 is printed on cloth, woven with a wave pattern and is screen printed, which is really a method of stencilling with a roller through a mesh. This is a delightful fabric in grey and blue on a warm creamy ground. The darker pattern is a lovely greenish blue and the lighter leaves warm grey. This pattern is called "Bamboo Grass" and is also printed as a chintz in green and

fawn, blue and fawn, browns, etc., and it is printed also on linen. No. 5, called "Silhouette," is on satin and is also screen printed. The great feature of this fabric is its richness.

No. 6 is a woven fabric with something of a silky sponge-cloth texture in cream and gold. It is reversible, so that one can have either the gold leaves on a cream ground or light leaves on a golden ground. The side shown is actually the wrong side of the weave, but there is no reason why one should not use either side of any fabric if its appearance is preferred. With some printed fabrics the effect is so much softer and more melodious on the reverse side, that one should have no hesitation in making use of it.

111. Lighting. (*Vol. V., p.* 458.) We spend such a large part of our lives in artificial light that the consideration of the best means of lighting our homes is of first-rate importance.

Nos. 1 to 11 on this Class Picture show some early electric light fittings. From these it will be seen that they follow the style of their predecessors—the gas chandeliers, brackets, globes and shades. The gas chandeliers followed the former candle chandeliers and holders. This is the usual way with new inventions.

In the early days of electric light there were few ceiling lights such as are made to-day. The old wall brackets were clumsy with unnecessary fancy-shaped blocks of wood to fasten them to the wall. The chandeliers were adjustable by means of a counterpoise weight and pulleys.

Whether in a suspended lamp or a table lamp, or elsewhere, it is advisable to avoid cupids and figures

of every kind. The feeling one has about these things is, that if the figure is a good one it should be enjoyed for its own sake, and not put to utilitarian purposes. If it is not a good figure it has no place in the home.

Those old lanterns, whether old horn lanterns or suggestive of ships' galleys, are quite out of place for a modern illuminant. No. 11, intended to stand on the newel post at the foot of the stairs, would be a bad thing placed in the worst possible position. It would be bound to cast a checkered shadow round the floor and lower stairs, just where it is essential that one should be able to see clearly.

The standard lamp No. 9 is a fantastic shape in brass. It is far better to have a plain tubular upright, for it is simpler and more appropriate in every way.

Things should have architectural qualities rather than fancywork qualities, that is, things should look as though they were part of the place and permanent, rather than temporary or put there by accident. That remark applies also to fittings of all kinds, and if one remembers this, a great deal of fancywork will be avoided, especially in light fittings, brackets, table lamps, standard lamps, globes and shades, for all these things can have permanent rather than accidental character. On the right of the Plate central fittings for ceiling lights give a good idea of *architectural* design. No. 12 is what is called a "bulkhead" light; No. 13 is a modified light of the same sort; Nos. 14 and 15 show a range of shape, from the box shape to the more decorative shape. Nos. 16 and 20 have already been discussed. No. 17 is designed to project a little below the ceiling, to reflect light and yet be attached

to the ceiling by a ring support. Nos. 18 and 21 are *Bakelite* brackets. No. 19 is the architectural style.

Of the two table lamps, No. 22 is included to show that large vases used as the base for a lamp generally cast a big shadow surrounded by a narrow circle of light, which clearly indicates that a narrower base tapering toward the light is better. With all lamps like No. 23 we would use the same argument as we did about cupids and figures—they are wrongly used.

112. The Clothes You Wear. (*Vol. V., p.* 460.) Dress materials are usually finer in weave and smaller in pattern than furnishing fabrics, and whatever the climate or weather conditions, the nearer the material is worn to the skin the finer it is. Dress materials not only have a smaller and neater pattern than furnishing materials, but they have also more life and sparkle and are mostly lighter in effect and brighter in colour. Things that are actually in contact with life must contain some of that life and vitality.

With regard to the statement "brighter in colour," it should be remembered that the smaller the patches, the brighter the colour. In a paint box there are no colours bright enough for the very small spots. It would be a great mistake to wear a whole dress of a crude shade of electric blue, magenta, scarlet, or any other aggressive colour. Also, one should avoid violent oppositions of colour.

The ground shade of a material should be toned and quiet because it forms a large mass, against which the small pattern can shine with the utmost effect. But one should particularly avoid dull, lifeless materials and muddy or turbid colours. Even in winter materials,

which are naturally quieter in every way, cloth has interesting texture and life in the colour employed.

Dress materials should have sparkle and vitality because they are always in movement, and movement in the patterning becomes a factor in the design. Just as movements are undulating and springy and not angular and jerky, so suggestions of movement in the pattern should agree.

On this Class Picture are shown a series of dress materials. In No. 1 the grey ground is printed on a white satin, leaving the white for part of the pattern, and outlining parts in a rather darker grey. The pattern is completed with gold which glimmers all through the design. White and grey and gold—a gorgeous material for evening dresses and gowns!

No. 10 is on a warm buff or biscuit-coloured material. The formalised flowers are printed in yellow and orange, with an occasional touch of green for a leaf—altogether a warm colour scheme and a pleasant type of material for everyday wear.

No. 2 is on a brownish linen, the groups of buttercup-yellow flowers and dark green leaves are spaced with smaller groups at intervals. No. 3 is a lingerie fabric with a soft, pale, grass-green ground, with white and pale orange flowers and blue-green leaves, all in a light scheme. Nos. 4 and 5 show the way in which patterns are often reversed. In No. 4 the pattern is printed in black, in No. 5 the background is in black.

The next two are such materials as children love to wear. No. 6 has white ducks on a blue ground; No. 7 is one of the fabrics specially designed by Mabel Lucy Attwell.

Nos. 8 and 9 have a novel feature—a gold printing which gives them an exceptionally rich appearance. No. 8 is a gold pattern on black, but in the reproduction one misses the essential glitter of the gold. No. 9 is a very beautiful dress material in soft bright colours, black and gold.

The purpose of this Class Picture is to give an impression of light dainty fabrics with small sparkling patterns of rich and lustrous effects in light schemes, and brilliant and scintillating darker fabrics.

One should endeavour to assess and convey the "mood" of each example as well as discuss the pattern effect and the material, and as these are each printed in a variety of colour schemes, one should try to imagine which colour scheme would suit each mood and fit in most agreeably with the nature of the pattern.

113. Arranging Your Room. (*Vol. V., p.* 462.)

The Plate illustrates two styles of furniture and furnishing, both essentially modern in design.

The furniture in the top room is extremely simple but well proportioned. Here it will be seen that the wood of the wardrobe and chest is carefully selected and the outside edges kept lighter to emphasize proportions, while the pattern of the wood is subtle and never obviously marked. It is easy to see from this Plate that in a room this plainly severe furniture is balanced by informality in the fabrics, curtains, bedspread and rugs. A few darks are necessary in such a light scheme. Notice that even the spots of the drawer knobs are welcome small patterns. The picture and mirror complete the scheme and give balance. All the pieces are made about the same depth from back to

front, so that if they are against a wall, the fronts come flush. This enables one to put any articles side by side and avoid irregular frontages. The dressing table group is compact with everything convenient. The circular mirror gives variety in shape and is repeated in the bedside lamp (for that is the purpose of the round, capped globe on the right, which looks like an alarm clock).

We will now look at the other end of the room, the living and working end, illustrated on the lower half of the Plate. In daylight the writing table would be an awkward corner at which to write, but the general effect is very pleasing.

Many people would object to placing a vase of flowers on a radio receiver, but perhaps that is personal prejudice. The picture, books and accessories make this setting look very homely and comfortable.

The units fit in well together and give a sense of continuity, where separate pieces of furniture often look isolated and detached; the units, too, generally occupy less floor space.

It is always advisable to create a balance between somewhat conflicting desires. Furniture and fabrics must have some measure of agreement. Practically all the curtains and covers are vertical and horizontal in design. Vertical and horizontal lines suggest peaceful and restful feelings—those qualities that most people wish their homes to possess. To further such a scheme there is plain square furniture—cabinets, bookshelves, tables, all of the same height in horizontal lines resting on rectangular patterned carpets and rugs. Only the larger articles of furniture break the lines and they still continue the plain square shapes.

It soon becomes obvious that such an arrangement continued too far will produce monotony, so shapes must be included to counteract—a circular mirror to the dressing table, a round-backed arm chair to the writing desk. Note in the Plate how grateful the eye is for this relief. Then the book-shelves can be adjusted to form steps to build up and consolidate a corner, or to make gentle slopes and vary the horizontal lines.

In the fabrics there is generally some relief from the horizontal, for the natural folds of the curtains give them vertical stability.

It is this kind of balance that one has to try to attain. If the lines are peaceful, the other qualities must agree. The proportions must be graded and not too sudden. There must not be too violent opposition of light and dark, and the colour should be quiet and soft.

114. The Plan of a House. (*Vol. V., p.* 464.)

At the top of this Class Picture is a view, known as the elevation, of a bungalow. As is indicated by the water-butt, the bungalow is built in the country.

The plan shown in the lower part of the Plate is called an isometric view. The artist has shown it as though the house had been cut through and the top part removed. This enables us to see how the inside is arranged.

The bungalow consists of four main rooms, with a bathroom, hall and larder. In the middle are the four posts of a porch, also shown on the elevation.

The living room has the bay window and a door leading to the hall. Note the fireplace in the middle of the wall of this room on the right. Behind the living room comes the kitchen, with the kitchen range on the

same outside wall, so that there would be two chimneys on that side of the house, but these are not seen on the elevation. On the near side of the kitchen range is a dresser, and on the far side the sink and draining board. There is a wide window at the back end of the kitchen which would give plenty of light; and there are three doors, one leading to the back door, another to the larder and the other to the hall.

On the other side of the house are two bedrooms, with a chimney between them (shown in the elevation) so that each bedroom has a fireplace set at an angle and each bedroom has a large window in one end and a small one in the side wall. Notice that each bedroom has a door opening on to the hall; the dotted lines indicate on which side the doors are hinged and in which direction they open.

The inner walls are about half as thick as the outer walls, for the latter have to be thick to keep out the weather and support the roof, while the inner walls are only to partition-off the rooms.

The first door opens to the living room, which is on our right-hand side. The door next beyond that leads to the kitchen. Directly in front of us is a space of blank wall, and on our left is a small lobby with three doors occupying the sides of the square.

The one immediately to our left and the one slightly behind us lead to the two bedrooms. We glance into these in turn to get some idea of their size and to see that they are well lighted, and then turn to the door facing us which leads to the bathroom. A glance inside shows the bath in position, tiled walls and a window in the end; we can see there is sufficient space for all necessary bathroom fixtures and comfort in bathing.

So we leave there and enter the kitchen; notice the cooking range, dresser, sink and draining board, and observe that it is a fair-sized and well-lighted kitchen. Then we turn to the door in the middle of the wall on our left, which takes us into the larder.

On the plan we can see better than we probably should on the spot that this bath-room and larder have been skilfully contrived by blocking off the hall and making the back bedroom slightly narrower. The larder is not so long as the bathroom, for it has an end wall with a window in it; but it has ample space for all we shall need in a bungalow. So we re-enter the kitchen and turn to the far door; on opening this we find ourselves in a small lobby and at the back door of the house.

Having seen that all is compact, well arranged and convenient, with no waste space anywhere—in fact a well-designed house—we can turn our attention to the outside. A glance at the roof shows that its appearance has been well considered. Having a weather-boarded gable end to the living room makes a larger room and gives the roof more variety of shape. The bedroom end with its chimney stack and its sloping roof that has a slight hip make a pleasing contrast.

There are one or two further outside things that are better explained from the plan. Foundations are highly important, and as they are below ground level and covered up we can see how they are indicated only on the plan. First the ground is dug away level all round where the outer wall will come, and a layer of concrete about a foot wide is put all round this site. On top of this comes a thinner layer of concrete on to which the bricks are bedded—this is known as the footings.

Upon the footings the bricks are placed and the wall is built. Just above the ground level a *damp course* is put in. This consists of a layer of sound waterproof material (usually slate) inserted flat between the layer of bricks along the whole length of the wall, to prevent moisture from the earth creeping up and making the wall damp. In the front bedroom, part of the flooring is removed to show the joists or stouter timbers on which the floorboards rest.

Upon all plans it is usual to show the size of rooms as is indicated on the living room.

115. Pattern. *(Vol. V., p. 466.)*

Let us imagine a plain smooth wall. Being quite plain and smooth, it has no particular interest, it is merely a wall. We can give this an interest by adding colour; or we can give it interest by breaking up that smoothness with patterns of every kind. Suppose we lay out our first patterns geometrically, and square up our paper with diagonal lines, as in Nos. 1 and 2 on the Plate.

If we put a spot on each place where the lines cross we shall have an evenly spotted pattern which has vertical and horizontal direction, and also sloping direction to right and left. We can alter or add to this in several ways. We can put a small flower shape in place of the spot, as in No. 2, or make a larger group on every alternate centre, as in No. 1. The groups, too, might contain different shapes, while if one felt that the whole scheme was too regular and symmetrical, it would be easy to upset this precision by placing a spot or two irregularly within each square.

These patterns on the wall have no movement in

themselves, but they create a movement in the eye of the beholder. If they are simple and obvious patterns, we may see them without taking notice of them. There must be something of intrigue and interest by suggestion. The spots themselves produce a vibration rather than a movement, while lines tend to give directional movement, for the eye follows them along.

The next two patterns, Nos. 3 and 4, are from book jackets—things to be held in the hand and viewed at closer range. No. 3 is entirely formal and conventional and is obviously designed to convey that impression. We should certainly not expect a book with a cover of this kind to be full of action and drama or exciting adventure. Rather we anticipate a book of verse or essays. No. 4 makes a skilful use of the plain diamond latticing to give a different picture in each space and to introduce points of special interest in the faces which occur at intervals. Some of these are obvious and others mysterious.

The figures, No. 5 and No. 7 are very unobtrusive. In No. 5 one first looks at the design as a whole. Note its extreme simplicity and vigour. Then the eye lights on the face in the top border, follows the border along and finds a man's head below balancing the girl's head, and finally finds the reclining figure in the centre. This is probably a jacket cover for a romance. No. 7 is even more vigorous and expressive than No. 5. The little cupid with rounded cheeks blows and stirs the grasses with the wind and sets everything in motion. The shape of the design itself pointedly directs attention to the corners, and so suggests the winds from the four points of the compass; winds which blow across great expanses and set up eddies on their way.

No. 6 is intended to convey the recording of mystical events and dramatic happenings. In the top oval comes the figure of the scribe, events and drama are shown in the larger oval, while signs and portents are depicted in the surroundings. This is a very imaginative, well-designed idea. It is an excellent example of a symmetrical arrangement turned into a balanced design by the star with its comet tail, which adds much to the force, vigour and movement. It is big, bold pattern on the main circular shapes; smaller in the signs within the circles; smaller still in the curved and wriggly lines and stars of the lower sides, and still finer in the two oval pictures. This relieves the design from the bare black and white and gives it a tone quality. It is as carefully adjusted in tone as it is in pattern.

No. 8 is an example of radiation. Note how the straight base and sides of the outline shape are a relief which emphasizes the curves within, while the variety in line and texture give it gradation and sparkle. The ears of corn go one way and the stalks and weeds and tares another. There is no outline to the sun, but a series of surrounding circles suggested in the pattern give the effect of a glow of light. The actual centre of radiation is displaced by the curved lines on the left, and the sickle or reaping hook.

No. 10 is such a simple piece of decoration and such a very lovely bird that it tells its own story. It is so purely imaginative a creation, and rears so majestically against a star-lit sky, that our minds are immediately carried away to a world of fantasy and romance.

No. 9, from the Chinese willow pattern, is the best example of what we have called "formalisation." One could not mistake the tree for anything but a willow,

although one may never have seen a willow like it. It has all the essential character of the willow expressed simply and decoratively.

116. Rhythm. (*Vol. V., p.* 468.)

The passing rhythm—a magnificent piece of decoration—is on a screen of about the average height and in six folds. The scheme is in black and white and gold. All the round-edged cloud in the upper part is gold, against which the white birds, the snow and the opposing darks, tell out with a splendour that must be seen, for it is too wonderful to imagine. (The vertical lines across the picture are the folds of the screen)

There is no difficulty in accepting the two drawings as *passive* and *active* respectively. One is opposite and complementary to the other, and the two are examples of extremes of rhythm. The one is as near to absolute placidity as possible, and the other shows action throughout. But the passive is without sentimentality or lack of vigour; and there is fierceness and violent movement in the active without becoming too dramatic or theatrical.

The title of Shiko's work is a poetic conception, but it tells exactly what the painter sets out to convey—*Winter Melting into Spring;* not "turning" or "passing," but "melting." That implies a late fall of snow; when this melts, the earth will once more come to life and repeat the wonders of spring.

But first *winter*—that is the essential subject—snow, heavy weather, an old tree and three or four white herons. The tree selected is a willow, on account of its twisted and gnarled trunk and the suggestion of sadness in its drooping branches. This is set against a huge

golden cloud. Why not? We often speak of golden cloud, why shouldn't the artist paint one? This is another poetic conception in keeping with the central idea.

As regards the planning, the whole of the pattern comes within a triangle with a long base slightly exceeding the length of the picture and thus suggesting the utmost stability and permanence. Being in six parts, the picture has a definite middle line so that the triangle is not symmetrical. Notice how it has been balanced by a smaller triangle made by the groups of herons, and how there are other triangles all through the design. With these are contrasted the curves of the tree and the outlines of the cloud. The long line of the snow acts as a suggestion of horizon, beyond which we get glimpses of dark cloud. In the foreground one or two early blossoms give a hint of the coming of spring.

The idea, the choice of material, its placing, proportions and distribution, are all so related and so work together to one end, that the picture has a unity and completeness.

There is nothing so satisfying as a complete work of art.

The other picture is simple enough in its elements—three peaks of rock and tumultuous seas. But how magnificently this has been marshalled and presented! There is an unusual feature. It looks as though the picture was an horizon, and yet instead of clouds above, the waves seem to continue. They do continue. That long white horizontal band which fades away at the top corner is a convention for mist or cloud. Chinese and Japanese artists used it for centuries. Its real purpose was to introduce a difference of texture in the design and a difference of feeling to the mood of the

picture. In this case its use is admirably justified, for it *suggests* an horizon, and intrigues and interests us in a part where the wave repetition might have become monotonous. It also makes a splendid foil to the whirl and fury of mighty forces and carries the mind on to the calm that comes after.

Now let us look at the construction of this wonderful wave pattern. The waves are not easy flowing, but a rapid up-fling, a sharp curve, and a sudden descent. This line achieves the greatest possible energy and force and is constantly repeated in each wave to give each surface added power and movement. The lines of waves follow each other in irregular formation and are broken all over by the white caps of foam. These rear and move in all directions and add conflict to force and movement. The rocky peaks give stability and their broken and jagged outlines show signs of the power and continuity of the elements which they oppose.

The little trees on top of the near rock remind one of an eagle with outstretched wings poised for flight. It is an appropriate suggestion. No doubt the artist foresaw that and hoped that it might occur to the beholder, for it is perfectly in keeping with an imaginative creation.

The picture is consistent in every way and throughout it is drawn with a severity that equals the subject matter. It achieves consistency of pattern from corner to corner, and the rhythmic flow infuses the whole design. It is imaginative in conception and in technique.

117. Pictorial Design. (*Vol. V., p.* 470.)

By design we mean the right selection and use of lines, proportions and colours in an order best fitted

to convey what we feel or wish to say in our pictures. For our studies we have outlines of several well-known pictures. (Reproductions of some of the pictures are given in Vol. V., p. 470 *et seq.*)

No. 1 is a Japanese woodcut as slight and simple as an Indian ink drawing. Its lines are so few, yet so carefully placed—principally horizontal, offset by the mast, which is just off the centre. This triangle of mast and line to the stern give great stability to the design. Most of the lines are slightly curved, thus giving the gentle motion which makes this picture so soothing and restful.

No. 2 is *The Avenue* by Hobbema. The main scheme of this picture is the uprights of the trees. (In No. 1 it was the horizontals.) Note how ascending verticals suggest affinity with all up-springing and upward-tending qualities, and are consequently joyous and pleasing. The centre at the end of the avenue is admirably placed. If you were asked to place a tall thin letter M (for that is the shape of the group of trees) on the picture space it could not be better placed than it is. From there we can follow the lines of the poplars upward to that serene silvery sky.

No. 3 is the outline of a drawing by John Sell Cotman. It is included for its square character. Trees, massive and square, set one behind the other, give a feeling of architectural stability and permanence that make this a characteristic English landscape. As it is a monochrome drawing without colour, we may well imagine that Cotman felt its proportions were sufficient in themselves and needed no addition.

No. 4 is a diagram of *Fuji Seen in the Trough of a Wave*, by Hokusai. It is usually known as *The Great*

Wave and is considered by some to be his masterpiece. Every line is expressive of power and grandeur. Its mighty sweep overshadows all the sea pictures we know. This is the sea in stern and relentless mood; the foam breaks into tentacles that reach out in all directions, and the boats with their oarsmen are only just seen, as they appear to become part of the rush of waters. Notice that the main curves attain the utmost dynamic force and weight, and that their upward fling is artfully increased by the repeating curve along the bottom edge, while the nearer, lower crest serves to buttress and support the main body. Even the troughs have their main lines laced and strengthened by converging curves of force and direction. The edges of foam become broken and claw-like and fling out a starry glitter of spray that adds vitality. The whole of this is set against the rosy glow of a sunset sky.

We see in this how an imaginative conception far outweighs any naturalistic vision, how the *line* makes it dynamic, and the *proportions* give it power and dignity.

No. 6 is also by Hokusai, but it is in lyrical mood. This is from the wood-cut print series *One Hundred Views of Fuji*, issued in book form in 1834-35. In this series Hokusai drew one hundred views, each having the triangular shape of the mountain Fuji as a *motif*. He used every possible device and method of design, and it is from this point of view that they are of extreme interest to students, though they are of such beauty that they appeal to all.

The design is a form of radiation. On the Class Picture are shown only the main lines. All the chief curves of the bamboo stems radiate from a common

centre somewhat below the left-hand side of the picture; the rest were put in so that the method should not be conspicuous. Behind these is seen the mountain. The top and right-hand sides are enclosed with the long spiky bamboo leaves, and the lower left-hand is contained by the bank on which the bamboos grow. These long radiating curves give the effect of a slow movement, a gentle swaying rhythm, that contrasts effectively with the austere dignity of Fuji. We have said that the mood is *lyrical*; by that we mean that its sensations are warm, soothing and agreeable.

No. 5 is a diagram of the well-known picture of Whistler's portrait of his mother.

There is no doubt that the artist had been greatly influenced by the Japanese prints which had only recently been introduced into Europe. Their decorative qualities, linear design, proportion and balance gave a new impetus and outlook to the period, and Whistler was quick to absorb and fashion them to his manner of painting. This portrait is clearly a design of balance and proportion.

On looking at the *Portrait of the Artist's Mother* one might possibly be tempted to think that the curtain part could be dispensed with, but by masking it off one is quickly satisfied that the curtain forms a splendid and logical balance to the black dress. Balance is the essential feature of this design.

No. 7 is a diagram of *The Dismasted Brig* by J. S. Cotman. It is a very beautiful water colour, free and spontaneous in handling, with all Cotman's facility in laying clean washes of colour and leaving them untouched; fresh and breezy in feeling and colour and very soundly designed. It is an interesting design which

introduces a form of construction that we have not met until now.

The mast still standing makes the disability of the brig more evident, and this remaining mast becomes the central incident. It forms a triangular shape just off the centre.

By its pictorial importance that triangle becomes the *key* pattern of the design, which is consistently triangular all through in larger and larger shapes. So this form of design is sometimes called "the enlargement of the key pattern." The mast with its billowing sail stands boldly silhouetted against a triangular patch of light sky; adjoining that is a rather darker similar shape; these in turn are broken into and suggest smaller patterns of like nature. This pattern is repeated throughout the sea and in the distant vessels.

Nos. 5 and 10 on the Class Picture are splendid examples of *static* (or still) balance. This Cotman drawing is an equally fine example of *active* balance. We shall find in No. 9, *The Greco,* the same principle used to express a mental stress and anguish. The original of this Cotman drawing, with its atmospheric qualities of light and colour, is absolutely convincing and natural. In the small reproduction it appears rather more dramatic, but has the advantage of showing its organisation. Sufficient contrast to the angularity is obtained by a curve here and there. These are logically occasioned by the sail in the key pattern.

No. 8 is a diagram of *Ulysses Deriding Polyphemus* by J. W. M. Turner.

We have put these two sea pictures next to each other as in many ways they are exact opposites. The Cotman is light, fresh, clear and breezy; the Turner, rich, glowing and mysterious.

That is the essential quality of this picture—its soft, melting tones, glowing lights and shimmering darks, and over all its atmosphere of strange beauty and *mystery*. And in spite of all this envelopment, it has a sound basis of design.

In this picture Turner has succeeded in reconciling two powerful pictorial interests—a sunrise and a beautiful ship. Inevitably one of these must predominate, so light and colour naturally have first place; but he puts the ship nearer the centre and the sun well out to the right. The ship is a ship of dreams, a fairy galleon, but the painter's extensive knowledge of ships enables him to give it these qualities without losing sense of reality, as in the same way his experience allows him to make this sunrise the embodiment and summing up of *all* the strange beauties of sunrise.

In a picture where outlines are lost and everything softly suggested one may find difficulty in following the linear sketch. The ship is set against a pyramid of dark, while the uprising of the sun is accented by the dark rocks on one side and the ships of Ulysses' fleet on the other, so that we get a pyramid of dark, and an inverted pyramid of light. If you were to trace the one, and reverse the tracing over the other, you would see that they practically coincide, so that the two halves of the picture (the top and bottom which fit into each other) are almost exactly equal in area. The golden rod proportions show something of the extraordinary precision with which things are placed by the artist's hand and eye.

No. 9 is a diagram of *The Agony in the Garden* by Greco, 1525-1614.

The design belongs to the last period of his life. Greco made some half-dozen paintings of this subject,

this being the final version. In it he made some daring innovations. His sole consideration was to attain a perfect unity between his subject, his design and his colour. His previous efforts had convinced him that in order to express what he wanted, the picture must have a *supernatural atmosphere.* That meant discarding all naturalistic treatment and concentrating on design and colour alone. So in place of all ordinary visual proportions, *relative* proportions have been used. A figure or an event is made of a size that its importance in the scheme warrants, and that scheme is to convey Christ's agony in the Garden of Gethsemane. An agony would seem an impossible thing to paint, but Greco succeeds and does so by his design, every part of which is expressive. The small line drawing gives some idea of this. An agony implies a sense of instability—everything in a whirl and a state of flux. Now look at the line analysis: right across the foreground we have a breaking wave form and similar curves of vapour or cloud swirl through the design. The golden rod proportion marked on this drawing shows that a line from the bottom corner to the top at this proportion, and a parallel line from the bottom of this perpendicular, give the main lines of displacement. Christ's head comes on the golden rod proportion, and His body fills the lower corner of this rectangular space tipped up on its diagonal. The disciples are shown asleep in the whirl of the wave form; on the circular sweep the angel advances. To the right, across an expanse of dark sky, we have a second series of swirling cloud masses with the half-veiled moon in the hollow beneath.

Note also the number of triangular shapes and see how several are dark and heavy, particularly the one

between the angel and Christ, and the one, ominous and portentious, that hangs poised above His head.

With No. 10 we return once more to normal vision and homely setting. Our picture is by Vermeer of Delft, 1632–1675. It is called *The Lady Standing at the Virginals.* On the Class Picture, this and the one above it are shown in mass, while the rest are in line, as this *mass proportion* is their essential feature.

It is the exquisite balance of masses, proportions and colour which make this picture one of our most prized national possessions. Its pattern can be compared only with the finest of the Japanese prints. Its colour is infused with the warm diffused glow of sunlight, brought to a climax in the reddish gold picture frame on the left, and dominated by a most lovely blue, which is a perfect contrast. To this is added a three-dimensional effect which is so consistent and convincing that it has become the marvel and despair of all later artists. Every part is so exactly right in value of tone, colour and atmosphere. The girl's head comes some six or eight feet in front of the black frame and this without any blurring or softening of edges, such as lesser artists are compelled to use. So that when we spoke of a return to normal vision, we were not referring to this artist's vision, where everything is exactly related and hand and eye perfectly attuned.

Here the idea of the small picture (intended to be viewed at close range) is attained. It reaches the highest peak of the endeavour to create a picture which is like an open window, or has all the semblance of reality, but a reality ordered and conditioned by a master hand and an exquisite sense of values and balance.

No. 11 is one of the very first oil paintings ever

produced. It was painted by Hubert van Eyck, 1366–1426. It is called *The Three Maries at the Sepulchre*, and is in the Cook collection at Richmond.

In this instance there is some difficulty in separating the basic design from all the carefully painted incidents and details. Quite often the structural foundations get overlaid with the accessories, but though we may be unaware of this groundwork, its influence is felt. The picture shows the open grave with an angel seated upon it. At one end the three Maries are grouped, and around are the sleeping forms of the watchers. The background is formed by rocks on either side and a distant view of the town. On the Class Picture the open grave is emphasised, as also are the two diagonal lines pushing outward from the interior of the grave to the corners of the picture.

The subject, when divested of all its trappings and incident, is really: *Christ is Risen.* Does not this little diagram express this with conviction and simplicity? Is it not the exact formula which conveys in the fewest possible strokes *Christ is Risen?* And so we find that the very shape and plan of the design itself embodies the message of the picture; and that there shall be no doubt about it, this V-shape arising from the open grave is repeated at the bottom below the sleeping figures, as a main line frequently is repeated to give it emphasis. The whole design is a sort of *ideograph* or picture writing, and if you can draw something of that kind, your picture cannot fail to express what you intend it to say.

118. Endpapers. (*Vol. III., p.* 26.) Types of and hints on endpapers. Illustrations of specimen pieces

for mounting to assist children in selection and encourage powers of criticism.

1. *COLOUR COMBINATIONS.* Much wastage of valuable material may occur unless children have some guidance in choice of colours. Specimens are mounted on sheets of cardboard ruled off as shown, using a lettering nib and black Indian ink. Each rectangle represents one board of a book and measures $5\frac{1}{2}$ in. by $3\frac{1}{2}$ in. (postcard). For quarter-binding the narrow rectangle may then be a quarter of the width of the board ($\frac{7}{8}$ in.), leaving $2\frac{5}{8}$ in. for the width of the larger rectangle. The cloth is then applied using for preference the dry mounting method.

2. *SIMPLE WASH.* The simplest method is where a wash of water colour is uniformly spread with a small sponge or pledget of cotton wool, all over an imp. 4to sheet (15 in. by 11 in.), so that when dry and cut in two there are two 8vo sheets which match very well. This is better than trying to do two 8vo sheets separately.

3. *STIPPLED COLOURED PASTE.* Some fairly thick flour paste is coloured by adding coloured water—not by adding dry powder direct. Tempera colours are splendid for the purpose. This coloured paste is taken up by a large brush, 1 in. to 2 in. in diameter, and stippled all over the paper, the brush being given a perpendicular action. Another colour may be stippled over or between the other, using different brushes.

4. *COMBED COLOURED PASTE.* When the colour or colours have been applied as above, a good

effect may be produced by using a strawboard comb, with teeth not necessarily uniform in width, to draw lines in the same or varying directions. Good duplicates of any of the above may be had by rubbing a damped sheet into contact before the coloured one has had time to dry.

119. Endpapers. (*Vol. III., p. 27.*) Further specimen pieces for the selection of attractive endpapers.

5. *COLOUR PASTE "THUMPED."* The two coloured pastes may be put on different sheets, the two placed face to face and thumped with the hand or a pad made of a large duster. The result is a splashing of the colour, often very effective.

6. *COLOUR BLENDING.* A simple but effective manner of making endpapers that can be used in the very early stages. There are two types; (*a*) blending different tints of one colour; (*b*) blending different colours.

(*a*) Blending the same colour. The drawing paper should be wetted under the tap or dipped into a large photographic dish, and used while in a very damp condition, thus enabling the colour to run and blend more easily. With a large brush, size 8, a little strong colour is painted in lines, roughly parallel, though not necessarily straight, across the paper. The more pleasing effect is when they are not straight. Owing to the damp condition of the paper the colour should run freely, producing a "pattern." The "lines" of colour can be assisted in running by adding a little clean water between the lines.

(*b*) Blending of different colours. There is an unlimited variety. The procedure is the same as for (*a*), except for the use of different colours.

When dry, all the above may be ironed with a fairly hot iron, the papers gaining by having a matte surface. Starch may be used instead of flour, when the result will be a higher gloss after ironing.

7. *OIL BATH METHOD.* Some cold water is placed in a large photographic dish of the enamelled type as used for 15 in. by 12 in. prints, and warm water is added to a depth of about 1 in. To all this is added a few brushfuls of warm glue from the glue pot. This forms a size.

A selection of colours ground in oil will be required—artists' tube colours give a greater selection, though the cruder kind, bought at the colour merchant's will do. About 1 in. of colour is pressed from a tube into a bottle, some turpentine is added and the mixture is well shaken. The colour is then sprinkled on the surface of the size and the coloured oil floats and spreads.

Another colour shown by the colour circle may be added, and patterns drawn with a knitting needle or by a number of pins held between two pieces of glued strawboard.

The first colour thrown on spreads most. Too much oil results in too much spreading; if too little oil is used the colour falls to the bottom. Paraffin may be used instead of turpentine, but both must not be used together. A sheet of paper is then dropped on the surface. Care should be taken to see that no air bubbles are imprisoned, or white patches will result. Drop on a diagonal of the paper and let the corners fall away

therefrom. When it is desired to clean off the colour in order that a fresh combination may be tried, it is best to use pieces of newspaper. Two colours are perhaps best; do not neglect black. Placed round on the heated school pipes, the sheets soon dry.

8. *STICK PRINTING.* Another method of making endpapers may be considered a good introduction to original design work. At first, bought sets should be used containing circles, squares, triangles, rectangles, etc., and these surfaces again cut across. In using these a child discovers that he is building up something he likes very much. When he has combined these shapes and used on the same sheet different colours which harmonise, he is progressing. Some of the class will later on produce original brush work. With the aid of files of different shapes and sizes, original forms may be made on short lengths of dowel rods, etc., Tube water colours or dry powder colour dissolved in a little water and either kind mixed with flour paste gives a colour with a good "body." A piece of flannel soaked with colour and lying in a saucer makes an effective pad.

120. Edge Stencilling. (*Vol. III., p.* 28.) Endpapers produced by a method known as edge stencilling can be beautiful. Beginning at the top righthand end of the paper, the colour is first stencilled on. The stencil is then moved down a marked distance and the same operation carried out; but in addition, an almost dry brush graduates the colour up to the dark of the first strip. Once again it must be repeated,—an almost dry brush is used. The process is repeated to the end

of the paper. A dome-shaped, rather than a flat brush, is better for the flicking, graduating action. The stencilling may be done at an angle. More than one colour and more than one stencil may be used on the same sheet.

Fig. 10 shows a number of edge stencils in position for the next line, and the results of their previous use.

121. Interior Stencilling. (*Vol. III., p.* 29.) This is the more familiar type of stencilling. A suitable unit may be repeated (1) along parallel lines; (2) rotated clockwise in a circle, square, triangle or any regular polygon; (3) inverted within a rectangle.

For the stencil, use ordinary cartridge paper, which has had applied to it a light coat of French polish. The stencil can then be washed with a sponge after use and stored for future use, if so desired. An endless variety is possible, starting with straight lines and finishing with curves or combinations of both. The lines need not necessarily run horizontally across the paper.

122. Potato Cuts. (*Vol. III., p.* 30.) Simple designs cut on a flat piece of potato and cleanly repeated over a sheet give a pleasing result. The chance of turning over or inverting the potato must be carefully guarded against. Apply the colour with a brush or from a pad. A piece of 3-ply wood, covered with blanket (blanket boards) makes a useful cushion while the design is being impressed on the paper.

123. Cover and Wrapper Designs. (*Vol. III., p.* 31.)

LINO BLOCKS. The use of lino blocks for repeating a pattern is too well known to need elaboration. Briefly, (1) a design is pencilled, painted or traced on

to a piece of the plain rubbery type of lino; (2) the design is cut around or away, using a V-tool for narrow spaces, a small penknife for straight lines, a gouge for cleaning away larger areas.

Before cutting the design stick the piece of lino, using glue, to a piece of timber 2 in. to 3 in. high, and with ends similar in shape to the piece of lino. During cutting, the mounted lino may be locked in a vice and both hands are then free to control the tools.

Having cut the design, it is next inked with a small squeegee, which has been rolled over a thin film of ink spread on a piece of plate glass. After inking, it is sighted over its next position, lowered into place and pressure applied with both hands and shoulders.

It may happen that much larger lino blocks are being used for endpapers. They may be 5 in. by 4 in., or even larger. Such a size had best be transferred with the aid of the letter press and blanket boards. Too great pressure must be avoided.

In a lino block but little recession of tone can be suggested. One has to depend on recession of line, hence the drawing must be reasonably correct. It is unwise to try to include too many planes—perhaps three can be handled by the expert. Too great detail is not expected from the medium. Masses are more sought for.

For all lino blocks a thin, strong, rather tough paper is best. If necessary, and before use as an endpaper, it may be lined.

FREE BRUSH WORK. This type of work is the most important of all; the other stages being merely training for this stage.

The best boy or girl is shown how to begin a simple drop pattern, counterchange pattern, or chequer pattern of, perhaps, postcard size. Do not attempt large sheets, it is too much to expect. Variety adds zest to the work. Inexperience makes children more successful and original in this type of work than many adults. They do not worry about "laws" and never stop to think if the work will be admired. The result is their own and consequently much more worthy of admiration than if copied. It is a fine form of applied art, and may well occupy the art and craft time of those children who are best at the work.

Shiny cloth is unsuitable. A matte surface gives better results, as the water colours hold better on a cloth which has some "tooth." When finished, the colours may be fixed by spraying with a fixative or by lightly painting over with a solution of bleached shellac in methylated spirit.

124. Lino Cuts. (*Vol. III., p.* 32.) A hundred suggestions for lino cuts suitable for decorative patterns on covers or wrappers. An idea is given of the endless variety of this type of work and also of the appearance of the design when reproduced, (see note on Class Picture No. 123).

125. Water Colour. (*Vol. III., p.* 33.) Perhaps the most ambitious of all endpapers are those wherein attempts are made at pictorial work in water colours, or pastels, pen and ink, or brush and ink.

Children living in industrial areas attempt with great success pictures of house roofs, chimney pots, smoke

and factory chimneys beyond, of a weigh-bridge, horse, cart and coal, and tall cooling towers beyond; of a high curving bridge, supported by lovely arches and being crossed by a laden train.

The organisation of parties for outdoor sketching will result in dozens of subjects.

The glory of a landscape in the eyes of most people is in the colour. Lines are not so obvious. Composition is not soon appreciated, therefore monochrome work is important.

"In the best schools to-day, early on, the technique of bookcraft is married to art and care is taken that divorce is ever after unknown."

126. Titling. (*Vol. III., p.* 34.) At one time it was thought sufficient if the title was put on with brass type using foil of different colours. This calls for more physical strength than most children have, and should not, except in rare cases, be attempted in the school. All children can, however, print.

It is a good thing to show the children some work and invite their comments. If they can see the teacher's work, they have a foundation and a model from which they can work their own ideas. It is all to the good if they criticise and attempt to improve on the suggestions given them.

The lettering may run diagonally, but if wished circular, semi-circular, vertical, horizontal, elliptical styles, etc., may be tried. All the letters are the same height, but this may be changed if desired. Something on the cover which illustrates the contents should be incorporated.

127. Samples of Weaving—1. (*Vol. V., p.* 355.) Various articles woven by students. Details of threading drafts are contained in the volume as above.

1. *SKIRT LENGTH.* Vegetable-dyed wool; single ply wool warp; hand-spun (on spindle) wool weft; 14 threads per in. Short strips of wool of different colours inserted in the weft for a portion of each shed, at intervals.

2. *OLD PERSIAN TAPESTRY.* Cotton warp; 14 threads per in. Fine vegetable-dyed wool weft. Short slits apparent at the junction of two colours.

3. *SAMPLER IN 3-PLY WOOL.* 14 threads per in., made on small roller loom; patterns darned in with shuttle. No. 1 pattern at bottom of sampler, No. 9 at top.

Details of borders as follows:—

No. 1 shows a reverse twill (over 3 under 1).

No. 9 shows a plain twill.

No. 2 pattern is made by passing six rows of coloured weft through the same shed, each row being followed by one row of tabby weaving.

No. 5 pattern is produced by weaving alternate rows in orange and green; plain tabby weaving.

No. 6 shows a twill (over 2 and under 2) in two colours, which give a pleasing variation of the twill produced by weaving with one colour only.

4. *SCARF.* 2-ply vegetable-dyed wool. Table loom; 14 threads per in. Blue warp; green weft; rose-path pattern in orange.

5. *WORKBAG.* 2-ply warp, hand-spun weft; all vegetable-dyed. Made on braid loom from two strips each 6 in. wide and one strip (at top) 2½ in. wide. Pattern darned in with shuttle; twisted cord, strip for holding cord made by weaving on a foundation of 5 strands The "construction" in this case forms the "decoration"—an excellent plan to adopt when ever possible in making up hand-woven fabrics.

6. *SCARF.* Woven by girl of thirteen. Table loom; 2-ply vegetable-dyed wool for warp and weft (warp more tightly spun); 12 threads per in. Colour scheme taken from butterfly's wing.

7. *BRAID.* Woven by girl of twelve on Scottish inkle loom; 4-ply wool, 28 threads per in. Warp pattern (weft entirely hidden by warp).

8. *WORKBAG.* Foot power loom. Honeysuckle pattern. Single ply (imitation hand-spun wool) used for both warp and weft, 14 threads per in.

9. *SCARF.* Roller loom with metlyx heddle; 3-ply wool, 14 threads per in. Warp in two colours, mauve and pink alternately; weft mainly saxe blue but centre strip of scarf woven with alternate rows of saxe and jade; pattern for borders darned in with shuttle in same colours as the warp, with the addition of a touch of jade.

128. Samples of Weaving—2. (*Vol. V., p.* 356.) Further illustrations of woven articles. Details of threading drafts are contained in the volume as above.

1. *SCARF.* Woven in 3-ply wool on table loom. Honeysuckle borders, hemstitched ends (3 warp strands in each group).

2. *HANDBAG.* Woven in 2-ply vegetable-dyed wool (16 threads per in.). Honeysuckle borders. Handle made from a continuous strip of tablet weaving (10 tablets), threaded through slits in the wooden frame.

3. *BAG.* Woven in 2-ply vegetable-dyed wool (14 threads per in). Braid loom; inlay pattern darned in with shuttle. Bag made of three strips; the two bottom strips joined together with groups of blanket stitches; the top strip joined to the middle one by sewing through the loops at both edges, on the wrong side, so that the work lies flat. The bag is finished off with a strip of crochet with slots through which a double cord is threaded. Green linen to match the colour of the inlay pattern is used for lining the bag.

4. *SCARF.* Woven by girl of thirteen. 2-ply wool warp; hand-spun weft of ERI silk; all vegetable-dyed. 16 threads per in.; knotted fringe.

5. *POCHETTE.* Woven on a four-heddle box loom. Welsh tweed yarn, natural colour for warp and weft; 14 threads per in.

6. *PLAID SCARF.* 2-ply wool; table loom; 14 threads per in. Same colours used for both warp and weft. Hemstitched ends.

7. *IRON HOLDER.* 2-ply wool; braid loom; pattern darned in with shuttle. Strips and edges joined with blanket stitch.

8. *CURTAIN.* 2-ply wool in green tints. Natural grey, fine single ply wool weft (used double). Foot power loom. Honeysuckle borders in green 2-ply wool knotted fringe.

9. *BAG.* Braid loom; 2-ply vegetable-dyed wool. Bag made of three strips, two plain and one pattern.

10. *SCARF.* Table loom; 2-ply wool. Honeysuckle borders. Warp of green shades (vegetable-dyed) wool, 16 threads per in.; knotted fringe.

11. *TAPESTRY BAG.* Board loom, 2-ply wool, 12 threads per in. Plaited loops and wooden buttons used for fastening.

12. *HANDBAG.* Woven by girl of thirteen. 2-ply wool; 14 threads per in. Cleveland web pattern.

13. *SERVIETTE.* In mercerised cotton. Table loom. 28 threads per in.

14. *BELT.* Warp of 2-ply wool used double; 14 threads per in. Weft of 3-ply wool. Belt woven on metlyx heddle used as a "waist" loom. (*Note.*—2-ply wool used double produces a finer and flatter piece of fabric than would be possible if 4-ply wool were used.)

129. Weaving in Wool and Cotton. (*Vol. V., p.* 369.) The samples on this chart have all been woven either in wool or cotton. Details of threading drafts contained in volume as above.

1. *SCARF.* Woven in 3-ply white wool, back pattern; 4 threads per in.

2. *POCHETTE* to match the above-mentioned scarf.

3. *SCARF.* In 3-ply wool, woven by girl of thirteen; 14 threads per in. This is an original adaptation of an American threading draft.

4. *BLACK AND WHITE BAG.* Woven on four-heddle box loom. Pattern darned in with shuttle.

5 and 6. *TWO SCARF ENDS* woven in 2-ply wool on four-heddle home-made box loom. Rosepath threading draft.

7, 8 and 9. *BAG AND POCHETTES* woven on four-heddle box loom. These represent early experiments in pattern. No. 7 shows a border woven from the monk's belt threading draft.

10. *CUSHION.* In shades of brown and rust, 3-ply wool. Woven on home-made rigid heddle shown alongside the cushion. Note the ingenious method of cutting and joining the strips.

11. *WORKBAG.* Woven in natural grey wool (2-ply). Blue-green borders from honey-suckle threading draft.

12. *CUSHION.* Woven on table loom from butternut threading draft. Natural grey foundation, green pattern. 14 threads per in.

13. *CUSHION.* Woven in mercerised cotton on foot power loom. Beige ground, orange pattern. Note the interesting border. Orange peel threading draft.

14. *NEEDLE WEAVING* in blue and green mercerised cotton on cream cotton foundation.

15. *NEEDLE WEAVING* in coarse mercerised cotton on hand-woven mercerised cotton foundation.

130. Tablet Weaving. (*Vol. V., p.* 413.) The belts in the illustrations are woven in macramé string and in most cases have an attractive home-made buckle attached. Hints on construction are printed on the picture.

Tablet weaving is one of the oldest crafts and several pieces exist dated about the sixth century. Tablets belonging to the Roman period even have been found. These were made of bone, and in the East are often made of leather, old playing cards, etc.

The braids were used for harness for camels, belts, edges of shawls, etc., and some most interesting examples are to be found in museums; e.g., South Kensington, Royal Albert, etc.

Tablet weaving is particularly suitable for school purposes and forms a definite stage in the history of weaving. From experience it is found that certain types of children take to tablet weaving more than others and these children should be allowed the fullest possible scope for experiment and practice. The principles of tablet weaving having been briefly explained and the children allowed to see a few good examples of work and a few pattern drafts, they can be left to experiment by themselves. Tablet weaving needs little teaching and best results are obtained if the suggestions indicated above are adopted.

Full details of method are contained in the volume as above.

131. Linoleum Block Prints in Colour. (*Vol. V., p.* 93.) Some of the many applications of the craft of linoleum block printings and cutting. The craft has a wide range of application, for the blocks may be used for the production of all-over patterns for bookcraft work; patterns for fabric printing; monograms and devices for notices or book decoration; illustrations for hand-written books which are bound by the children; illustrations in black-and-white which may be mounted and framed as pictures, or illustrations in colour for decorative and pictorial purposes.

132. Cut Paper Illustration Work. (*Vol. V., p.* 121.) All the examples are carried out in a simple way to make clear the manner in which colour areas are enhanced by the "mount" of surrounding and intermingling neutrals. The general effect is striking if somewhat crude, but in their composition, treatment and omission of unnecessary detail, they should be regarded as posters.

Using the same range of coloured papers as that employed for the first colour exercises compels the children to make use of their notes on simple colour schemes. It compels them to work "in the flat" throughout, in the decorative style suitable for posters, and it ensures that the correct range of hues, tints and shades is being used. In addition, the use of the papers enables the work to be done much more quickly and cheaply than would be the case if body colours were being used.

Accessories required are scissors, rulers, and tracing paper. Ungummed papers are recommended, as they are easier to store and to work with, and a stiff paste such as "Grip-fix."

In building up these poster designs from the original drawing, the largest area of paper is laid first and is carried right across behind the other detail. In succession, then, the remaining areas are pasted on partly over one another, the last ones being the isolated spots and accents which are placed on top. The children should not attempt to fit the parts together like a jigsaw puzzle.

133. Colour Wheel. (*Vol. V., p.* 103.) The construction and use of a colour wheel in coloured paper. The work looks best if carried out on either white or light grey paper. A ½-Imperial sheet should be used, and the wheel should be about 12 in. in diameter.

Building-up and lettering, on the same sheet, of details from the wheel provide a second useful exercise.

(*a*) A column giving the tint, hue, shade and neutral from any one colour in small squares.

(*b*) A double column giving the same from any two adjacent colours, with neutral and black.

(*c*) If light grey paper is available; one column giving black, neutral and white.

The opposite or complementary scheme is not introduced at the early stage, as it is unwise to risk confusion by too many details at once. The one-colour scheme and the related scheme, with the purely neutral one, give ample scope for first year colour exercises. Space should be left, however, for further additions at a later stage.

Consequent upon the two first exercises experiments in simple colour arrangement may then be made for use in simple design work.

A neat block of four fairly large squares is ruled

up on a sheet of white paper, with a margin between each one.

The first one is covered with a single piece of neutral paper. The children then select any one hue as a starting point, and they cut out a band of black paper which is, in width, about one quarter of the side of the grey square. They mark on the grey square the position of the second quarter down from the top edge, and then paste the black band across the grey at this position, so that one quarter of grey appears across the top, above the black, and half the square of grey remains, at the bottom. Next, a small circle of white is cut out, and this is pasted partly over the black, a little to the right of the centre, and partly over the grey ground, but at the lower edge of the black strip.

The second square is then treated in the same way by the children themselves, without direction, using any one hue instead of the white circle, and its shade instead of the black, on the neutral ground.

The third square is again covered with neutral, a shade being used instead of black, and its tint instead of white.

The fourth square is covered with any one tint. The shade of either of the two related hues replaces the black. The full hue of the ground tint replaces the white.

134. Illustrations—Water and Body Colour. (*Vol. V., p.* 118.) Three of the paintings shown in this Class Picture are imaginative compositions by senior children. The purpose of each is to test the child's ability to express his own idea of a common phenomenon, or a commonplace subject, in a pictorial form. Each picture

is carried out on a large sheet of paper with the use of both ordinary water colour and poster colour.

In each case the first essential is that the mood of the set subject should be clearly expressed; exactness of representation being of secondary importance in this type of drawing. For this reason the paintings must be done quickly, to convey the impression in a bold and vigorous style.

The landscape with trees shows the child's impression of the set subject "The Wind," and the effect of a strong wind is gained very effectively by the leaning trees, with their foliage blown to one side, and by the suggestion of scudding clouds in the sky. Such an original drawing shows a high standard of observation on the part of the child, along with retentive memorising powers.

A high sense of pictorial values is shown in the painting illustrating "The Storm." The effect is gained by harsh contrast of tone in a cold colour scheme combined with the lowering clouds, the rough sea and the jagged line of the rocks, in addition to the obviously distressed condition of the ship. In a painting of this type the effect would be spoiled by additional detail, or by precise and laboured drawing. But the composition is good, and the apparent crudity of the drawing is of no importance in comparison with the dramatic vigour of the picture as a whole.

The picture of "The Fisherman" is equally strong in effect. The vertical and horizontal lines which are used in the composition, in addition to the symmetrical lines of the figure—in a pose suggesting restfulness—all combine to convey this impression to the beholder. At the same time, the picture is brilliant in colour and

is handled with such simplicity that the lack of detail only adds to its force.

The flower picture is delightful in colour and it, likewise, gives an impression of the objects portrayed rather than an attempt to present them as an object drawing of the usual type. As a picture it is of infinitely greater value than is the laboured, lifeless and detailed drawing which is generally made of similar subjects.

It should be remembered, however, that these drawings follow a stringent course of essential drawing practice and composition exercises. It is impossible to obtain such results without the teaching of the necessary groundwork.

135. Illustrations in Various Styles. *(Vol. V., p. 119.)* These paintings show stages of progression from the coloured drawing to the full representation in colour of a particular scene.

The drawing of the children playing in the school yard is vigorously done, but the colour is a secondary consideration and no technical problems are involved.

The painting beneath shows a group of buildings as seen from a schoolroom window, and it is remarkable for the way in which the subject has been disposed within the outlines of the panel to form an interesting composition as a pattern of varied shapes. Care has been given to the actual drawings as an exercise in perspective, and to the subsequent painting in which superimposed washes are used to get the required greys. A certain looseness of handling in the washes assists the pictorial effect without detracting from the drawing and thereby avoids the unpleasantness which

would result from outlines which were too hard and obtrusive.

The tree subject is a purely imaginative composition based upon the rule of variety in widths of spacing (between the tree trunks) combined with rhythmic cloud lines and a low horizon line. It is carried out in strong line, with the minimum of colour, and this type of drawing is of the greatest value for preliminary sketches made before the commencement of a full-colour illustration.

The remaining two paintings are of a more advanced character. The seascape is particularly interesting as it shows a confident handling of washes with considerable technical ability, combined with the use of the "S" line as a basis for the composition. Complications which would follow upon the introduction of an horizon line are avoided by carrying the foreground detail well up to the top of the picture. Interest is gained, also, by the contrast between the clean-cut edges of the quay and the softened foreground detail, and between the broken colour-greys of these parts and the bright touches of colour round the boats.

The last picture shows the value of an early insistence upon the study of tone contrasts. The picture is composed as a series of almost flat, superimposed washes, built up from the lightest tone value to the darkest accents in three stages. Later washes in the series are carried over portions of earlier ones, thereby giving additional intermediate tones with colour greys. Detail is reduced to a minimum, thereby giving a strength suitable for an architectural subject. The tonal pattern is assisted by the pleasing composition of the picture.

136. Natural and Common Objects in Water Colour. (*Vol. V., p.* 184.) Examples of advanced work carried out by painting a picture as a whole and not piecemeal. If the reproductions are studied carefully it will be seen that the warmer and lighter washes have been carried across the forms of individual objects and their surroundings, underneath the subsequent washes which may determine the outlines of these forms.

The procedure may be summed up as a progression from large, warm and light washes to small, dark and often colder washes. No more than three washes should appear at any one point as superimposed one upon the other, as this will cause the earlier washes to "lift" and will result in muddy colour and dirty, hard-edged patches in the last wash.

One important point is demonstrated in the second example. Children invariably represent drapery forms by curved lines, so that the forms lose their definite shape which has such strong pictorial value. Drapery folds, and the angles between them, should be represented by straight lines and painted as such. The smooth, thin materials with a dressed surface will be found to fall naturally into long straight lines and sharp angles. These folds throw sharply defined shadows with clean straight edges, and the actual painting processes will soften these just enough to obtain the suggestion of texture which is the test of a good painting.

137. All-over Patterns. (*Vol. V., p.* 147.) These sixteen examples show various methods by which all-over patterns may be produced. Units may be of various shapes such as the square, the diamond, the triangle, the parallelogram; or they may be entirely

free from any geometrical outline. In subject they may be purely geometric, or they may be based upon common objects—including the human figure—or upon natural objects such as flowers. In some cases they may be abstract forms which are unrelated either to common or natural objects.

They may be produced by outline drawing and painting, as in the case of those in the top row; by brush drawing as in the first two in the second row; by successive printings with linoleum stamps as in the third one in the second row; by printing with wooden sticks as in the last one of the second row and the first three in the third row, by stencilling as in the last one of the third row, or by printing from linoleum and wood blocks as in those of the fourth row. These latter prints are all carried out on fabric grounds, and the ast one of all is a particularly beautiful pattern based upon the honeysuckle which shows how continuity of line, and unity as a whole, may be obtained in the most intricate design.

The first eleven of these patterns are suitable for end-papers or box-covers, whilst the remaining five are intended for hangings and other printed fabrics.

138. Designing Greeting Cards from Sketches. *(Vol. V., p.* 144.) Sketches made by the children during the year can be utilised to make most attractive and original Greeting Cards. The examples offer numerous suggestions for variations in treatment and very interesting practice is afforded in pattern, design and lettering.

139. Designs for Book Covers. *(Vol. V., p.* 134.) Illustrations of pattern applied to the crafts. A

development of the groundwork covered in the first year, showing a great improvement in style and execution. All the different methods of pattern production should be kept in use in the approach to more advanced work, and the children should be led to endeavour to plan, and to select, patterns which are most suited to the particular purpose in hand. Edge-stencils, linoleum-cut units and pen-drawn patterns will be found to be the most suitable types for the major portion of the work.

The drawing and painting of natural objects may be utilised for the purpose of revising early lessons in conventionalisation. Line drawings or water-colour drawings may be used for devising fresh types of units. Formal units obtained in this way often provide interesting patterns of a kind particularly suitable for book crafts.

140. Water Colour Methods. (*Vol. V., p.* 115.) Examples of methods used in direct water-colour painting. Other methods such as the use of paste colour, stippling, etc., which are more within the scope of the professional artist, are not included as it is considered wiser to concentrate upon the straightforward technique of pure water-colour painting when teaching senior children, in view of the limited time which is available for this class of work.

Fig. 1 shows the three fundamental washes used in painting in water colours. Practice in applying these washes is usually the first stage in the teaching of the art.

The first one is the flat wash, the second is the graded wash and the third an exaggerated instance of the

broken colour or variegated wash. In this case the colours are run on irregularly, being allowed to merge together by light touches of the brush.

Fig. 2 shows the use of these three washes for a rapid impression of a simple scene at the seaside. Very little preliminary drawing is necessary, and the whole sketch is practically finished in one wash, only a few touches of stronger colour being required to finish it when the first washes are dry.

A careful preliminary pencil drawing is made for Fig. 3 which shows the first washes used for building up a landscape sketch. Warm colours and light tones are used throughout, so that a few small superimposed washes, followed by the accents of small cast shadows, will complete the sketch.

A finished sketch carried out in exactly the same way is shown in Fig 4.

The next example (Fig. 6) is done with a very large and fully charged brush on an absorbent ground such as cardboard. The board should be tinted grey or cream. As it is immediately absorbent, each wash or stroke must be absolutely direct in its application, and the colour retains its bloom and richness by being undisturbed.

Fig. 5 illustrates what is probably the best and easiest method for the children to adopt in the early efforts at imaginative illustration. The main parts are planned and a pencil sketch is made which includes only the main forms and lines. The colour washes are almost entirely in the flat, and they are of considerable intensity. The method is suitable for story illustrations and for small decorations such as those which appear on rhyme sheets in conjunction with lettering.

The last illustration is carried out entirely in body colour; i.e., colour which is entirely opaque but which is still water colour. It is a design for a landscape poster and represents the type of work up to which the cut paper designs should lead.

141. Science—1. (*Vol. VIII., p.* 493.)

THE ELECTRIC BELL. When the bell is pressed, an electric current supplied by the Leclanché cell passes through the circuit represented in red and energises the electro-magnet. The soft iron armature is pulled towards the magnet poles and so the hammer strikes the gong. The movement of the armature causes a break in the circuit at the contact screw and the electro-magnet is therefore switched off. The springy mounting returns the armature to its original position, the circuit is re-established and a second stroke begins.

THE ELECTRIC IRON. A heating element of nickel-chromium alloy wire mounted on mica is clamped within the iron to the upper side of the base. The two current-bearing cables from the mains are attached to the metal strips which form the termini of the element. The wire is arranged in the manner shown so that the heat generated is concentrated in a small space. When the current is switched on, the element glows red and heat is conducted through the iron base to the laundering surface.

THE VACUUM CLEANER. A small electric motor is coupled directly to an air fan and, through a rubber belt, to a beater consisting of bars and bristles.

The fan creates a partial vacuum in the neighbourhood of the carpet surface which is being treated and the beater disturbs grit and dust. Air rushing into the appliance carries the dirt from the carpet past the fan into the bag where it is retained. After having served as dust carrier, the air escapes through the pores in the bag fabric.

THE ELECTRIC CLOCK. An electro magnet with serrated pole pieces is energised by alternating current from the mains. Between the poles is a small iron rotor with teeth which correspond with those on the pole pieces. When given a start with the knob provided, the rotor continues to revolve steadily under the influence of the alternating attraction and repulsion of the magnet. A flywheel on the rotor shaft helps to steady the motion, and a gear wheel transmits the movement to the mechanism which actuates the hands.

THE TELEPHONE AND THE HUMAN EAR. Sound waves in the air strike the drum of the ear or telephone transmitter and cause this to vibrate. The external ear and the mouthpiece serve as collectors and guides of these sound waves. In the telephone transmitter the diaphragm movement compresses or releases carbon granules mounted in a cup immediately behind the drum. An electric current passing through the granules from the cup base to the diaphragm is influenced by the movement as the resistance of the transmitter depends on the state of the loosely packed carbon. This electric current carries the influence of the sound which is impinged on the diaphragm to a distant receiver.

The drum movement in the human ear is transmitted through a group of very small bones which may well be compared with the carbon granules of the telephone. Sensitive cells in the inner ear receive impressions from the stirrup bone and transform these into impulses which are communicated by nerve fibres to the brain.

142. Science—2. (*Vol. VIII., p.* 494)

THE SPRING BALANCE. A closely coiled spiral spring is fixed permanently at its upper end to the case of the balance. The lower extremity carries a sliding rod and hook to which the scale pan and load are attached. A pointer at the top of the sliding rod moves over graduations marked on the case. As the extension of a spring is proportional to the load stretching it, the weight of any object within the capacity of the spring balance can be read directly at the indicator.

THE GRANDFATHER CLOCK. A freely suspended pendulum consisting of a long bar and heavy bob has an anchor escapement fastened to it near the point of suspension. The escapement is set so that it permits the escape wheel with which it engages to move round one tooth for every swing of the pendulum. This action makes the clock keep time as a pendulum swings evenly at one definite rate.

In order to supply the energy necessary to keep the escape wheel turning and the pendulum swinging, a train of gears, a drum and a driving weight are provided. The weight pulls the drum round as it slowly descends, and the drum transmits the power through

the gearing. The pressure of the escape wheel teeth on the escapement is sufficient to keep the pendulum moving.

Shafts for driving the clock hands are connected to the gear train at appropriate points.

THE ELECTRIC LIFT. Cables working on pulleys connect the lift to a large balance weight which moves upwards as the lift goes down, and *vice versa.* This arrangement reduces very considerably the load applied to the driving motor.

Guides for both lift and balance weight are provided at the sides; spring buffers at the bottom reduce the shock caused by the lift striking the stops; an overhead electric motor unit supplies the necessary, drive, and freely hanging cables connect the controls in the lift to the driving apparatus.

THE CRANK. In steam engines and other similar mechanisms it is necessary to transform the up-and-down or backwards-and-forwards movement of a piston into steady rotation. The crank is the means by which this is accomplished. The illustration shows a piston coupled to a crank through a crosshead and connecting rod. Each stroke of the piston corresponds with half a revolution of the crankshaft. To carry the machine over the "dead points" at each end of the stroke when the piston is changing its direction of motion, a heavy flywheel is fitted on the shaft.

THE MOTOR CAR CLUTCH. When starting, stopping or changing gear in a motor car it is necessary to disengage the engine from the road wheels. A

clutch is provided for this purpose. The illustration shows a simple friction clutch mounted between the crankshaft of the engine and the gearbox driving shaft. A set of plates fastened firmly to the crankshaft interlaces with another set mounted on the combined housing and driving shaft unit. When power is being transmitted a strong spring presses the sets of plates firmly together so that the friction between the surfaces is very great. With the spring in action the plates act as though they formed one solid mass.

When the clutch pedal is depressed the spring loading is relieved so that the sets of plates may turn independently of each other. When the engine plates revolve without driving the housing, the clutch is said to be *slipping*. As the pedal is slowly released the friction between the plates increases, the engine takes up the drive gradually and the clutch ceases to slip.

THE CROW BAR. This is an example of a simple lever. A comparatively small force or effort acting a great distance from the fulcrum is able to raise a heavy weight close to the fulcrum. The force or effort moves much further than does the weight to which it is applied.

THE COAL TONGS. In this case a double lever is acting. The forces applied by the hand are nearer to the fulcrum than is the resistant piece of coal. The grip on the coal is therefore less than that actually applied. Everyday experience bears out this conclusion, for with tongs of this type it is very difficult to grip firmly a heavy lump.

THE NUTCRACKERS. This simple machine is like a pair of coal tongs working the wrong way round.

The nut is gripped between the lever arms near the fulcrum and the hand is applied at the free ends. As all levers which have the resistance nearer to the fulcrum than the force or effort give a *mechanical advantage,* the nutcrackers apply a force to the nut which is greater than that applied by the hand.

THE WHEELBARROW. Nutcrackers are a double lever. The wheelbarrow is a single lever of the same type. Like the nut, the weight in the barrow is nearer to the fulcrum than the effort. Consequently the lift applied to the barrow handles is less than the weight.

SCISSORS. Scissors are a double lever of the crow bar type, the resistance being on the opposite side of the fulcrum to the effort. As the material being cut is nearer to the pivot of the scissors than the fingers which are doing the work, a mechanical advantage is gained.

143. Science—3. (*Vol. VIII., p.* 495.)

TOWN WATER SUPPLY. The diagram shows how water in a low lying reservoir can be supplied at adequate pressure to town water mains. Power driven pumps at a sub-station take in water from the reservoir and lift it to a tank at the top of a water tower. A service pipe from this tank leads directly to the house taps and street hydrants. As the level of the water in the tank is considerably above that of each service point, water flows freely throughout the system.

THE BALL TAP. This apparatus is installed in tanks and cisterns in which a constant water level is to be maintained automatically. The ball float follows

any variation in level and operates the tap mechanism whenever the water drops below the desired position. A sliding cylinder with a soft washer at one end is linked to the ball float through a pivoted arm. When the float is raised the washer is pressed firmly against the washer seating and the water supply is cut off, but when it is lowered the cylinder slides outwards so that water may pass freely to the tap outlet.

THE VACUUM BRAKE. This device, fitted to railway trains, offers a reliable and effective means of applying simultaneously the brakes on the wheels of every coach. A pipe running the whole length of the train is coupled to a cylinder at each braking point. By means of a steam operated extractor on the engine, the pipe and cylinder system is evacuated. Under these conditions the piston in the cylinder drops to the bottom of its stroke and the brake is off. When air is admitted to the train pipe by the engine driver, the guard or by accident, the lower part of the cylinder fills and the piston rises because of the pressure acting upon it. The vacuum above the piston is retained as a valve prevents the passage of air to this chamber. The rising piston applies the brakes through a system of levers represented diagrammatically in the illustration.

A PUMP. During the downward stroke of the pump piston shown in Fig. 1, air escapes from the lower part of the pump barrel through the open valve *a*. When the upward stroke begins, Fig. 2, valve *a* closes because the pressure inside the barrel is now less than that outside. At the same time valve *b* opens to admit water forced into the barrel by the air pressing on the liquid

surface in the tank. The next stage, shown in Fig. 3, is similar to the first although now water and not air is escaping through the piston valve *a*. As the piston rises again, Fig. 4, water is lifted to the level of the spout where it overflows, whilst valve *b* admits more water to the barrel.

THE WATER TAP. A domestic water supply is carried in service pipes at high pressure and so the stream leaving a tap which is turned on fully has a very considerable speed. As water is incompressible, a serious strain would be thrown on the supply pipe if such a flow were abruptly interrupted, as the moving column would hammer against the pipe walls. It is in order to avoid water hammering that a screw-down washer and seating design has been adopted for household taps.

A plunger unit carrying a soft leather or composition washer controls the passage of water from the tap inlet to the outlet. A threaded spindle worked by an external handle determines the position of the plunger. When screwed to the bottom the spindle holds the washer firmly on its seating. A gland and packing in the upper part of the tap prevent leakage of water round the spindle. A few turns of the handle allow the plunger to rise and leave a clear water course, but from this *open* position it is impossible to snap the control suddenly to *closed*.

THE HYDRAULIC PRESS. A small hand-operated pump is shown taking water from a large reservoir through one valve and forcing it through another to a strong metallic container in the base of the press.

A large diameter plunger in this container carries a platform on its upper end and upon this rest the articles to be compressed. As the quantity of water in the container increases the platform rises until its contents are trapped against the top of the machine. The diameter of the hand pump piston is only small and so the increasing pressure in the liquid does not produce serious opposition to its movement. But the press plunger is very big and the total force upon it due to the water pressure becomes very great as pumping continues. Consequently, the material on the platform is subjected to powerful compression.

A weighted release valve which opens when the limit has been reached, and a screw-down outlet stop are included in the illustration.

THE MERCURY BAROMETER. This instrument measures air pressure and the figures on the dial indicate it in terms of inches of mercury. In the position illustrated the air pressure is capable of supporting a vertical column of mercury 28.8 inches in height, this being the figure registered on the dial and also the difference in height between the long column on the left and the short one on the right.

As there is no air in the enclosure marked *vacuum,* the balance between the two columns of mercury is due to the air pressure exerted at the open end of the short tube. If the air pressure decreases, the long column will fall a little and the short one will rise. A change in mercury level will move the weight which is floating on the open surface. As this is coupled to the pointer by a cord, pulley and balance weight arrangement, an appropriate change will be shown on the dial.

Descriptive words on the dial suggest in a general way the kind of weather to be expected for each section of the scale.

144. Science—4. (*Vol. VIII., p.* 496.)

BOILER OF LOCOMOTIVE. In order to facilitate transfer of heat from the burning fuel to the water in a locomotive boiler, many fire tubes pass through the boiler from the combustion chamber to the smoke box. Hot gases from the fire travel along the tubes and give their heat to the water. Steam from the boiler enters the cylinder after passing through a valve which is controlled by the engine driver. Exhaust steam leaves the locomotive via the smoke box and funnel. A safety valve provided at the top of the boiler acts as a safeguard against excessive steam pressure.

THE STEAM ENGINE. Two moving parts of a steam engine are represented—the piston and the slide valve. Three steam passages are shown. The two outer ones open into opposite ends of the cylinder and the centre one is the exhaust port leading to the open air. Red dots in the drawings represent high pressure steam supplied to the steam chest by the boiler. Red circles represent low pressure steam.

In Fig. A., the slide valve is pushed over to the left. Steam is entering the right hand end of the cylinder from the steam chest and is forcing the piston over to the left. Low pressure steam in the left hand end of the cylinder is being swept out through the exhaust port.

Fig. B shows the piston about to start its return stroke. The slide valve has moved over to its alternative position and so the right hand passage now opens into the exhaust port. High pressure steam entering the left hand end of the cylinder pushes the piston back along its path, and the spent steam on the right is cleared out. The slide valve changes its position at the end of every stroke so that the engine may act continuously.

THE GAS ENGINE. The engine crankshaft carries a heavy flywheel and is coupled to the piston by means of a connecting rod. Four cams, mounted on a common camshaft, are driven from the crankshaft through two pairs of bevel gears. The cams operate the air, gas and exhaust valve and the ignition slider.

In the position illustrated the gas and air valves are open and a charge of mixture is entering the cylinder as the piston moves out. As the piston returns up the cylinder on its next stroke the valves are closed and the mixture therefore becomes compressed. At the end of the stroke a cam raises the ignition slider, the flame ignites the compressed gases and the rapidly expanding burning mixture forces the piston down the cylinder. During the return movement, the exhaust valve is held open by its cam so that the products of combustion can be cleared out before a new charge of mixture is admitted on the following stroke.

As the engine develops power only on one stroke in every four, a flywheel is very necessary. This gives smoothness to the movement by storing energy and spreading the effect of the power stroke over the three idle strokes of the cycle.

THE FOUR STROKE MOTOR ENGINE. Two valves fitted in the cylinder head control the inlet and outlet ports and an electrically operated sparking plug provides the means of igniting the petrol and air mixture.

The first diagram shows a charge of petrol vapour and air being taken into the cylinder from the carburettor through the open inlet as the piston descends. The second shows this mixture being compressed by the rising piston. At the top of this stroke a spark occurs at the plug points and the gas fires. An early stage in the power stroke which follows the firing is illustrated in the third drawing. At the end of the power stroke the exhaust valve opens and the used gas is expelled. By the end of this stroke, shown in Fig. 4, the engine is ready to recommence its cycle.

The spring and cam mechanism which operates the poppet valves and the water jacket which keeps the cylinder at a reasonable working temperature are clearly illustrated.

145. Science—5. (*Vol. VIII., p.* 497.)

THE THERMOS FLASK. A double-walled glass bottle is supported on felt or cork pads inside a metal case. The enclosed surfaces of the bottle are silvered so that they will reflect and not transmit heat radiation falling upon them from the hot contents. The space between the walls is evacuated in the course of manufacture so that heat cannot escape by conduction. The pads, the silvered walls and the vacuum together keep down the heat loss to a remarkably low level.

THE ELECTRIC REFRIGERATOR. An electrically driven compressing pump forces a quantity of sulphur dioxide continuously through a closed circuit of pipes. The compressed gas leaving the pump passes through the condenser in which it cools to normal air temperature; the gas then liquefies owing to the pressure to which it is subjected. After passing through a regulator valve the liquid enters the evaporator where the pressure upon it is greatly reduced. The liquid vaporises rapidly, extracting heat from its surroundings as it does so. Foodstuffs stored near the evaporator in the refrigerator cupboard are therefore cooled. The gas produced by the evaporating liquid passes on to the pump to be compressed prior to starting the cycle again.

CENTRAL HEATING AND HOT WATER SUPPLY. Water in the boiler, on being heated, expands and rises, passing along the upper connecting pipe to the hot water cylinder. The hot stream flows upwards in the cylinder whilst cold water from the supply tank enters at the bottom and moves across to the boiler through the lower pipe. As a result of this circulation the water at the top of the cylinder becomes hot, although the temperature falls towards the bottom. The hot water taps are connected to the top of the cylinder so that the hottest water can be drawn off when required. From the same point pipes lead to the radiators. The cool water returns from these to an inlet situated a short distance down the cylinder. Owing to the difference in level between the radiator supply and return pipes in the cylinder a circulation is established.

The water movement through the boiler, cylinder and lower pipes is called the *primary circulation*. That through the radiators, cylinder and upper pipes is the *secondary circulation*.

THE MINER'S LAMP. Owing to the special design illustrated, the naked flame of this appliance is unable to ignite explosive gas existing in the atmosphere of the coal mine where the lamp is being used.

The fuel container and burner which form the lamp base are fastened to a short wide glass tube which serves as a window. A cylindrical metal gauze with suitable supports and projecting bars is mounted above the glass. Air passes freely through the gauze to feed the lamp flame and when the mine contains gas this also enters.

Both fuel and gas are able to burn inside the gauze, but no flame penetrates the mesh to ignite the gas outside, because the metal gauze rapidly conducts heat from points where it is concentrated and distributes it to the cool atmosphere so effectively, that nothing outside the lamp is able to attain the ignition temperature of the gas.

CHIMNEYS IN A HOUSE. Chimneys bend at one or more points in their course so that rain cannot beat directly on to the fire and so that the grate will not "smoke." It is therefore possible to have a number of fireplaces one above the other in a building as illustrated. Each grate is entirely independent of the others, and the chimneys bend inwards near the top to form a convenient group.

146. Science—6. (*Vol. VIII., p.* 498.)

THE PERISCOPE. Rays of light normally travel in straight lines and it is therefore impossible to see directly over tall obstacles or round corners, although by using a periscope which incorporates a reflecting system an indirect view can be obtained. In the simple instrument shown in the illustration, the rays of light from the scene over the wall are reflected down the hollow case by the upper mirror. A second mirror at the bottom turns the rays in a horizontal direction so that the observer may stand in a comfortable position. The red line on the drawing shows the path of a typical ray.

THE HUMAN EYE AND THE CAMERA. A *lens* is used in both the eye and the camera to produce a clear image of a scene on a sensitive surface. The camera has a glass lens and a sensitive surface of chemically treated gelatine on glass or celluloid. The eye contains a lens of a stiff clear jelly material and a sensitive surface of nerves. This surface in the eye is called the *retina* and it is linked to the brain by the *optic nerve.*

Each point on the object which is being seen or photographed sends out rays of light in all directions. Those rays which enter the eye or camera are bent by the lens so that they all meet at one point on the film or retina. As this occurs for every part of the object, a complete image is built up on the sensitive surface. The rays from the upper and lower parts of the object cross at the lens and the image is therefore inverted.

A device for controlling the aperture through which light is admitted exists in both eye and camera. In

the eye this iris or diaphragm works automatically, closing up when the light is bright and opening when it is dim. The effective diameter of the camera lens can be adjusted manually by a small lever which controls the iris. The word *iris* is usually applied to the diaphragm in the eye and *stop* to that in the camera.

Both the eye and the camera can be adjusted or *focused* to suit objects at different distances. The eye has a system of muscles which can alter the thickness of the lens by pulling at its periphery; these muscles hold the lens in the shape which corresponds with the distance of the object under examination. The camera has leather bellows which can be racked in or out to change the distance between the lens and the sensitive surface.

THE OPTICAL LANTERN. Light from a powerful lamp inside the body of the lantern is concentrated on to the glass slide carrying the picture by a reflector and a thick double lens of large diameter called the condenser An objective lens at the front of the instrument projects a greatly enlarged image of the brightly illuminated slide on to the screen

Apart from the special steps taken to illuminate the slide, the lantern works in a very similar manner to a camera although the image which it produces is larger than the object whilst that in a camera is smaller. The objective lens is mounted in a sliding tube on adjustable bellows so that its distance from the slide can be varied for focusing purposes. Like the camera, the optical lantern produces an inverted image. The slide is therefore inserted in its carrier the wrong way up so that the image may be formed correctly.

BINOCULARS. Two groups of lenses are fitted in each half of a pair of binoculars, and these groups have to be a considerable distance apart in order to produce the required enlarged image. For convenience in handling however it is essential that the whole instrument be kept down to small dimensions. The illustration shows how the necessary length is packed inside reasonably short tubes.

Light entering the instrument from a distant object passes through the objective lens and then down the tube. At the end it strikes a glass prism in which it is reflected twice internally so that it emerges and travels back along the tube by a path parallel to the original. Another double reflection occurring in the second prism directs the light towards the eyepiece lens through which it passes to the observer's eye. The red dotted line in the drawing represents the lengthy path along which the light travels inside the instrument.

147. Science—7. (*Vol. VIII., p.* 499).

OPTICAL ILLUSIONS. The eye usually transmits very reliable impulses to the brain and the brain usually interprets these accurately. The illustrations show interesting cases where the combination comes to grief! To see the illusions to the best advantage the card should be held at arm's length.

1. The sides of the square are perfectly straight although they appear to bow inwards.

2. At first the observer recognises the drawing as a view of some steps taken from above. Then it changes and appears as a view from underneath.

3. This appears at first to be a view looking down

on an oblong box, but this also changes to an upward view.

4. The two dotted circles are exactly the same size although the others near them make the sizes appear different.

5. The curved markings do not form a continuous spiral as might be supposed. By following them round it will be seen that they form circles.

6. The bold lines running across the circle are all parallel although they appear to converge in pairs.

7. The long sides of the four rectangles are all perfectly straight and parallel.

8. The horizontal lines between the rows of blocks are all parallel although they seem to be twisted to most peculiar shapes.

9. The two central circles are equal in size but the one on the right appears to be much larger than the other.

10. The two horizontal lines are the same length but the arrangement of arrow heads makes them appear different.

11. The blocks in this pattern appear at one time to be pointing downwards and at another to be pointing upwards.

148. Woodwork Joints—1. (*Vol. VIII., p.* 500).

BUTT HALVING. Used for extending the length of a member while retaining a flush surface, as in the case of a wall plate, rail or ridgepiece. The joint should always occur at the top of a post or stud so that it receives support from underneath, or on a wall, or other supporting rail. It is secured by either nailing, screwing, bolting, or by wooden pegs.

CORNER HALVING. The commonest joint connecting timbers at a right-angled corner, as in the case of the wall plate of a fixed structure. Usually nailed direct on to the top of the post. It may be used for rough frames, when it is dowelled with wooden pegs instead of being nailed.

TEE HALVING. A common joint for cross-members acting as struts for the purpose of holding other members parallel. It is not suitable for any case where an outward pull or thrust is exerted. Again, it requires underneath support owing to weakening of the lower member.

DOVETAIL HALVING JOINT. This is a strong joint for flush-faced framings, and is not affected by shrinkage to the same extent as the ordinary "Tee" halving joint. It may be used for ties, at various angles with connecting members, and in positions where tensional stress is exerted.

ANGLE DOVETAIL JOINT. The strongest joint for corner framing, where the face of the stuff meets the joint instead of the edge. A useful joint for the corners of side frames in portable buildings.

TEE BRIDLE JOINT. A good joint for all kinds of light framings, though not easier to make than the mortise and tenon joint. It may be used for members which meet at an angle other than the right angle.

To hold this joint securely, it is customary to insert a wooden pin or dowel, which may be round or square in section. This pin is put in in such a manner that it pulls the shoulders of the joint up tightly as it is

driven home, and this pull is ensured by boring the hole in the middle section of the joint a fraction nearer the shoulder than the holes in the outer sections. The method is known as "draw-boring," and is shown in the diagrams.

ANGLE BRIDLE JOINT. This joint is not at all easy to make, as it requires very accurate sawing to obtain a good fit without the jaws of the "bridle" member being forced open at the outside edge.

The joint is used for similar purposes to those mentioned above, for which the "Tee" bridle joint is suitable, including all kinds of flat framings which are not subjected to great stress in use.

THROUGH MORTISE AND TENON JOINT, SHOULDERED. Used in the framing-up of doors and other structures. Probably it is the commonest joint to be employed in the outdoor woodwork course.

STUB MORTISE AND TENON JOINT. A common variety of mortise and tenon in building construction where a wooden member has to be joined to one of stone, etc. It is used more for the purpose of keeping the former in position.

BARE-FACED MORTISE AND TENON JOINT. So called because it is shouldered only on one side. Used when it is required to place the tenon member out of centre on the leg or post to which it is joined, and when an extra strong tenon thickness is desired.

DOUBLE MORTISE AND TENON JOINT. In large and thick stuff used for heavier work a single

tenon would necessitate a mortise so large that the mortise member would be seriously weakened at one point. To avoid this, two separate mortises are used with a double tenon. In any case, this forms a much stronger joint than would be made by the single tenon alone.

MITRED SHOULDER. Two forms of the joint are shown, both of which require to be secured by nailing, and to be strengthened by glue blocks if possible.

MASON'S MITRE. To enable the full width of the stuff to be retained at the joint, and to avoid the scribing of the rail shoulder, the moulding may be stopped and mitred in the solid. The objection to this method is that the moulding cannot be cut with a plane on a short length, so that a scratch stock has to be used, and the mitres have to be finished by hand on the stiles.

SCRIBED JOINT. This form of joint is difficult for boys to attempt, but it is used very largely—in various forms—in the jointing of window frames and sashes.

CROSS HALVING. Used for two members crossing at any angle—or at approaching the right angle—but which have to be kept in the same plane. It is most suitable for vertically placed members such as rails or sills crossing braces or studs. It may be used for horizontal framings where the weight is not heavy, and when not subjected to sudden shocks.

CROSS DOVE-TAILED HALVING. Used as an occasional alternative to the plain cross halving to give

additional assurance of rigidity—also in case of probable shrinkage causing side play.

The dotted line in the diagram shows the second alternative by which both shoulders are dovetailed, but this is usually not necessary.

149. Woodwork Joints—2. (*Vol. VIII., p.* 501.)

PLAIN HOUSING. The whole of the end of one member is let in to the thickness of the other. Sills and rails may be jointed to upright members in this way.

"*Notched.*" When one member is housed into a wider member than itself, so that the groove in the latter is "stopped," the joint is often known as a notched joint. This occurs, for instance, at the join between the ends of ceiling joists and their supporting beams.

TONGUED JOINT. This term is usually applied to the variety of housing joint in which the two members meet at a corner, one of them being shouldered. It is used for light framings where both members are securely held by other means in addition, and where there is no sideways stress.

DOVETAILED, HOUSED OR TRENCHED JOINTS. Common to both cabinet work and light framings, but not very common, or ordinarily necessary, in outdoor work. Housing joints are used extensively in staircase work.

REBATED AND HOUSED JOINT. The shoulder across the end of the tongued member assists in obtain-

ing rigidity and in holding this member firmly at right angles to the other one.

SECRET MITRE DOVETAIL JOINT. This is the strongest joint which can be used to give a mitred edge view, with an unbroken surface on each face of the stuff right up to the corner.

The diagrams show the stages in marking-out and cutting the joint.

A common instance of its use is in the upper carcase joint at the side of a writing bureau, on which there is no moulded top edge.

It is the best joint to use in the groundwork for veneering, as there is no end grain left to be veneered over, and the plane surfaces that it gives are suitable for French polishing.

BUTT MITRED JOINT. The simplest form of mitred joint, but suitable only for temporary rough work of a light nature. It is secured by nailing. Glue blocks should be fitted inside the corner, if possible, to give more strength. An example of its use is shown below.

CROSS-TONGUED MITRED JOINT. In this case, two narrow grooves are cut at right angles to the face of the mitre, one on each piece, and for a depth of ¼ in. in light stuff, Fig. 27. A key of cross tongue is then prepared which is cut across the grain of the wood, and which is trimmed until it is a hand-tight fit in the grooves. The joint is secured by glueing the cross tongue into place, and cramping up.

This is a strong joint, suitable for plinth bases when reinforced by glue blocks in the angle of the joint.

SHOULDERED AND MITRED BUTT JOINTS. Two forms of the joint are shown, both of which require to be secured by nailing, and to be strengthened by glue blocks if possible.

REBATED ANGLE JOINT. Suitable for light and rough work, such as moulds for light concrete paving blocks, or for window boxes in wider stuff where a flush outer surface is necessary for fitting in a recess. Whilst not a strong joint, the shoulder prevents leakage due to poor fitting and adds considerably to the strength. The joint becomes sound for many purposes if the inside faces of the wood are given two coats of paint to render the job watertight and to give a protective finish.

REBATED AND BEADED JOINT. Used where a good fit is difficult or impossible to make, and where the members have to be assembled separately in position. Only used, however, where the prominence of the end grain does not matter.

150. Woodwork Joints—3. *(Vol. VIII., p. 502.)*

BIRD'S MOUTH JOINT. This joint is used in buildings of all types and sizes where the common rafters, carrying the roof, meet the wall plate.

Fig. 1 shows the form it takes when the roof is required to overhang the walls, as is customary in the case of a span roof with a centre ridgepiece. The portion to be cut from the common rafter is best marked out from a template which has been adjusted to the pitch of the roof. The joint is secured by nailing through the rafter into the wall plate.

Fig. 2 gives the alternative form of the joint, which is used when overhanging eaves are not desired. This reversed form allows the inner shoulder, coming against the edge of the wall plate, to take the outward thrust directly, and makes the joint a very strong one. This also is secured by nailing, as shown in the diagram.

In brick buildings, the wall plates should be bedded securely along the top of the walls, either by cementing them in or by carrying up the outside course to leave a bed along which they may lie. The general custom at the present day, however, is to place the wall plate on the outer course of the brickwork, thereby obtaining a great deal more air space over the whole area of the roof, and between it and the ceiling beneath.

In wooden buildings, the wall plate is provided by the top rail of the framing on each side.

RIDGE JOINT. At the head of the rafters, in the ordinary light span roof, the joint is formed by trimming the ends of the rafters to butt against the ridgepiece. The ridgepiece is shown by dotted lines.

The joint is secured by nailing at an angle through the ends of the rafters into the ridgepiece, and for additional strength, a cleat may be nailed across the rafters in the manner shown. This cleat is to receive the ridgepiece.

NOTCHED JOINT. If the distance between the ridge and the wall plate exceeds 8 ft., one or more purlins should be put in to support the common rafters. The purlins are supported by the end walls, and their real purpose is to take some of the weight of the roof,

which otherwise would tend to thrust out the side walls.

Purlins are seldom needed in small buildings except in the case of lean-to roofs. Note the notched joint which should be used between the rafters and the purlin on such roofs, or on other roofs which are steeper than the average pitch of $\frac{1}{4}$ to $\frac{1}{3}$ of the span.

JOINT FOR COLLAR-BEAM ROOFS. This type of roof is used for buildings which have a span of from 12 ft. to 18 ft. A shed or workshop having such a span might be needed for a special purpose, and therefore some necessary details are included here.

The collar-beam roof is really the same thing as the couple roof with the addition of a tie rail. This rail, known as a collar beam, converts each pair of opposite rafters into a light truss, resisting the spreading tendency of the heavier roof which follows upon the increase in width of span.

The dovetail joint used at the junction of the tie rail with the rafter is shown. The principle is that of the halving joint.

JOINT USED FOR BRACES, BRACKETS AND ROOF-MEMBERS. The joint called the tie-beam joint is a variation of the bridle joint which is used a great deal in light building work, particularly, as its name implies, in roof trusses, and also at the ends of braces or struts. Detail is shown on the right.

The square shoulder at the end of the brace makes the joint exceptionally strong for its purpose, which is to enable the brace to hold the outer framing rigid against any side thrust tending to "fold" the whole

framework. As it operates only against a thrust in one direction, it is customary to add a second brace sloping the other way. Details of arrangement vary in individual cases, but the commonest form of brace is one which is fitted diagonally between opposite corners of a rectangular framing.

The danger attaching to this joint, in which the ends of the brace are shouldered to fit in the angle of the framing, is that under pressure the brace tends to force open the corner joints of the framing.

This is avoided if the tie-beam joint is used, as the end of the brace does not bear into the corner but is some distance from it.

An alternative form of the same joint is shown in Fig. B in which a "stump" tenon is used, and this style is adopted for heavy material under stress. The mortise is shown by the side.

The commonest purpose to which the joint is put is for a bracket made to support a wide shelf, or a fairly heavy weight.

Brick walls must be plugged before brackets can be screwed home, and to do this the holes are made with a cold chisel. After each blow given by the hammer, the chisel is turned slightly in the hole so that it is continually rotating while the hole is being made. This movement prevents the chisel from becoming jammed or "wandering," and enables a clean, straight hole to be cut. The plug should be cut from straight-grained wood, and should *not* be smoothed up on its outside surface fitting in the hole. For heavy work, hardened plugs should be used, of such a size that they will just enter the hole cut to receive them, and slightly wedge-shaped in length. Careful attention should be

given to the plugging of walls, as any slackness may result in a bad accident when the plugs pull out, as they will do if they are not properly fitted. A useful application of the tie-beam joint is for various framings in which the inner vertical members or "studs" need bracing. The studs should be cut, fitted up to each brace and then nailed.

CASEMENT SASHES. The details of a simple window frame for a shed are given in the bottom and second row diagrams Two casement sashes are fitted, which open outwards from a centre member of the frame known as a mullion.

The diagram shows two methods of arranging the tenons at the ends of the jambs. In the first case (A), the tenon is barefaced on the inside of the jamb so that a shoulder may be left on the outside for sufficient width to allow the head and sill of the frame to be cleaned off flush with the jamb.

In the case of B, the width of the tenon is made from the full thickness of the jamb. This is made possible by leaving on the horns, as shown at the other end of the frame, so that there is plenty of strength beyond the mortises on the head and sill.

The mullion is rebated, or throated, on both sides, to allow the sashes to close in flush with the frame. They are then held by the ordinary casement catches.

The sash construction shown is of the standard type in which the rails and styles are made of rebated and moulded stuff having intervening sash bars. Instead of the moulding, a plain bevel may be substituted. Whatever the section through the rails, styles and sash bars may be, it is customary either to frank the ends

of the bars into the rails and styles or to scribe them, the former method being preferable. The crossing of the sash bars is carried out either as shown, by halving them; or by franking them with mortise and tenon joints, as in the next diagram. The latter method is the stronger, but the former ensures the two apparent halves of the cross bar being in a straight line.

There is a difference between these sash bars, and the glazing bars used in cabinet work. Sash bars are in one piece in section, and therefore they have to be jointed in the manner shown. The glazing bars, on the other hand, are built up, the rectangular spine being halved at the cross joins and tenoned into the rails and styles, after which the moulded section is planted on to it—being grooved along the back for this purpose—and mitred at the joins. The inside corners of the spine are strengthened by glueing in pieces of stout paper, linen or mull.

THE PUPILS' CLASS-BOOK OF ARITHMETIC.
By E. J. S. Lay.

BOOK V.	160 pp.	2*s.* 6*d.*
BOOK VI.	176 pp.	2*s.* 3*d.*
BOOK VII.	256 pp.	2*s.* 9*d.*

Exercises of a similar character for two divisions of a class are arranged throughout on opposite pages. The exercises for the Second Division are simpler and more direct than those for the First Division. This unique arrangement enables children of unequal mental capacity to proceed at their own rate.

THE PUPILS' CLASS-BOOK OF ENGLISH COMPOSITION. By E. J. S. Lay. *Illustrated.*

BOOK III.	144 pp.	2*s.* 0*d.*
BOOK IV.	160 pp.	2*s.* 0*d.*
BOOK V.	160 pp.	2*s.* 0*d.*

A Series of simple text-books specially adapted to enable the children habitually to do more for themselves. The following are the outstanding features:

(*a*) Written in plain, simple language.
(*b*) Abundance of highly interesting Exercises.
(*c*) Constant recapitulation.
(*d*) A Full Year's Course of Lessons, graded in difficulty.
(*e*) Each Book complete in itself.
(*f*) Poetical extracts, lists of troublesome words, simple line drawings, fascinating stories, etc., in each Book.
(*g*) A useful Glossary is included in each of the Books.

POETS AND POETRY. Arranged by E. J. S. Lay. *Illustrated.*

SECONDARY BOOK I.	70 poems.	1*s.* 9*d.*
SECONDARY BOOK II.	69 poems	1*s.* 9*d.*
SECONDARY BOOK III.	84 poems.	2*s.* 0*d.*

The poems are arranged in groups under certain subject headings, or with a common thought running through each group.